हिन्दी दलित कविता और मराठी दलित कविता
का तुलनात्मक अध्ययन और
दलित आंदोलन पर उनका प्रभाव

हिन्दी दलित कविता और मराठी दलित कविता का तुलनात्मक अध्ययन और दलित आंदोलन पर उनका प्रभाव

ओम प्रकाश वाल्मीकि

स्वर्ण जयंती श्रृंखला

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

प्रथम प्रकाशन 2015

© भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2015

सर्वाधिकार सुरक्षित। प्रकाशक की अनुमति के बिना इस पुस्तक का कोई भी भाग, किसी रूप अथवा किसी प्रकार से पुनः तैयार अथवा प्रसारित नहीं किया जायेगा।

ISBN: 978-93-82396-29-1

प्रकाशक
सचिव
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

टाइप सेटिंग
3 'ए' ग्राफिक्स
नई दिल्ली– 110005

मुद्रक
पर्ल ऑफसेट प्रेस प्रा.लि.
नई दिल्ली

विषय–सूची

आमुख ix

प्रस्तावना xi

दलित आंदोलन परिदृश्य और दलित साहित्य

1. अध्याय एक
   हिन्दी और मराठी कविता के
   इतिहास का पुनर्मूल्यांकन 1–44
2. अध्याय दो
   दलित कविता की अवधारणा 45–101
   - 'दलित' की परिभाषा 45
   - दलित साहित्य का नामकरण और उसका स्वरूप 54
   - दलित साहित्य का उद्‌भव 67
   - दलित कविता की अंतःचेतना 82
3. अध्याय तीन
   हिन्दी एवं मराठी दलित कविता की पृष्ठभूमि 103–165
   - दलित कविता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 103
   - नाथ, सिद्ध और संत कवियों की परम्परा 110
   - स्वतंत्रता पूर्व के दलित कवियों की कविता 128
   - अम्बेडकर विचार–दर्शन और दलित कविता 149
4. अध्याय चार
   हिन्दी और मराठी दलित कविता की प्रवृत्ति 167–234
   - सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण का विरोध 167
   - राजनीतिक, आर्थिक शोषण का विरोध 178
   - चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था का विरोध 187

- हिन्दू धर्म और संस्कृति से विद्रोह 196
- यथार्थवाद की पक्षधरता 209
- दलित जीवन के दग्ध अनुभवों का चित्रण 214
- समतावादी, मुक्ति–संघर्ष, आशावाद का समर्थन 220
- सामाजिक बदलाव की प्रतिबद्धता 224

5. अध्याय पांच
   हिन्दी और मराठी दलित कविता की
   शिल्पगत विशिष्टता 235–276
6. अध्याय छः
   हिन्दी और मराठी दलित कविता के सौंदर्यतत्व 277–309
   - दलित कविता की समाजशास्त्रीय भूमिका 289
   - अध्यात्मवाद और हिन्दू दर्शन का विरोध 298
   - नए प्रतिमान 301
7. अध्याय सात
   हिन्दी और मराठी कविता की उपलब्धियां
   और उसका विकास 311–321
8. अध्याय आठ
   दलित कविता का दलित आंदोलन पर प्रभाव 232–333

निष्कर्ष 347–352

प्रोफेसर पीटर रॉनल्ड डिसूजा को

आमुख

प्रसिद्ध साहित्यकार और दलित चिंतक ओम प्रकाश वाल्मीकि की दलित साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और एक विचारक, चिंतक, कवि, कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में जीवनपर्यन्त सक्रिय रहे। वह वर्ष 2012–13 के दौरान भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में अध्येता रहे। 17 नवंबर 2013 को अध्येताकाल के दौरान उनके असामायिक निधन से साहित्य जगत की अपार क्षति हुई है और संस्थान ने एक अध्ययनशील अध्येता खोया। प्रस्तुत पुस्तक ''हिन्दी दलित कविता और मराठी दलित कविता का तुलनात्मक अध्ययन और दलित आंदोलन पर प्रभाव'' उनके अध्येता काल में लिखी गयी। इस दौरान वह बीमार थे फिर भी उन्होंने यह कार्य पूरा किया जो उनकी कर्तव्यनिष्ठा का परिचायक है।

मुझे प्रसन्नता है कि संस्थान कई कठिनाईयों के बावजूद इस पुस्तक को पाठकों के समक्ष लाने में समर्थ रहा है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी दलित कविता और मराठी दलित कविता के तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में यह पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण कृति सिद्ध होगी। इस रचना–कर्म के दौरान संस्थान के तत्कालीन निदेशक प्रोफसर पीटर रॉनल्ड डिसूजा का ओम प्रकाश वाल्मीकि को पूर्ण सहयोग रहा। किसी लेखक की मरणोपरांत रचना के प्रकाशन में कई प्रकार की कठिनाईयां होती हैं। इस कार्य में भूतपूर्व अध्येता प्रोफेसर जयवंती डिमरी का सराहनीय योगदान रहा है। साथ ही मैं संस्थान के हिन्दी अनुवादक राजेश कुमार को भी पुस्तक टंकण कार्य में सहयोग देने के लिए साधुवाद देता हूं।

चेतन सिंह

निदेशक, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान

प्रस्तावना

दलित आंदोलन परिदृश्य और दलित साहित्य

1

अंग्रेजी के 'कम्पेरेटिव लिटरेचर' का हिन्दी में रूपांतरण 'तुलनात्मक साहित्य' प्रचलन में आया, लेकिन इसके अर्थ में अभी भी भ्रांतियां बनी हुई हैं। इन्द्रनाथ चौधुरी कहते हैं, 'तुलनात्मक साहित्य अंग्रेजी के 'कम्पेरेटिव लिटरेचर का हिन्दी अनुवाद है। एक स्वतंत्र विधा शाखा के रूप में विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इसके अध्ययन के कार्य को आजकल विशेष महत्व दिया जा रहा है। अंग्रेजी कवि मैथ्यू ऑर्नाल्ड ने सन 1848 में अपने एक पत्र में सबसे पहले ''कम्पेरेटिव लिटरेचर'' पद का प्रयोग किया था। (मैथ्यू आर्नल्ड के पत्र 1895,1,9 सं. जी.डब्ल्यू. ई. रसल)। परंतु प्रारम्भ में ही इसके शाब्दिक अर्थ को लेकर विवाद रहा, क्योंकि साहित्य यदि कहानीकार, कवि आदि की सृजनशील कलात्मक अभिव्यक्ति है, तो वह तुलनात्मक नहीं हो सकता। हमने आज तक ऐसा कोई कवि नहीं देखा जो तुलनात्मक कविता, कहानी या उपन्यास लिखता हो। साहित्य की प्रत्येक कृति अपने आप पूर्ण होती है, और साहित्य सृष्टि में कहीं दूसरे साहित्य के साथ तुलना की जरूरत नहीं होती। 'तुलनात्मक' शब्द साहित्य–सृष्टि के संदर्भ में प्रयोग नहीं लाया जा सकता'।[1]

'तुलनात्मक साहित्य' पद को चाहे कितना ही अस्वीकार किया गया हो, लेकिन यह पद अपनी निरंतरता में लोकप्रिय होकर

प्रचलन में आ गया जिसे अब परिवर्तित करना या संशोधित कर एक नया शब्द गढ़ना संभव नहीं लगता। जो इस अनुवादित शब्द को अस्वीकार करते हैं, वे भी कोई नया शब्द नहीं दे पाये हैं। और स्वंय भी इसी पद को स्वीकार कर लेने के लिए बाध्य हैं। यही स्थिति इन्द्रनाथ चौधुरी के साथ भी हुई कि उन्होंने इसे अस्वीकार तो किया लेकिन प्रयोग भी इसी पद का करते हैं। वे लिखते हैं – 'बंगाल या आंध्र अथवा महाराष्ट्र में रहने वाले लेखक एक ही हिन्दी भाषा में साहित्य रचना करते हैं, तो उनकी स्थानीय राजनीति तथा सामाजिक परिवेश से प्रभावित साहित्य में विषय–वस्तु, शैली तथा टोन में अंतर आ जाता है और उनका अध्ययन भी तुलनात्मक साहित्य की परिधि के अंतर्गत समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रसारित नाना साहित्यों के आश्रय से बहुभाषिक एक ही राष्ट्र की परिधि को पार कर दूसरे राष्ट्रों में प्रसारित विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्यों की सहायता से भी यह अध्ययन संभव है। अथवा विभिन्न राष्ट्रों अथवा प्रांतों में रहने वाले मगर एक ही भाषा में लिखने वाले रचनाकारों की कृतियों की सहायता से भी तुलनात्मक साहित्य का प्रसार संभव है। इसके अतिरिक्त उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता का सही रूप में विश्लेषण हो, तभी अध्ययन किसी विशेष दिशा में जा सकता है।

तुलनात्मक साहित्य का क्षेत्र अनुलंबीय ढंग से प्रसारित होता हुआ, ज्ञान के दूसरे क्षेत्र जैसे कला, दर्शन, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास तथा समाज विज्ञान आदि को भी अपने में समेटता है, अर्थात ज्ञान तथा प्रतीति के दूसरे क्षेत्रों के साथ साहित्य के संबंध का अध्ययन हो सकता है। [2]

इन्द्रनाथ चौधुरी यह निष्कर्ष भी देते हैं, 'भारत जैसे बहुभाषी देश की स्थिति को ध्यान में रखते हुए 'तुलनात्मक साहित्य' की परिभाषा यही हो सकती है कि 'तुलनात्मक साहित्य' विभिन्न साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन है। तथा साहित्य के साथ प्रतीति एवं ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों का भी तुलनात्मक अध्ययन है'।[3]

इन्द्रनाथ चौधुरी के इस निष्कर्ष के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि 'तुलनात्मक साहित्य' और तुलनात्मक अध्ययन दोनों का एक ही अर्थ है। इस तथ्य को डॉ. नगेन्द्र भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं – 'तुलनात्मक साहित्य जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, वास्तव में एक प्रकार का न्यूनपदीय प्रयोग है और साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन का वाचक है।'[4]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि इन दोनों पदों का अर्थ विद्वानों ने एक ही मान लिया है। मेरे अध्ययन का शीर्षक –'**fgUnh nfyr dfork vkj ejkBh nfyr dfork dk r|yukRed v/;;u vkj nfyr vkUnkyu ij mudk iHkko***' इस दृष्टि से उचित ही है। और 'तुलनात्मक अध्ययन' विषय के विस्तृत फ़लक से संबंध रखता है। इसके आधार पर विषय से संबंधित सभी अंगों को देखा–परखा जाता है। और यदि 'तुलनात्मक अध्ययन' की सीमाओं में मात्र साहित्य मात्र का ही अध्ययन किया जाता हो तो इससे साहित्य की सार्वभौमिक संकल्पना समझने–समझाने में सहायता मिलती है। साहित्य का सृजन अनेक भाषाओं में होता रहा है। भाषा भेद के कारण हम में अतराल बना हुआ है। इस अंतराल को दूर करने में 'तुलनात्मक अध्ययन' की भूमिका का अपना महत्व है। भाषाएं भिन्न होने पर भी भाषाओं में लिखे साहित्य में समानता है। यह समानता विषय–वस्तु और प्रयोजन को पहचानने पर ही ज्ञात हो सकती है। इस पहचान को बढ़ाने के लिए ही 'तुलनात्मक अध्ययन' की आवश्यकता है।[5]

भारत की प्रायः सभी भाषाओं में आज दलित साहित्य, जिसमें कविता का विशेष महत्व है, का सृजन हो रहा है। मराठी में दलित साहित्य का उद्‌भव और उसका प्रभाव दोनों ही ऐतिहासिक घटना है, जिसका प्रभाव समूचे भारतीय साहित्य पर पड़ा है। लेकिन सभी भाषाओं में केंद्रीय भाव और विचार एक ही है। विषय–वस्तु के रूप में मूल बात एक ही है। डॉ. अम्बेडकर से प्रेरणा लेकर साहित्य में जिस

विचार की प्रवृति सामने आई है, सभी भाषाओं में वह समान है। 'तुलनात्मक अध्ययन' व्यवस्थित रूप से हो और विषय के परिप्रेक्ष्य का ध्यान रखने वाला हो, दलित साहित्य और दलित कविता के भाव बोध और उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता का सही रूप में विश्लेषण हो, तभी अध्ययन किसी विशेष दिशा में जा सकता है।

सूर्यनारायण रणसुभे अपने लेख में यह सवाल उठाते हैं कि 'भारतीय साहित्य' किसे कहें। क्या 'भारतीय साहित्य की अलग पहचान है? क्या विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के परिचय में ही भारतीय साहित्य का परिचय है? भूतकाल में क्या इस प्रकार से उसकी अपनी स्वतंत्र हैसियत थी? भारतीय भाषाओं के विकास के पूर्व मतलब 9वीं शती के पूर्व, जो साहित्य उपलब्ध है क्या उसे 'भारतीय साहित्य' से अभिहित किया जा सकता है? और अगर किया जा सकता है तो क्या वह तत्कालीन समाज व्यवस्था का प्रतिनिधित्व कर सकता है?[6]

संस्कृत साहित्य की एक विशद परंपरा रही है, और उसके बाद जो प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य लिखा गया गया, इन दोनों में क्या अंतर था? और इसका तुलनात्मक अध्ययन कितना हुआ है? क्या प्रादेशिक भाषाओं का स्वर सिर्फ प्रादेशिक था या भारतीय? इस संदर्भ में डॉ. रणसुभे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करते हैं। वे कहते हैं, 'किसी भी प्रादेशिक भाषा के इतिहास की पुस्तक निकाल कर पढ़ें तो उसमें लिखा होता है कि इस भाषा का पहला उपन्यास इस काल में लिखा गया। आधुनिकता की शुरुआत इस वर्ष से हुई या इस कवि या लेखक ने की, इत्यादि–इत्यादि। परंतु इन आधुनिक विधाओं की शुरूआत किस भाषा में हुई, इसका लेखा–जोखा कहीं भी प्राप्त नहीं है। मजेदार बात देखिए कि हम पढ़ाते समय पहले यह बतलाते हैं कि यूरोप की किस भाषा में इस विधा की शुरूआत कब और किन हालात में हुई। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, स्वच्छंद कविता, नई कविता, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि किसी भी विधा की शुरूआत कब और कैसे हुई, इसका पता हमें यूरोपीय साहित्य देता है, परंतु भारतीय

स्तर पर इसकी शुरूआत कब और कैसे हुई , इसका कोई पता नहीं है। मतलब यूरोप खासकर अंग्रेजी साहित्य और उसके बाद सीधे अपनी प्रादेशिक भाषा में। इन दोनों के बीच जबरदस्त खाई है। यह खाई जब तक हम नहीं पाटेंगे, तब तक भारतीय साहित्य की बात हम नहीं कर सकते है।[7]

मेरे इस अध्ययन ने इस खाई पाटने की कोशिश की है। इस अध्ययन में जहां डॉ. अम्बेडकर मुक्ति–संघर्ष और मराठी दलित साहित्य की शुरुआत को रेखांकित करते हुए हिन्दी में दलित साहित्य कब और कैसे आया, को भी रेखांकित किया गया है। यही नहीं हिन्दी और मराठी में संतों द्वारा लिखे गए साहित्य की आंतरिक चेतना और उसके प्रभाव को भी अपने अध्ययन में शामिल किया गया है। हिन्दी के अछूतानन्द के सामाजिक आंदोलन और साहित्य में उनके हस्तक्षेप के उस कालखण्ड को भी समझने का प्रयत्न किया है। हिन्दी–मराठी कविता के तुलनात्मक अध्ययन से अनेक विसंगतियां स्पष्ट हो रही हैं जो साहित्य के इतिहास में अपनी सार्थक भूमिका स्थापित करेगी और दोनों भाषाओं के साहित्य में विद्यमान सामाजिक प्रतिबद्धता को भी समझने का अवसर प्रदान करेगी।

मैंने अपने इस तुलनात्मक अध्ययन में समन्वयात्मक पद्धति को आधार बनाया है। इसी लिए दोनों भाषाओं की दलित कविता को एक साथ जोड़कर देखा है। उनके अलग–अलग परिच्छेद नहीं बनाए हैं। दोनों भाषाओं की दलित कविता में जो समानता के रूप विद्यमान हैं, उन्हें विश्लेषण करने के साथ–साथ उनके मूल स्त्रोतों को भी देखने की कोशिश की है।

इस अध्ययन में मराठी की मूल कविता के साथ उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया है, ताकि उसे भी ठीक से देखा जा सके। मेरा यह अध्ययन हिन्दी–मराठी दलित कविता पर है। इसलिए इसमें अवतरणों की मात्रा स्वभाविक रूप से अधिक है। विशेष रूप से मराठी भाषी जब इस अध्ययन को देख कर इसकी तुलना करेगा तो उसके लिए मूल

कविता उपयोगी सिद्ध होगी। गैर मराठी के लिए हिन्दी अनुवाद रखना जरूरी लगा। दोनों भाषाओं की लिपि एक ही है, इसलिए यह मेरे लिए भी एक सुविधा थी। लेकिन कहीं–कहीं व्याकरण संबंधी अंतर होने के कारण कुछ कठिनाई भी आई।

तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ऐसी विशेषताएं उजागर होती हैं, जो सामान्य अध्ययन से संभव नहीं होती हैं। साथ ही भाषा और साहित्य का गहन संबंध भी स्थापित होता है। तुलनात्मक अध्ययन पूर्वाग्रहों से मुक्ति दिलाता है। और दो भाषाओं को परस्पर निकट लाने का प्रयास करता है। इसीलिए तुलनात्मक अध्ययन को मनुष्य के विचारों, भावों और सामाजिक चेतना का दर्पण भी कहा जाता है।

कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि तुलनात्मक पद्धति ही साहित्य विश्लेषण और अनुशीलन की श्रेष्ठ पद्धति है।

मेरे इस अध्ययन में जहां एक ओर हिन्दी मराठी दलित कविता के सौदर्यशास्त्र का मूल्यांकन करने का प्रयास किये गये हैं, वहीं समाजशास्त्रीय पद्धति को भी कविता के साथ जोड़कर देखा गया है। जिसमें पूर्वाग्रहों से बचकर आंतरिक अनुशासन प्रविधि को सामने रखकर विश्लेषण करने की कोशिश की गई है।

2

भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष और गांधी युग के दौरान जिस व्यापक सामाजिक परिवेश को साहित्यकारों ने रेखांकित किया, वहां दलित जीवन की दुर्गम स्थितियों का उल्लेख नहीं के बराबर है। यदि किसी रचनाकार का ध्यान इस ओर गया तो वह भी सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ ही हुआ है। समाज में बदलाव की प्रक्रिया तेज हो इस ओर साहित्य ने कदम नहीं बढ़ाए। यह वही कालखण्ड है जब डॉ. अम्बेडकर परिदृश्य पर उभरते हैं– महाड आंदोलन, गोलमेज सभा, पूना पैक्ट आदि के माध्यम से दलितों में एक नई दृष्टि का जन्म होता है और जिसके फलस्वरूप आगे चलकर दलित साहित्य का उद्‌भव

होता है। इसी ने सामाजिक परिवेश में सुगबुगाहट पैदा की और सम्पूर्ण रचनाशीलता को आंदोलित किया। दलित साहित्य में सामाजिक बदलाव की जो छटपटाहट दिखाई दी वह इसी कालखण्ड की देन है, जिसका अध्ययन एक नई इतिहास दृष्टि को जन्म देगा। यह एक सजग सामाजिक चेतना है जो तुलनात्मक अध्ययन से हिन्दी और मराठी परिवेश की अंतःचेतना को भी अभिव्यक्त करती है। तुलनात्मक अध्ययन मेरे लिए एक संवाद का माध्यम भी बना है, जिसमें डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा को अलग–अलग परिवेश में किस तरह ग्रहण किया गया, यह दलित कवियों की अभिव्यक्ति में साफतौर से देखा जा सकता है।

डॉ. अम्बेडकर गांधीवाद से सहमत नहीं थे और न ही साम्यवाद से। उनकी अपनी धारणाएं और मान्यताएं थीं कि भारतीय समाज व्यवस्था का आधार वर्ग भेद नहीं बल्कि वर्णभेद और जातिवाद है। इसी भेद के कारण आर्थिक विषमताएं बढ़ी हैं। हिन्दू धर्म की आचार संहिता में दलितों को विकास और उनके मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया था। परिणामस्वरूप सदियों से शूद्र वर्ण, जिसका एक बड़ा हिस्सा अस्पृश्य समाज है, जिस पर सामाजिक दासता लादी गई और यह समाज केवल आर्थिक शोषण का ही नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण का भी शिकार बन गया।

डॉ. नवल किशोर लिखते हैं, ''उच्चत्तर साहित्य का जन्म ही मानवीय संवेदनशीलता से होता है। अतः एक संकल्पित लेखक प्रायः ही अपने को प्रभुवर्ग के आतंक और अत्याचार के विरोध में खड़ा पाता है और उसका लेखन अंततः एक राजनीतिक हस्तक्षेप बन जाता है। इसलिए आज का श्रेष्ठ भारतीय लेखन अपनी प्रकृति में राजनीतिक है। ऐसी स्थिति में एक भारतीय आलोचक का सबसे अहम काम हो जाता है– समकालीन भारतीय साहित्य की राजनीतिक पक्षधरता विगत में प्रायः विचारवादी निष्ठाओं में पर्यवसित होती रही है और विचारवादी निष्ठा साहित्य में प्रतिबंधन का एजेंट बनती रही है तथा

सौंदर्याभिरूचि को जड़ीभूत करती रही है। अतः अब भारतीय आलोचक को मतवादी प्रतिबद्धता से मुक्त होकर मानववादी प्रतिबद्धता को अपना प्रस्थान बिन्दु बनाना होगा।[8]

इस अध्ययन को और अधिक विस्तृत रूप से समझने के लिए दलित आंदोलन को लेकर अभी भी विद्वानों के मन में कई तरह के विचार विद्यमान हैं। ये विचार दलित और गैर दलित विद्वानों के निष्कर्षों को प्रभावित करते हैं। 'दलित' शब्द से जाने गए समूह की संख्या भारत में 16 से 17 प्रतिशत है। इनमें कुछ तो आज भी पारंपरिक कार्यों से जुड़े हैं – जैसे मरे जानवर उठाना, चमड़ा उतारना, मैला ढोना, सफाई करना आदि। लेकिन इनकी एक बड़ी संख्या मजदूरी से जुड़ी हुई है। खेतीहर मजदूर के रूप में लगभग 48 प्रतिशत दलित आज भी अपनी जीविका चला रहे हैं। भारत के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में दलित निवास करते हैं। उत्तरी पूर्वी सीमांत के जनजातीय क्षेत्रों में इनकी संख्या कम है। किसी विशिष्ट जिले या तालुक में ये बहुल संख्या में निवास नहीं करते हैं। जीविका के लिए ये एक जगह से दूसरी जगह पलायन भी करते रहे हैं।

हिन्दू चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था से बाहर होने के कारण ये हिन्दू वर्ण–व्यवस्था का हिस्सा कभी नहीं रहे। लेकिन पिछले पांच हजार सालों में समाज में इनकी उपस्थिति रही है और अलग–अलग कालखण्डों में इन्हें विभिन्न नामों से जाना जाता रहा है। चाण्डाल, डोम, श्वपच, अंत्यज, अतिशूद्र, नामोशूद्र, पंचम, पेरिया, हरिजन, अनुसूचित जाति आदि के नामों से धार्मिक ग्रंथों, साहित्यिक कृतियों, धर्मसूत्रों, संहिताओं, कौटिल्य अर्थशास्त्र, पुराणों आदि में इनका उल्लेख मिलता है। इन्हें समाज के सबसे निचले पायदान पर रखे जाने के प्रमाण भी मिलते हैं। साथ ही हिन्दू समाज में इनके प्रति अस्पृश्यता का भाव प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा है, और इनका स्पर्श, इनकी छाया, यहां तक कि इनकी आवाज भी हिन्दुओं को अपवित्र करती रही है। भले ही स्वतंत्रता के बाद इन्हें संवैधानिक

संरक्षण दिया गया और अस्पृश्यता को दूर करने के लिए कानून का प्रावधान किया गया, लेकिन वस्तुस्थिति आज भी वही पुरातन पंथी सोच विचार की है। अनेक जगहों पर सार्वजनिक तालाबों, स्थानों, मंदिर प्रवेश, सामूहिक भोज, स्कूलों में दिये जाने वाले 'मिड डे' मील में दलित बच्चों को अलग पंक्तियों में बैठाना आदि में उनका निषेध जारी है। और अस्पृश्यता का यह कलंक इन्हें आज भी भोगना पड़ता है। यह स्थिति सिर्फ ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है। शहरी शिक्षित समाज में भी जारी है। पंचायती राज भी इस निषेध पर चुप्पी साध लेता है। अनेक दलित सरपंच स्त्री व पुरुषों को राष्ट्रीय ध्वज फहराने से रोका जाना जैसे कृत्य किसी से छिपे नहीं हैं। ऐसे वक्त प्रशासन, पुलिस भी निष्क्रिय हो जाती है।

इन स्थितियों के विरोध में दलित समुदाय ने लगातार संघर्ष किया है, आंदोलन किये हैं, लेकिन आंदोलनों, संघर्षों पर राष्ट्रीय मीडिया ही नहीं क्षेत्रीय मीडिया भी चुप्पी साध लेता है और उनकी आवाज चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था से उपजी मानसिकता पर बलि चढ़ जाती है। घनश्याम शाह कहते हैं,– 'लगभग दलित या अनुसूचित जातियों की सामाजिक आर्थिक दशाओं पर बहुत सारे अध्ययन हुए हैं। महाराष्ट्र में महार लोगों के आंदोलनों को बहुधा एक अखिल भारतीय आंदोलन के रूप में प्रक्षेपित किया जाता है। यह सही है कि डॉ. अम्बेडकर महार जाति के थे और वे एक अखिल भारतीय नेता थे। ब्रिटिश लोगों और सवर्ण हिन्दुओं से समझौता करते हुए उन्होंने देश के सभी दलितों का प्रतिनिधित्व किया था (बर्रे, 1986)। किन्तु महाराष्ट्र के बाहर अनुसूचित जातियों के लामबंदीकरण में उनकी भूमिका का अभी ठीक से प्रलेखन नहीं हुआ है। देश के विभिन्न भागों, उपनिवेश अवधि में हुए अनुसूचित जातियों के विभिन्न आंदोलनों का कोई सम्पूर्ण अध्ययन या चयनिका भी उपलब्ध नहीं है जो इन आंदोलनों की सूचना दे सके। दो आलेख, एक गेल ओमवेट और भारत पाटनकर (1979) और दूसरा घनश्याम शाह, भारत में हुए दलित मुक्ति आंदोलन या

अस्पृश्यता विरोधी आंदोलनों को विहंगम दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। पहला आलेख उपनिवेशी काल का चित्रण करता है, जबकि दूसरे आलेख में उपनिवेशी और उत्तर उपनिवेशी कालों का विवरण दिया गया है। अनुसूचित जातियों का विवेचन करने वाली अनेक पुस्तकों में किसी विशिष्ट क्षेत्र या देश की ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में हरिजन (अनेक विद्वान आज भी इस शब्द का प्रयोग दलितों के लिए करते हैं, जबकि दलितों ने इस शब्द का हमेशा विरोध किया है, उन्हें यह शब्द अपमानजनक लगता है) आंदोलनों पर एक अध्याय अवश्य दिया गया। चूंकि ये अध्ययन मूल रूप में आंदोलनों से संबंधित हैं और जो तथ्य इनमें दिए गए हैं, वे अपूर्ण हैं, यद्यपि उपयोगी हैं, उनमें से कुछ उल्लेख किए जाने योग्य हैं (वेरबा, अहमद और भट्ट, 1972), उनके द्वारा काले और हरिजनों का किया गया अध्ययन अमेरिका और भारत के उन समुदायों के आंदोलनों का एक तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। जहां तक हरिजन आंदोलन का प्रश्न है, यह अध्ययन मुख्यतः डॉ. अम्बेडकर के महाराष्ट्र के आंदोलन तक सीमित है। [9]

घनश्याम शाह जिसे हरिजन आंदोलन कह रहे हैं, दरअसल यहां यह भी कहना होगा कि डॉ. अम्बेडकर ने अपने आंदोलन को कभी भी 'हरिजन' शब्द नहीं दिया। यह शब्द गांधी द्वारा 1933 में दलितों के लिए दिया गया था, जिसे दलितों ने कभी भी स्वीकार नहीं किया, बल्कि लगातार इसका विरोध होता रहा था। अछूतानंद ने जो कि गांधी और अम्बेडकर के समकालीन थे, और उत्तर भारत में 'आदि हिन्दू' नाम से आंदोलन चला रहे थे; उन्होंने अपनी कविताओं, भाषणों में 'हरिजन' शब्द का विरोध व्यापक स्तर पर किया। इस आंदोलन और विरोध को अनदेखा करने की प्रवृत्ति विद्वानों में दिखाई देती है।

यह प्रवृत्ति साहित्य में भी विद्यमान है। हिन्दी के चर्चित कवि नागार्जुन अपनी प्रसिद्ध कविता 'हरिजन गाथा' में इस शब्द का बार–बार प्रयोग करते हैं। जबकि वे दलित शब्द से अच्छी तरह

परिचित हैं, फिर भी हरिजन शब्द से उनका मोह छिपा नहीं है। इस तथ्य को जानते हुए भी कि दलित इस शब्द को अपने लिए एक गाली मानते हैं जो समूचे दलित समाज के लिए अपमान बोधक है।

दलित आंदोलन में लगातार चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था का विरोध, अस्पृश्यता का विरोध होता रहा है। उत्तर भारत से लेकर दक्षिण तक गुजरात से लेकर बंगाल तक यह प्रत्येक दलित आंदोलन में दिखाई देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दलित आंदोलन में आर्थिक समस्याओं, मजदूर समस्याओं को नहीं उठाया गया है। ये मुद्दे भी दलित आंदोलन का हिस्सा रहे हैं। दलित आंदोलनों में आरक्षण को लेकर भी लगातार आंदोलन होते रहे हैं चाहे वे सरकारी नौकरियों के पदों के लिए हों या राजनीतिक पदों के लिए। प्राइवेट सेक्टर में आरक्षण का मुद्दा भी दलित आंदोलनों ने जोर–शोर से उठाया है।

घनश्याम शाह इन आंदोलनों को दो वर्गों में विभाजित करके देखते हैं। पहला सुधारवादी, दूसरा वैकल्पिक आंदोलन। सुधारवादी आंदोलन अस्पृश्यता की समस्या का समाधान करने के लिए, जाति–व्यवस्था में सुधार लाने के प्रयास हेतु किए गए। वैकल्पिक आंदोलन किसी अन्य धर्म–परिवर्तन या शिक्षा, आर्थिक परिस्थिति और राजनीतिक शक्ति हासिल करने के द्वारा एक वैकल्पिक सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना के प्रयास से संबंधित रहे हैं। दोनों प्रकार के आंदोलन अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक साधनों का प्रयोग करते हैं। सुधारवादी आंदोलनों को घनश्याम शाह पुनः तीन प्रकार में विभाजित करते हैं– 1. भक्ति आंदोलन, 2. नव वैदांतिक आंदोलन, 3. संस्कृतिकरण संबंधी आंदोलन। उसी प्रकार वैकल्पिक आंदोलन को भी वे दो रूपों– 1. धर्म परिवर्तन संबंधी आंदोलन, 2. धार्मिक या पंथ निरपेक्ष आंदोलन में विभाजित करके देखते है।[10]

दूसरे प्रकार के आंदोलनों में आर्थिक मुद्दों को भी शामिल किया

गया है। दलित अस्मिता और विचारधारा के संदर्भ में घनश्याम शाह दलित आंदोलन को नए ढंग से विश्लेषित करने के लिए फिर से चार भागों में विभक्त करके देखते है–

1. सांस्कृतिक एकता आंदोलन
2. प्रतिस्पर्धा विचारधारा और गैर–हिन्दू पहचान
3. बौद्धवादी दलित
4. प्रति विचारधारा और दलित अस्मिता

वहीं गेल ओमवेट और भारत पाटनकर दलित आंदोलनों को दो भागों में विभक्त करके देखते हैं – जाति आधारित और वर्ग आधारित।[11]

सुधा पेई का मानना है, '1990 के दशक में चुनावों में बढ़ती हुई राजनीतिक सहभागिता और उत्तर प्रदेश में बी.एस.पी. की बहुत कुछ राजनीतिक सफलता ने कुछ अध्येताओं को उनके लामबंदीकरण को दलितों के एक नव राजनीतिक आंदोलन के रूप में मानने के लिए प्रेरित किया है।[12]

जोतिबा फुले (1826–1890) महाराष्ट्र की माली जाति में जनमे थे। उनके अनुयायी दलित भी थे। शूद्र जातियां, जिन्हें आज 'पिछड़े वर्ग' के नाम से जाना जाता है, वे सब जोतिबा फुले के आंदोलन में शामिल थे। उन्होंने समाज–सुधार के कार्यों की पहल लड़कियों और अस्पृश्य बालकों के लिए स्कूल खोलने से की थी। सन 1875 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की और अपनी तार्किकता, धार्मिक अनुष्ठानों में ब्राह्मण पुरोहितों के बहिष्कार और शिक्षण पर जोर दिया।

जोतिबा फुले का मानना था, 'ब्राह्मण सचमुच भारतीय–यूरोपीय विजेताओं के वशंज थे, लेकिन श्रेष्ठ होने की बजाए वे क्रूर तथा हिंसक आक्रमणकारी थे, जिन्होंने मूल रूप से एक उन्नतिशील तथा समतावादी समाज को हर एक प्रकार के छल–कपट तथा हिंसा का सहारा लेकर उलट दिया। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसी मिथ श्रृंखला गढ़ी–जो दूसरे

मिथकों की तुलना में कहीं अधिक बुरी थी। क्योंकि सिद्धांततः यह असमानता पर आधारित थी। उन्होंने विजित जनों को अपने शास्त्र पढ़ने से भी रोका। [13]

गेल ओमवेट लिखती हैं, 'आर्य नस्ल के पारंपरिक सिद्धांत को उलट कर फुले ब्राह्मणवाद तथा जाति–व्यवस्था की अपनी आलोचना को आमजन के बीच ले गए। उन्होंने इसका इस्तेमाल मूल रूप से पौराणिक मिथक शास्त्रों की पुनर्व्याख्या के लिए किया। इसमें उन्होंने विष्णु के विभिन्न अवतारों को, भारत विजय के विभिन्न चरणों के रूप में देखा और राक्षसों को आम जनता के नायक रूप में वर्णित किया। वीर नायक बलि राजा के चरित्र को उन्होंने पुनर्व्याख्या के केन्द्र में रखा। फुले द्वारा प्रस्तुतियों के पुनर्निर्माण में बलि राजा को महाराष्ट्र का मूल राजा बताया, जिसने परोपकारी, जातिविहीन तथा उन्नतशील आदर्श राज्य पर शासन किया। उन्होंने क्षेत्र के जनप्रिय देवता जैसे– कांडोबा, जोतिबा, नायक बाभुदी को बलि राजा के अधिकारियों के रूप में दिखाया। पुराण में वर्णित वह कथा, जिसमें बालक वामन को बलि राजा से तीन वरदान मांगने के बाद, बलि छाती पर चढ़ कर उसे नर्क भेज देने का वर्णन है, को फुले ने आक्रमणकारी आर्यों द्वारा कपटपूर्ण विजय की कहानी बताया है। इस पुनर्व्याख्या में क्षेत्रीय जनप्रिय संस्कृति की जबरदस्त छाप है। क्योंकि महाराष्ट्र में (जैसा कि दक्षिण भारत के अन्य भागों, विशेषतया केरल में) बलि को सचमुच एक लोकप्रिय किसान राजा के रूप में देखा जाता है तथा उनका यह रूप मराठी कहावत– 'इडा, पीड़ा जवों, बालिका राजी येवों, (अर्थात दुःख तकलीफें जाएं, बलि का राज्य आए) में जीवित है। उसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में जो लोकप्रिय धार्मिक त्यौहार हैं, वे अवैदिक देवताओं पर केन्द्रित मेले हैं। जिनमें से सभी केन्द्र में गैर–ब्राह्मण श्रोताओं के बड़े वर्ग तक पहुंचाया'।[14]

मंगुराम, अछूतानंद, भाग्यरेड्डी वर्मा तथा किसन जी बंसोड़े (नागपुर) अम्बेडकर से थोड़ा पहले की पीढ़ी के थे। उन्होंने एक नए

आंदोलन का प्रतिनिधित्व किया तथा उनके संगठन का मुख्य आधार ग्रामीण अछूतों में आई प्रगति थी। उनकी कोशिशें सुधारवादी हिन्दुओं से तथा हिन्दुवादी सिद्धांतों की स्वीकृति से जुड़ी थी। बाद में दलित नेताओं का एक वर्ग हिन्दू महासभा में शामिल हो गया था।

आर्य समाज ने दलितों के लिए कुछ शैक्षणिक और कल्याणकारी योजनाओं की शुरूआत की थी। सतीश शर्मा ने एक विस्तृत अध्ययन किया था जो पंजाब तक सीमित था। लेकिन उनके निष्कर्ष देश के अन्य भागों पर ही सही प्रतीत होते हैं। सतीश शर्मा कहते हैं कि 'आर्य समाज अस्पृश्यों के राजनीतिक आंदोलनों के खिलाफ था। इस संस्था ने अस्पृश्यों द्वारा अपनी एकजुटता और एकता के प्रदर्शन करने के जो नए प्रयास किए उनका विरोध किया गया।[15]

आर्य समाज का पूरा जोर दलितों को हिन्दू धर्म से जोड़े रखने पर था। वे इस्लाम या ईसाई धर्म की ओर न जाएं इसके लिए वे निरंतर प्रयासरत रहे। शूद्र जातियों और दलित जातियों के साथ वैदिक मिथकों को जोड़ने की एक मुहिम भी आर्य समाज ने चलाई थी, जिसका प्रभाव पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश में आज भी दिखाई देता है।

घनश्याम शाह की मान्यता है –नव–वैदांतिक आंदोलनों और गैर–ब्राह्मण आंदोलनों ने देश के कुछ भागों में जाति विरोधी या हिन्दू धर्म विरोधी दलित आंदोलनों को जन्म देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। महाराष्ट्र और तमिलनाडु में 'सत्यशोधक समाज' और 'आत्म सम्मान' आंदोलन, बंगाल में 'आदिधर्म' और 'आंध्र प्रदेश' में आदि–आंध्र आंदोलन और उत्तर प्रदेश में 'आदि हिन्दू' आंदोलन कुछ महत्त्वपूर्ण अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन हैं, जो उन्नीसवीं सदी के अंतिम चौथाई वर्षों में और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में शुरू किए गए थे। पंजाब के 'आदि–धर्म' आंदोलन के अतिरिक्त अधिकांश आंदोलनों पर उत्प्रेरक अध्ययन उपलब्ध नहीं है।[16]

पंजाब में सन 1920 के दशक में 'आदि–धर्म' आंदोलन अस्पृश्यता

विरोधी आंदोलन भर नहीं था। इस आंदोलन ने दलितों में एकजुट होने की भावना मजबूत की थी। इस आंदोलन ने इस बात पर जोर दिया था कि अस्पृश्य कही जाने वाली जातियां ही इस देश की मूल निवासी है, जो आर्यों के भारत आने से पहले भी यहां मौजूद थी। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में 'आदि–हिन्दू' आंदोलनों का उदय हुआ था, जिसे अछूतानंद चला रहे थे। उन्होंने भी इस बात पर बल दिया कि हिन्दू धर्म का वर्तमान स्वरूप आर्य हमलावरों ने 'अस्पृश्य' कही जाने वाली जातियों पर लादा। 'आदि–हिन्दू' आंदोलन के नेताओं की यह मान्यता थी कि हिन्दू धर्म का वर्तमान स्वरूप आर्य हमलावरों द्वारा उन पर थोपा गया है।

नंदिनी गोप्तु अपने अध्ययन में यह सिद्ध करने की कोशिश करती हैं कि इस आंदोलन ने जाति व्यवस्था के समक्ष कोई प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न नहीं किया। सार रूप में यह आंदोलन अस्पृश्यों को आर्य हिन्दू न बताकर उन्हें 'हल्की' भूमिकाएं और कार्य देने के खिलाफ यह विद्रोह प्रकट करने के रूप में देखा गया। यह जाति–व्यवस्था पर पूरी ताकत से किया गया एक प्रत्यक्ष प्रहार नहीं था।[17]

ऐसा ही एक आंदोलन 'सतनामी पंथ' उभरा, जिसका प्रभाव उत्तरी भारत के कई भागों में दिखाई देता है। छत्तीसगढ़ का सतनामी समुदाय अस्पृश्यों में समानता लाने के लिए किया गया आंदोलन था जिसके सुधारवादी दृष्टिकोण में धार्मिक, सामाजिक क्षेत्र में बराबरी का अधिकार दलितों को मिले, इसी पर जोर था। छत्तीसगढ़ में इसके प्रवर्तक गुरू घासी दास ने हिन्दू देवी–देवताओं की मूर्तियों को उठाकर कचरे में फेंक देने का आंदोलन किया था और जाति–व्यवस्था को पूरी तरह से अस्वीकार किया था। गत सौ वर्षों में इस आंदोलन के संगठनात्मक ढांचे और विचारधारा में काफी परिवर्तन आया है। एक लंबी अवधि में यह हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था की मुख्य धारा का हिस्सा बन गया है। घासीदास ने जिन

मुख्य ब्राह्मणवादी प्रतीकों को नकारा था, वे बीसवीं शताब्दी के सतनामी पंथ के हिस्सा बन गए थे।[18]

अनेक विद्वानों की मान्यता है कि इन दलित आंदोलनों में अस्पृश्यों का एक हिस्सा जो अपने व्यवसाय को छोड़कर या उसे ही बनाए रखते हुए अपनी आर्थिक दशाओं में सुधार ला सकता था, उसने जाति पदानुक्रम (hierarchy) में अपनी स्थिति को ऊंचा करने के लिए आंदोलन की शुरुआत की। इन लोगों ने सांस्कृतिक मानदंडों और कर्मकाण्डों को अंगीकार कर लिया और जाति पदानुक्रम में ऊंची सामाजिक स्थिति का दावा उपयुक्त नए मिथकों के आविष्कार के द्वारा किया। किन्तु, सभी अस्पृश्य जातियां नागरिक निर्योग्यता जो पारंपरिक रूप से उन पर थोपी गई थी, को हटाने में सफल नहीं हो सकी। व्यावहारिक रूप में निवास स्थानों पर अभी भी इनके साथ अस्पृश्यों की तरह ही व्यवहार किया जाता है।[19]

किन्तु तमिलनाडु के शानरों और नाडारों ने अस्पृश्यता की सीमा रेखा को लांघ दिया है। केरल के इरावा (इझावा) लोगों ने अस्पृश्यता की सीमा रेखा को चाहे पूरी तरह समाप्त न किया हो, फिर भी उन्होंने इस रेखा को घूमिल कर दिया। नाड़ार लोगों ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में नागरिक निर्योग्यताओं, जिससे वे त्रस्त थे, के खिलाफ आंदोलन किए। इन लोगों ने 1930 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में जस्टिस पार्टी और बाद में कांग्रेस पार्टी का समर्थन कर राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश किया। ये लोग कर्मकाण्डिय पदानुक्रम के निचले स्तर से 'परिस्थिति और शक्ति' के स्तर तक पहुंचे।[20]

इसी प्रकार इरावा लोगों ने 1930 में अपनी जाति का एक संगठन एस.एन.डी.पी. योगम के नाम से बनाया। इस संगठन के अनुसार इरावाओं की निम्न सामाजिक स्थिति का कारण उनकी सामाजिक और धार्मिक प्रथाएं हैं। वे लोग ऊंची जातियां बनकर दूसरे लोगों के समकक्ष समानता प्राप्त कर सकते हैं।

दिलीप मेनन लिखते हैं, ''इस विचार की अभिव्यक्ति पूजा के

क्षेत्र में इझावा मंदिरों की स्थापना, जिसमें ब्राह्मणवादी देवों की ईश्वर के रूप में उपासना के द्वारा हुई। एक समतावादी समाज में प्रवेश के लिए साझा पूजा को आधार बनाया गया। दूसरे एस.एन.डी.पी. योगम ने इझावा समुदाय में आत्म–सम्मान की रचना हेतु आर्थिक ताकत को मजबूत करने और सब–सहायता की नैतिकता का प्रभावशाली ढंग से प्रचार किया।''[21]

'इन लोगों ने मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह किए जो आज भी चालू हैं। हालांकि इस आंदोलन की जड़ें मुख्यतः महाराष्ट्र में तैयार की गई हैं। फिर भी यह देश के विभिन्न भागों में फैल गया और एक अखिल भारतीय स्वरूप के साथ उभरा। सन 1920 के दशक में महारों ने अस्पृश्यता के विरुद्ध एक असफल सत्याग्रह किया। अम्बेडकर ने अस्पृश्यों की प्रगति की संभावनाओं को राजनीतिक साधनों के प्रयोग में देखा। उनका विचार था कि इनके प्रयोग द्वारा ही आधुनिक समाज में उच्च वर्गो के साथ सामाजिक और आर्थिक समता को प्राप्त किया जा सकता है।'[22]

डॉ. अम्बेडकर ने 'पंथ निरपेक्ष (मबनसंत)' आधार पर 'स्वतंत्र श्रमिक दल' (आई.पी.एल.) का गठन किया, जिसका उद्देश्य श्रमिक वर्गों के हितों की रक्षा करना था। यद्यपि यह दल सभी जातियों के श्रमिकों के लिए खुला था, फिर भी इसमें महार जाति के लोगों का वर्चस्व था। यह दल अधिक प्रभाव नहीं डाल सका। एलिनोर जेलियट का यह मानना है कि 'उनके राजनीतिक आंदोलन ने धार्मिक अधिकारों के दावे के प्रयासों को कुचल दिया, वर्ग और श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने के प्रयास में असफल हो गए और यह संगठन बहुत कुछ रूप में एक ऐसी जाति समिति के रूप में परिवर्तित हो गया जो राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करता था।'[23]

'बाद में, डॉ. अम्बेडकर ने चुनाव लड़ने और अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा करने हेतु 1954 में 'अनुसूचित जाति संघ' बनाया। उनके ये हित नौकरियों में आरक्षण और राजनीतिक पदों तक सीमित थे।'[24]

इसके दायरे को विस्तृत करने के उद्देश्य से, जिसमें अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़ी जातियों को भी सम्मिलित किया गया, बाद में इसे ही 1956 में, 'रिपब्लिक पार्टी' के रूप में बदल दिया गया।

1930 में दलितों ने पृथक निर्वाचन की मांग की थी जिसके कारण डॉ. अम्बेडकर और गांधी में संघर्ष उत्पन्न हो गया था। गांधी यह मानते थे कि अस्पृश्यता की समस्या एक राजनीतिक मुद्दा है। दलित यह अनुभव करते रहे हैं कि 'पूना–पैक्ट' राजनीतिक रूप में उनके साथ धोखा हुआ है। उन्होंने 1946 में पृथक निर्वाचन–मण्डल के लिए पूना, नागपुर, लखनऊ और कानपुर में राज्य विधान सभाओं के सामने बड़े स्तर पर सत्याग्रह किए थे।[25]

3

डॉ. अम्बेडकर ने सन 1930 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में यह निर्णय लिया कि दलितों की स्थिति में सुधार करने के लिए एक मात्र तरीका हिन्दू धर्म का त्याग करना है। उन्होंने अपने जाति भाईयों से यह अपील की कि 'तुम्हें अपने धर्म के अलावा कुछ नहीं खोना है।' सन् 1950 के दशक की शुरुआत में उन्होंने यह अनुभव किया कि दलितों के लिए बौद्ध धर्म ही एक 'वैकल्पिक धर्म' के रूप में सर्वाधिक उपयुक्त है। यही एक मात्र उनका मुक्तिदाता है। उन्होंने बौद्ध धर्म को इन कारणों से पसंद किया कि 'यह समता का एक देशी भारतीय धर्म है, एक ऐसा धर्म जो जाति–विरोधी और ब्राह्मण विरोधी है' (लिंच, 1972, कांबले, 1979)। डॉ. अम्बेडकर और काफी संख्या में उनके अनुयायियों ने मुख्यतः महार जाति ने 14 अक्तूबर 1956 को नागपुर दीक्षा भूमि में बौद्ध धर्म अपना लिया था।

'धर्मातरण का अर्थ यह नहीं था कि दलित समाज यकायक मानवीय अधिकार एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का हकदार बन गया। डॉ. अम्बेडकर हिन्दू मानसिकता में परिवर्तन चाहते थे और साथ ही जाति

व्यवस्था का निर्मूलन भी। समता, स्वाधीनता, बंधुता और सामाजिक न्याय आदि मूल्यों पर आधारित बौद्ध धर्म के प्रसार के द्वारा वे यह कार्य, जो उनका सही जीवित कार्य था, पूरा करना चाहते थे। लेकिन धर्मांतरण की ऐतिहासिक घटना के कुल डेढ़ माह बाद ही (6 दिसंबर, 1956) डॉ. अम्बेडकर का महापरिनिर्वाण हुआ। कुछ समय तक दलित समाज बिना नेतृत्व के कारण दिशाहीन हो गया था। डॉ. अम्बेडकर के शीर्षस्थ अनुयायियों में नेतृत्व होड़ शुरू हो गई थी। डॉ. अम्बेडकर के कार्यों को पूरा करने के प्रयास के बदले ये शीर्षस्थ नेता राजनीतिक आकांक्षाओं से प्रेरित होने लगे। इसके परिणाम स्वरूप डॉ. अम्बेडकर के विचारों एवं धर्मांतरण की ऐतिहासिक घटना से प्रभावित तथा प्रेरित दलित समाज की नवशिक्षित युवा पीढ़ी संतप्त होने लगी और इस संतप्त युवा पीढ़ी ने डॉ. अम्बेडकर के कार्य को पूरा करने की प्रतिबद्धता स्वतः स्फूर्ति से स्वीकार की। उनका संताप दोहरा था। एक ओर जिस वर्ण–व्यवस्था ने उन पर सदियों की सामाजिक दासता लादी थी, उस वर्ण–व्यवस्था से संतप्त थे और दूसरी ओर अपने ही समाज के राजकीय आकांक्षा से प्रेरित नेताओं से भी। इसी संतप्त मनोदशा में सदियों से कौंधता रहा आक्रोश फूटने लगा। व्यथा, वेदना, वंचना एवं विद्रोह की तीखी भावनाएं व्यक्त होने लगी। अभिव्यक्ति का यह विस्फोट, 1960 के बाद शुरू हुआ जो दलित साहित्य की एक धारा का मूलस्त्रोत था।'[26]

विल्किल्सन लिखते हैं, 'इस धर्म परिवर्तन ने उनकी सामाजिक और व्यावसायिक जिंदगी में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया। हालांकि वे बौद्ध धर्म में परिवर्तित हो जाने के बाद अधिक उग्र बन गए। इनमें से कुछ लोगों ने ईसाई और इस्लाम धर्म भी अपना लिया। फिर भी, बौद्ध धर्म परिवर्तन ने इनमें दलित चेतना का विस्तार किया, चाहे वे बौद्ध बने अथवा नहीं।'[27]

सन 1972 के दशक में महाराष्ट्र में दलित पैंथर का उदय हुआ। प्रारंभ में यह शहरी क्षेत्रों तक सीमित रहा है। लेकिन बाद में यह शहर

की सीमाओं से बाहर ग्रामीण क्षेत्रों में भी अपना प्रभाव छोड़ने में सफल रहा। साथ ही गुजरात, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश और अन्य राज्यों में भी फैल गया। इसमें कवि, लेखकों, विचारकों ओर बुद्धिजीवियों ने अहम भूमिका निभाई।

दलित पैंथर आंदोलन सामंती और ब्राह्मण संस्कृति की निंदा करता है और उसे त्यागता है। और शोषित वर्गों हेतु एक वैकल्पिक सामाजिक–सांस्कृतिक पहचान बनाने का प्रयास करता है। यह संगठन अनुसूचित जातियों के प्रति किए गए अन्यायों के विरुद्ध प्रदर्शनों को संगठित करता है। फिर भी उनके अधिकांश, कार्यकलाप, मौलिक साहित्य, जैसे कविताएं, कहानियां, नाटकों के प्रकाशन अपने विचारों का प्रचार करने का एक माध्यम थे। इस साहित्य का हिन्दू बौद्धिक परंपरा, हिन्दू धर्म और हिन्दू नैतिकता के खिलाफ विरोध के एक साधन के रूप में प्रयोग किया गया।

'दलित पहचान का दावा दलित आंदोलन का लगभग एक केंद्रीय मुद्दा बन गया। यह भेदभाव और अत्याचारों के खिलाफ स्थानिक स्तर पर सामूहिक कार्रवाई की मांग करता है। डॉ. अम्बेडकर की प्रतिमाएं न केवल नगरीय दलित बस्तियों में अपितु उन कई गावों में भी पाई जाती हैं, जहां इन लोगों की संख्या अच्छी मात्रा में है। दलित यद्यपि बहुत गरीब हैं, अपनी बस्तियों में अम्बेडकर की प्रतिमा लगाने के लिए बड़े उत्साह से मुक्त हस्त से योगदान देते हैं। ये लोग प्रतिमा लगाने के लिए स्थानीय अधिकारियों से जमीन प्राप्त करने हेतु संघर्ष करते हैं। कहा जाता है कि दलित पेंथर संगठन के राधेलाल बौद्ध ने 1980 के दशक में कहा था कि अम्बेडकर की प्रतिमा स्थापित कर दलित अम्बेडकरवादी प्रतिमा विज्ञान का प्रचार कर सकते हैं जो एक प्रकार की अखिल भारतीय बहुजन 'काल्पनिक समुदाय' के विचार को जन्म देगी। इसके अलावा वे इस पर अपना हक भी जता सकेंगे।'[28]

डॉ. अम्बेडकर की प्रतिमाएं और चित्र दलित चेतना और उसकी

पहचान के दावे की अभिव्यक्ति है। एलनॉर जेलियट अम्बेडकर की समर्थवान छवि का बड़े ही सजीव ढंग से वर्णन करती है। इस एक प्रतीक अथवा प्रतिमा या चित्र का अर्थ बी.आर. अम्बेडकर के जीवन और कार्यों से उत्पन्न होता है। उनकी छवि हमेशा पश्चिमी सूट, सफेद कमीज, लाल टाई, जेब में पेन और हाथ में पुस्तक बनी होती है। यह छवि सामान्यतः शिक्षा देने या साहस और समता का संदेश की घोषणा को एक खड़े हाथ द्वारा प्रकट करती है। शिक्षा, सफलता, भारत के राजनीतिक विश्व के प्रति योगदान ,साहस, सरकार के साथ संबंध द्वारा सशक्तिकरण, हम में से एक , जो न केवल व्यक्तिगत रूप में महत्त्वपूर्ण था अपितु भारत के लिए भी महत्त्वपूर्ण था। इन सभी बातों का प्रतिनिधित्व उनकी छवि के द्वारा होता है। अम्बेडकर के हाथ में जो पुस्तक है, वह संविधान है और संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उनकी भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रतीकात्मक महत्त्व की बन गई है। वे किसी विशिष्ट जाति के नहीं हैं। वे सम्पूर्ण भारत के हैं।'[29]

'दलित राजनीति को लड़ाकू संगठनों यथा पैंथर गुटों में विभाजित रिपब्लिकन पार्टी, बहुजन समाज पार्टी की रैलियों या निम्न जातियों के नक्सल संगठनों द्वारा किए जा रहे विद्रोह के रूप में देखना अपर्याप्त होगा। ब्राह्मण वर्चस्व के प्रति चुनौती के रूप में दलित राजनीति ने 1970 तथा 1980 के दशकों में वृहद रूप धारण किया। इस राजनीति द्वारा उठाए गए मुद्दे पिछड़ी जातियों (अर्थात पारंपरिक वर्णाश्रम के अंतर्गत शूद्र) किसानों, स्त्रियों और जनजातियों के आंदोलनों को प्रेरित करते रहे हैं। विशेष रूप से दलित पैंथर की स्थापना वर्ष 1972 को दलित आंदोलन के नए चरण के आरंभिक वर्ष के रूप में देखने से पता चलता है कि वह वर्ष कई अन्य नए सामाजिक आंदोलनों के लिए निर्णायक रहा है। अहमदाबाद में 'सेवा' की स्थापना से लेकर टिहरी–गढ़वाल के हिमालयी तलहटी क्षेत्र में एक नए पर्यावरण आंदोलन के उभार तक, पंजाब तथा तमिलनाडु में

किसानों के संगठित आंदोलनों तक। लेकिन हिन्दू राष्ट्रवादी शक्तियां भारतीय संस्कृति पर अपना वर्चस्व स्थापित करने तथा उसे एक विशेष रंग देने का जो प्रयास कर रही थीं, उसके विरुद्ध ये आंदोलन उस प्रकार का प्रत्यक्ष विरोध नहीं कर पाए, जैसा दलित आंदोलन कर रहे थे।'[30]

ऐसे कई स्थानीय आंदोलन हैं, जिनमें सामूहिक रूप में दलित भेदभाव और अत्याचारों के खिलाफ प्रर्दशन करने के लिए अपने गांव से पलायन करते हैं। 1980 के दशक में पांच घटनाएं हुई। देसाई और महेरियान (2000) ने ऐसे एक छोटे स्तर के आंदोलन का उल्लेख किया है। सांबरदा गांव के दलितों ने मारपीट और यंत्रणा के खिलाफ सन 1989 में एक इसी प्रकार का प्रदर्शन 'हिजरत' किया था। यह शरणार्थियों के रूप में अपने गांव से सामूहिक रूप से पलायन था। इन लोगों ने 1989 में 131 दिनों तक जिलाधीश के कार्यालय के सामने खुले आकाश में धरना दिया था। उनकी मांग वैकल्पिक आश्वासन की थी, जहां उनका जीवन और सम्मान सुरक्षित रह सके। उन्होंने घोषणा की – 'हम लोग किसी भी हालत में सांबरदा गांव लौटना नहीं चाहते, चाहे सरकार हमें किसी भी प्रकार की गारंटी और सुरक्षा क्यों न दे। हम नहीं जानते कि हमें दया का पात्र बनाया जाए। हमारी खुशहाली हमारे कठोर श्रम का परिणाम है। हमारे पास खुद के पक्के मकान हैं। हमारे कई व्यक्ति नियोजित हैं। फिर भी, जैसे ही गांव में घुसते हैं, हम गुलाम बन जाते हैं। हमारे साथ तभी न्याय होगा जब सरकार हमारी संपत्ति का आकलन करके, किसी अन्य स्थान पर हमें जमीन देकर हमें बसाने में सहायता करती है। हम दया नहीं , आत्मसम्मान चाहते हैं। अपना आत्मसम्मान पुनः पाना हमारा संवैधानिक अधिकार है।'[31]

'यह मात्र एक विरोध प्रदर्शन नहीं था। ये लोग कोई ठोस समाधान अर्थात अपने सम्मान की सुरक्षा के लिए वैकल्पिक जमीन चाहते थे। सभी प्रकार की कठिनाईयों और शासक, श्रेष्ठीजन (elite)

और निहित स्वार्थों के बीच सांठ–गांठ होते हुए भी अंततः ये लोग अपने मिशन में सफल हुए।'[32]

मार्क जुरगेंसमेयर ने 'आदि–धर्म' के अपने अध्ययन में संगठनात्मक संरचना तथा अस्पृश्यों के विभिन्न धड़ों को संगठित करने में इनकी भूमिका का सुव्यवस्थित लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं– 'अनुसूचित जातियों के अधिकांश सदस्यों के लिए, जिन्होंने इसमें भाग लिया, आदि–धर्म एक पूर्णतः असाधारण प्रकार का एक संघ है। उनके लिए एक ऐसे बंद और संकीर्ण समाज जिसे वे हमेशा से जानते रहे हैं, से यह पूर्णतः उलटा अनुभव था। इसने उन लोगों में आशाओं का संचार करने के साथ–साथ उसके लिए प्रतिनिष्ठा भी उत्पन्न की। किन्तु इसमें एक बड़ा भारी दोष था। जहां तक इसकी वैचारिक दृष्टि का प्रश्न था, यह एकजुट आवाम की बात करता था, किन्तु संगठनात्मक वास्तविकता ने शिक्षित प्रगतिशील नेतृत्व और अशिक्षित पांरपरिक अनुसरणकर्ताओं के बीच जालंधर, होशियारपुर और लायलपुर क्षेत्रों के चमार तथा चूहड़ा जातियों के बीच इसने तीखे मतभेद के साक्ष्य प्रस्तुत किए है। संगठनात्मक ढांचा शुरुआती वर्षों से इतना मजबूत था कि उसने इन मतभेदों को उजागर नहीं होने दिया, किन्तु कुछ समय बाद तनाव बढ़ गए और संदिग्ध 'एकता' टूटने के कगार पर जा पहुंची।'[33]

पंजाब में 'आदि–धर्म' आंदोलन के नेता मंगुराम के आंदोलन का विश्लेषण करते हुए मार्क जुरगेंसमेयर लिखते हैं, 'मंगुराम एक अशांत और महत्त्वकांक्षी, सामाजिक रूप से संवेदनशील और राजनीतिक रूप से चतुर व्यक्ति थे। कोई भी व्यक्ति उन्हें धार्मिक, निश्चय ही धर्मनिष्ठ नहीं कह सकता। फिर भी उनमें कुछ ऐसी असंभाव्यता थी, जिनके कारण उन्होंने एक धार्मिक आंदोलन की शुरुआत और नेतृत्व किया। मंगुराम ने अपने आपको न तो अवतार और न ही गुरु माना, किन्तु धार्मिकता के प्रति किसी प्रकार के ढोंग, प्रदर्शन के न होते हुए भी, उन्होंने धार्मिक भूमिका पूरी तरह संपादित की।'[34]

कंवल भारती लिखते हैं, 'भारत में दलित आंदोलन का एक लंबा

इतिहास है। अनेक संत–महात्मा और समाज सुधारक इस क्षेत्र में अपनी भूमिका निभा रहे हैं परन्तु यह भूमिका सिर्फ अपीलों और विरोधों तक सीमित रही। इस आंदोलन को सीधी लड़ाई से जोड़ने की पहली भूमिका मुख्यतः डॉ. अम्बेडकर ने निभाई। उन्होंने दो सत्याग्रह किए। एक महाड का जल–सत्याग्रह और दूसरा नासिक धर्म–सत्याग्रह। सत्याग्रह गांधी का अस्त्र था, जिसे वह ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ उपयोग में लाते थे। डॉ. अम्बेडकर ने इसी अस्त्र का प्रयोग हिन्दू सत्ता के खिलाफ उपयोग किया। महाड में चावदार तालाब एक सार्वजनिक तालाब था। परंतु दलितों को उसका पानी पीने का अधिकार नहीं था। डॉ. अम्बेडकर ने 19–20 मार्च 1927 को एक विशाल दलित महासम्मेलन महाड में किया। वह दलितों का पहला सम्मेलन था, जिसने दलित मुक्ति के नए इतिहास की आधारशिला रखी थी। डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में हजारों दलितों ने तालाब मार्च किया और तालाब का पानी पिया। किन्तु यह समाचार फैलते ही कि अछूतों ने चावदार तालाब को अपवित्र कर दिया, सैंकड़ों हिन्दुओं ने सत्याग्रही अछूतों पर हमला बोल दिया। औरतें, बूढे और बच्चे तक उनकी हिंसा का शिकार हुए। चावदार के पानी से दलितों को स्वर्ग नहीं मिलना था, पर मानव अधिकार का प्रश्न था। यह सत्याग्रह कर डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को उनकी सामजिक हैसियत का बोध कराया था और उन पर थोपी गई निर्योग्यताओं के विरुद्ध लड़ाई लड़ने का साहस पैदा किया था। बाद में 20 सितंबर, 1927 को महाड में ही डॉ. अम्बेडकर ने भारी जनसभा के बीच 'मनुस्मृति' को जलाकर शास्त्रों की पवित्रता में लोगों के विश्वास को तोड़ा था। यह महान सामाजिक क्रांति थी, जिसने बुद्ध के बाद, पहली बार भारत में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व को शब्द दिए थे। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने फ्रांस की राज्य क्रांति से इसकी तुलना की थी।'[35]

कंवल भारती यह भी लिखते हैं, 'धर्म–सत्याग्रह डॉ. अम्बेडकर ने नासिक में कालराम मंदिर में दलितों के प्रवेश के अधिकार के लिए

आरंभ किया था। 2 मार्च 1930 को गांधी ने अपना सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ किया था। ठीक उसी दिन डॉ. अम्बेडकर ने नासिक में हजारों अछूतों को लेकर कालाराम मंदिर की ओर कूच किया था। गांधी आंदोलन ब्रिटिश निरंकुशता के खिलाफ था। गांधी के आंदोलन का दमन अंग्रेजी शासन ने किया तो डॉ. अम्बेडकर के धर्म–सत्याग्रह को सवर्ण हिन्दुओं ने सत्याग्रही अछूतों पर हमला कर कुचल दिया। फलतः मंदिर प्रबंधकों ने एक वर्ष के लिए मंदिर के कपाट बंद कर दिए थे।'[36]

इन ऐतिहासिक घटनाओं ने दलितों में एक नई चेतना का विस्फोट किया जिसकी आंच दलित कविताओं में महसूस की जा सकती है। हिन्दी दलित कवियित्री हेमलता महीश्वरी की कविता *** l ek/kku*** में यह गूंज आज भी सुनी जा सकती है–

जाना था अर्थ/समता का
वह आवाज थी/एक पुकार
और
अपने पैरों में पड़ी अटूट बेड़ी
मैंने तोड़ दी थी उसी दिन
चवदार तालाब का पानी छूकर
अपना पानी
बनाने निकली थी।
जाना था अर्थ/स्वतंत्रता का जब
हजारों लोगों की/मूक व्यथा का
गवाह बना खड़ा रहा
कालाराम मंदिर/और जान लिया था
ईश्वर का रहस्य
मिट्टी रही मिट्टी/और/पत्थर रहे पत्थर ही
रुक न सका रक्त प्रवाह/उस पत्थर को

धोने के लिए/रथ चलाने की/थी जहां अदम्य चाह
हां तोड़ दी/उसी दिन दिमागी गुलामी अपनी
जलाई थी जब/मनुस्मृति
जाना था अर्थ/बंधुता का जब
धर्मांतरण के दिन/भारी सभा में/खचाखच
निकाल फैंकी थी मैने/अपने हाथों की चूड़ियां
गले का मंगल सूत्र/मैं तुम्हारी/और तुम मेरे
हो गए हमराह
समता/स्वतंत्रता/बंधुता की राह पर।[37]

मराठी दलित कविता में यह स्वर गहरी अनुभूतियों के साथ उभर कर आया और महाड आंदोलन दलितों के भीतर गहन चेतना जगाने में सफल रहा है। सुखराम हिरवले की इन पंक्तियों में दलित कविता की अभिव्यक्त जीवंत हो उठती है–

कोटी–कोटी
आंजली भरून आणल्या
महाड तल याचा घाण्याने।
प्यास
तृप्त झाली युगा युगाच्य
बंदीवाना तहांलेली तहान।
एक महान युद्ध घडले
महाडच्या रणक्षेत्रावर।[38]

अर्थात
(कोटी–कोटी अंजुलियां भर–भर
लाए महाड चावदार तालाब का पानी
तृप्त हुई युग–युग बंदियों की प्यास

महाड रणक्षेत्र पर एक महान युद्ध
लड़ा गया।)

डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–आंदोलन ने दलितों को आत्म संघर्ष के लिए जागरूक किया है। दलित कवि अपनी प्रतिबद्धता के साथ जीवन की अनुभूतियों को संवेदनाओं और सरोकारों के साथ जोड़कर देखता है। बजरंग बिहारी तिवारी का कथन है –'आत्म संघर्ष किसी के लिए प्रीतिकर अनुभव नहीं होता। एक कवि के लिए तो बिल्कुल नहीं। इसीलिए कि यह प्रक्रिया उसके भीतर मंद मंथर गति से घटित होती है, सुलगती हुई गीली लकड़ी की तरह। इसमें दलित कवि के आगे एक मुश्किल और है, उसके पास बाहरी विकल्प इतने होते हैं कि वह चाह कर भी भीतर झांक नहीं पाता। ऐसी परिस्थिति में वह बने बनाए तर्कों और सर्व ज्ञात अभियोगों के सहारे कविता तैयार कर देता है। 'एकसापन' से मुक्ति दलित कविता के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। ऐसे कवियों की भीड़ में ओम प्रकाश वाल्मीकि अलग खड़े दिखाई देते हैं। उनकी आवाज को, कविता की बनावट को, तर्कों की निर्मिति को, भिन्न और स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। इस विशिष्टता का कारण यह है कि वाल्मीकि अपने सामाजिक यथार्थ को पहले आत्मानुभूति का विषय बनाते हैं और यह आत्मानुभूति धीरे–धीरे स्वानुभूति काव्यानुभूति में ढ़लती है। कविता बनाने की यह प्रक्रिया धीमी है, लंबी है। वाल्मीकि लंबा रास्ता चुनते हैं।'[39]

भारत में दलित आंदोलन के सबस महत्त्वपूर्ण नेता डॉ. अम्बेडकर रहे हैं। अम्बेडकर के कुछ जीवन चरित्र उपलब्ध हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण जीवनवृत हैं –धनंजय (1954), डब्ल्यू एन कुबेर (1973) और एम.एस. गोरे, चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु। हिन्दी क्षेत्रों में चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु की पुस्तक बेहद लोकप्रिय रही है। उसी तरह एलनोर जेलियट (1996) का अम्बेडकर और महारों का अध्ययन इस विषय पर एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। गोरे ने अम्बेडकर की विचारधारा का विश्लेषण

किया है और उसे एक ओर सामाजिक आंदोलनों के एक अध्ययन के व्यापक ढांचे में, तो दूसरी ओर इसे विचार व्यवस्थाओं के समाजशास्त्र में देखा गया है। चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु की पुस्तक ने उत्तर भारत के दलितों में डॉ. अम्बेडकर को घर–घर पहुंचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिसने उत्तर भारत में डॉ. अम्बेडकर को पुनर्जीवित करने में अहम् भूमिका अदा की है।

एलनोर जेलियट के अनुसार, 'अम्बेडकर की योजनाएं अस्पृश्यों को आधुनिक, न कि पारंपरिक तरीकों से, और संभवतः ऊँचे से ऊँचे स्तर पर भारतीय समाज के साथ एकीकरण करने की थी। अम्बेडकर ने अस्पृश्यों को 'अपमानवीकरण' और 'दासत्व' से आधुनिक विधियों, जो शिक्षा और कानूनी एवं राजनीतिक अधिकारों पर आधारित थी, के प्रयोग द्वारा समता की ओर अग्रसर करने के अपने कार्यक्रम के रूप में नियोजित किया था। इसके साथ ही अम्बेडकर की आधुनिकीकरण की विचारधारा जाति और परंपरा की दृढ़ता, स्पष्ट अनुभूति द्वारा व्यवहार में स्वभावानुरूप बना ली गई थी। उन्होंने अस्पृश्यों में उनकी ही स्थिति और ऐसे सामान्य हितों के प्रति चेतना उत्पन्न करने की कोशिश की, जो प्रभावशाली संगठनों और जन आंदोलनों के विकल्प के लिए आवश्यक थी और जो उनमें एकता उत्पन्न कर सकती थी। इन कारणों से अम्बेडकर ने एक ऐसी पृथकतावादी नीति का समर्थन किया, जो शुरुआती स्तर पर जाति की विभिन्नताओं को बढ़ा कर एक ऐसे समाज की रचना करती, जिसमें बाद में पहचान महत्त्वहीन हो जाती है।'[40]

ओवेन लिंच ने आगरा नगर में लघु स्तर पर अम्बेडकर के करिश्मायी व्यक्तित्व की खोजबीन की है। वे लिखते हैं, 'जाटवों ने आसानी से स्वंय डॉ. अम्बेडकर को स्वीकार कर लिया और उन्हें एक संस्कृति नायक बना दिया था, क्योंकि अम्बेडकर के साथ उनके कई प्रकार के और महत्त्वपूर्ण संबंध थे। ऐसे संतों की एक लंबी कतार में वे भी एक थे जिन्होंने जाति–व्यवस्था की भर्त्सना की थी। वे उनके

लिए एक ऐसे अस्पृश्य नायक थे, जैसे उनके लोकगीतों में विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जाटव उत्कंठाओं के लिए पहचान का एक केन्द्र और प्रतिनिधिक संतोष प्रदान किया। अम्बेडकर भारतीय समाज के राजनीतिक संरचना के भीतर भी एक नेता थे, अतः वे नेतृत्व और सहायता के एक वास्तविक स्त्रोत थे। अंतिम रूप वे एक ऐसे नेता थे, जो जाटवों की भांति ही वास्तव में एक अस्पृश्य व क्रांतिकारी नेता थे। अतः उन्होंने यह अनुभव किया कि एक गैर–अस्पृश्य नेता जैसे कि गांधी थे, से बेहतर रूप में अम्बेडकर उन्हें (जाटवों) समझ सकते थे।'[41]

'दलित आंदोलन पहचान और सरकारी नौकरियों एवं राजनीतिक पदों में आरक्षण से संबंधित मुद्दों, जो उन्हें मध्य वर्ग में पहुंचा सके, से प्रभावित रहे हैं। अस्पृश्यता और भेदभाव के व्यवहार के खिलाफ व्यापक रूप में स्थानीय स्तर पर दावे किए गए हैं। किन्तु, ये सामूहिक कार्यवाहियां प्रादेशिक–स्तरीय स्थाई आंदोलनों का रूप ग्रहण नहीं कर पाई है। फिर भी उनके संघर्षों ने 'दलितों' को मुख्यधारा के राजनीतिक कार्यक्रम में स्थान दिला दिया। शैक्षणिक क्षेत्र में इन आंदोलनों ने बुद्धिजनों के एक हिस्से को न केवल भारतीय परंपरा और संस्कृति, अपितु, आधुनिकता और मार्क्सवाद के विचारांकन (पैराडाइम) को भी छिद्रानिवेषी समीक्षा करने के लिए बाध्य कर दिया है।'[42]

घनश्याम शाह का कहना है, 'दलित आंदोलनों ने शासक वर्गों पर भी सफलतापूर्वक एक अच्छी मात्रा में दबाव बनाया है। फिर भी अनेक विद्वानों और आंदोलनकारियों ने अनुभव किया कि दलित मुख्यध ारा की राजनीति के भीतर एक दबाव समूह मात्र बनकर रह गए हैं। उनकी क्रांतिकारी धार धीरे–धीरे कुंद पड़ते जा रही है। उनकी योजनाओं, कूटनीतियों, गठबंधनों और यहां तक कि उनके लक्ष्यों पर भी विवाद खड़े हो गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आंदोलन एक गतिरोध की स्थिति में पहुंच गया है।'[43]

इसी तरह के विचार गेल ओमवेट ने भी व्यक्त किये हैं। उनका

मानना है– 'उत्तर अम्बेडकर दलित आंदोलन केवल व्यंग्यात्मक रूप में ही सही अंततः यह आंदोलन एक ऐसा आंदोलन है, जो उत्पीड़न के शोषण के कुछ गहन पक्षों को चुनौती देता है। किन्तु परिवर्तन का रास्ता दिखाने में असफल रहा है।'[44]

लेकिन एस.एम. माइकल वर्तमान संदर्भों में दलित आंदोलनों के प्रति एक सकारात्मक राय रखते हैं। उनका कहना है, 'डॉ. अम्बेडकर का विश्वास था कि जाति–व्यवस्था को नष्ट करने के लिए भारत को एक सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता है और उन्होंने अपने अनुयायियों को शिक्षित होने, संगठित होने एवं आंदोलन करने का नारा दिया। अतः एक न्यायपूर्ण एवं समतामूलक समाज के निर्माण के लिए अम्बेडकर की योजना परंपरागत समाज–व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाने पर आधारित थी। जबकि गांधी की रुचि परंपरागत सामाजिक संतुलन बनाए रखने में थी। नेतृत्व प्रदान करने के साथ ही अम्बेडकर ने दलित वर्गों में आत्म–सम्मान की मूल भावना को विकसित किया जिसके बिना शायद दलितों का आंदोलन उत्पन्न ही नहीं हो सकता था। उनके नेतृत्व में दलितों ने यह महसूस किया कि अन्याय के विरुद्ध संगठित होना, उसका विरोध करना एवं उसे चुनौती देना, उनके लिए संभव था। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया का गठन मुख्य रूप से अनुसूचित जातियों एवं कमजोर वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए किया। किन्तु रिपब्लिकन पार्टी में नेतृत्व संकट और दलितों पर बढ़ते हुए आक्रमणों ने युवा दलितों को अपने अधिकारों को अस्वीकार करने एवं उग्र पद्धति अपनाने पर मजूबर किया। ये दलित, विशेष रूप से महाराष्ट्र के शिक्षित दलित, आगे आए और इन्होंने सभी अनुसूचित जातियों को एक प्लेटफार्म पर लाने एवं उन्हें अपने अधिकारों एवं न्याय के लिए संघर्ष करने की ओर गतिशील करने का कार्य अपने हाथों में लिया। जाति कलंक जो कि कानूनी रूप से उन्मूलन के बाद भी बना रहा, इन संवेदनशील युवाओं के लिए अत्याधिक दर्दनाक था। फेनन के इस कथन उनका अटूट विश्वास था

कि 'सम्मान के साथ भूख, दासता में खाई रोटी के अपेक्षा, श्रेष्ठ है।' (1965, 143)। उन्होंने अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक संगठनों, जैसे दलित पैंथर, मास मूवमेंट, दलित लिब्रेशन आर्मी, यूथ रिपब्लिकन, दलित संघर्ष समिति, दलित थियेटर, दलित आर्ट, दलित साहित्य एवं ईसाइयों में दलित धर्मशास्त्र आदि साधनों से अनेक स्तर पर गांवों, नगरों में शैक्षणिक संस्थाओं में एवं सरकारी संगठनों में संघर्ष किया। इन संगठनों में अधिकांशतः दलित शक्ति की युवा शाखा का प्रभुत्व था। तथा ये, दलितों को शिक्षित एवं गतिशील करने तथा अपनी समस्या के समाधान हेतु प्रदर्शन के लिए दबाव समूह के रूप में कार्य करते थे। भीम सेना, दलित सेना, दलित साहित्य मूवमेंट, दलित रंगभूमि के उद्‌भव, बामसेफ, डी.सी.–4, बी.एस.पी.आई. के निर्माण में भी दलित चेतना अभिव्यक्त हुई।'[45]

माइकल यह भी कहते हैं, 'दलित नेताओं द्वारा किया जा रहा वर्तमान राजनीतिक सूत्रपात, प्रजातांत्रिक राजनीति के एक नए युग के प्रारम्भ मात्र को इंगित करता है। हालांकि नेतृत्व संकट एवं उत्साह भंग के साथ इसके अच्छे एवं बुरे समय आए, फिर भी दलित मुक्ति आंदोलन एक ऐसी शक्ति बन चुका है, जिसका आज ध्यान रखना होगा। अधिकाधिक दलित साहस के साथ बोलने लगे हैं, और उनकी आवाज को कोई दबा नहीं सकता। वे देश में अन्य प्रभावशाली राजनीतिक दलों के राजनीतिक गठबंधन में सक्रिय रूप से सहयोग कर रहे हैं।'[46]

कंवल भारती का कहना है, 'डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गों के राजनीतिक अधिकारों की मांग करना आरंभ कर दी थी। 8 अगस्त, 1930 में अखिल भारतीय दलित वर्ग कांग्रेस का पहला अधिवेशन नागपुर में हुआ, जिसके सभापति डॉ. अम्बेडकर थे। इस अधिवेशन में तेरह प्रस्ताव पारित किए गए थे। इस अधिवेशन में मांग उठी थी, चूंकि रूढ़िवादी हिन्दू दलितों के प्रति अपने व्यवहार को नहीं बदल सकते, इसीलिए कोई भी राजनीतिक संविधान तब तक मान्य नहीं होगा, जब

तक उसमें दलित वर्गों के लिए समानता के अधिकार सुनिश्चित न किए गए हों। इस अधिवेशन में यह स्पष्ट रूप से केन्द्र और राज्यों की विधायिकाओं में दलितों के लिए समुचित प्रतिनिधित्व तथा सरकारी सेवाओं में दलितों की जनसंख्या के अनुपात से आरक्षण दिए जाने की मांग की थी।'[47]

डॉ. अम्बेडकर ने बार–बार कांग्रेस और गांधी से स्वराज्य की योजना में दलितों की स्थिति स्पष्ट करने को कहा था। ... अब तक सत्ता का संघर्ष हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच था। पर डॉ. अम्बेडकर के आंदोलन ने दलितों की मांग उठाकर इस संघर्ष को त्रिकोणीय बना दिया था। ... डॉ. अम्बेडकर के आंदोलन का परिणाम सिर्फ यही नहीं हुआ कि दलित वर्ग में राजनीतिक चेतना पैदा हुई, बल्कि इसी समय भारतीय राजनीति में दलित चेतना का उदय हुआ। जो दलित अब तक हिन्दू समाज के अंतर्गत उसी का अंग माने जाते थे, अब उनकी राजनीतिक महत्ता स्वीकार की जाने लगी थी। अतः ब्रिटिश सरकार ने भारत के संविधान निर्माण में भारतीयों की राय जानने के लिए गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया। यह पहला अवसर था कि इस सम्मेलन में दलित वर्ग के भी दो प्रतिनिधियों डॉ. अम्बेडकर और दीवान बहादुर आर. श्रीनिवासन को बुलाया गया था। 12 नवंबर, 1930 को सम्राट जॉर्ज पंचम ने लंदन में पहली गोलमेज सभा का उद्घाटन किया। डॉ. अम्बेडकर ने इस सम्मेलन में दलित वर्गों के पृथक अधिकारों की मांग रखते हुए कहा, 'दलितों की जनसंख्या भारत की कुल आबादी का पांचवा हिस्सा है। दलित वर्ग के लोग मुसलमानों से पृथक हैं और यद्यपि उन्हें हिन्दुओं में शामिल किया जाता रहा है, परंतु वे किसी भी अर्थ में हिन्दू समुदाय के अंग नहीं हैं। ...डॉ. अम्बेडकर की आठ मांगे थी–

1. समान नागरिकता का अधिकार, 2. समान अधिकारों का उपयोग, 3. भेदभाव के विरुद्ध संरक्षण, 4. विधान सभाओं में समुचित प्रतिनिधित्व, 5. नौकरियों में समुचित प्रतिनिधित्व, 6. दलित हितों की

उपेक्षा के विरुद्ध कार्य, 7. विशेष विभागीय सुरक्षा, 8. मंत्रीमण्डल में दलितों की भागीदारी कांग्रेस और गांधी ने इन मांगों का विरोध किया था।'[48]

7 सितंबर, 1931 को गोलमेज सम्मेलन का दूसरा सत्र आरंभ हुआ। इसमें कांग्रेस की ओर से गांधी ने प्रतिनिधित्व किया। वहां अल्पसंख्यक समिति की बैठक में गांधी ने दलितों की मांग का विरोध किया। उन्होंने कहा कि वह सिखों, और मुसलमानों के विशेष प्रतिनिधित्व को स्वीकार कर सकते हैं, पर कांग्रेस ने अछूतों के उद्धार का कार्य गंभीरता से लिया है, इसीलिए राजनीतिक संरक्षण दिए जाने का कोई औचित्य नहीं है। किन्तु समिति के अधिकांश सदस्यों ने दलितों की मांग का समर्थन किया। अतः 17 अगस्त, 1932 को प्रधानमंत्री ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक निर्णय की घोषणा की, जिसमें दलितों की पृथक निर्वाचन पद्धति को स्वीकार किया गया था। कांग्रेस और हिन्दुओं ने निर्णय के खिलाफ प्रदर्शन किए। गांधी उस समय यरवाड़ा जेल में थे। उन्होंने जेल में ही 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है' इस भजन के साथ 20 सितंबर, 1932 को जेल में आमरण अनशन आरंभ कर दिया। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार गांधी का यह अनशन नैतिक लड़ाई नहीं थी, वह एक राजनीतिक चाल थी। देश भर में गांधी के जीवन की रक्षा चिंता का विषय बन गई थी। कांग्रेस और हिन्दू नेताओं ने डॉ. अम्बेडकर के खिलाफ वातावरण बनाने में धरती आसमान एक कर दिया था। एक भीषण संकट से डॉ. अम्बेडकर को गुजरना पड़ा था। यदि अपनी मांग पर दृढ़ रहते, तो गांधी की हत्या का कलंक हमेशा के लिए उनके माथे पर लग जाता और उनकी प्रतिक्रिया देश भर के दलितों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण हो सकती थी। अतः डॉ. अम्बेडकर ने दूरदर्शिता से काम लिया और सांप्रदायिक निर्णय में परिवर्तन करने के लिए सहमत होकर गांधी के प्राण बचाए। इतिहास में यह समझौता पूना–पैक्ट के नाम से जाना जाता है।'[49]

शाकिर अली के आलेख 'वर्ण से वर्ग तक की यात्रा का समाजशास्त्र' में कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की व्याख्या की गई है। वे लिखते हैं, 'उत्तर भारत में सांमती व्यवस्था आर्यों के दोआब के उपजाऊ प्रदेश में बसने के बाद प्रारंभ हुई और हजारों वर्षों बाद आज भी सांस ले रही है। यह व्यवस्था धर्म के सहारे ही फलती, फूलती और फैलती है। इतने लंबे अर्से तक फ्यूडल पद्धति किसी भी यूरोपियन देश में एक–सी नहीं रही। हिन्दुस्तान में इतने अर्से तक सांमती व्यवस्था रहने के कारण सांमती पद्धति के विकास के कई चरणों में दर्शन और धर्म के अनेक संप्रदाय और वाद आते हैं, जैसे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वेत, सगुण और निर्गुण भक्तिधारा आदि, जो सांमती पद्धति के विकास के बीच में आए अवरोधों और आर्थिक संकटों से उसे बचा ले गए।

जहां तक सगुण और निर्गुण धारा का संबंध है वह जातीय आधार पर ही निर्मित होती है। जितने भी निर्गुण कवि और संत हैं, वे सभी निचली जातियों से हैं। सगुण कहे जाने वाले सभी उच्च जातियों से हैं। कहा जाता है कि मीरा रैदास की शिष्या थी। लेकिन वह निर्गुण नहीं सगुण थी। इसी तरह कबीर को रामानंद का शिष्य कहकर प्रचारित किया जाता है। लेकिन वे कबीर को सगुण नहीं बना सके। निर्गुण भक्ति धारा में कबीर को मान्यता भर मिली। कट्टरपंथियों से इससे ज्यादा की उम्मीद की आशा नहीं की जा सकती थी। यह वर्ण–व्यवस्था के ढीले पड़ने का संकेत था, जो इस्लाम जैसे समतामूलक धर्म के संपर्क में आने से हुआ। इसका लाभ भी सांमती व्यवस्था को ही मिला। यही कार्य तुलसीदास ने भी किया। वे सांमतवाद और ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों के समर्थक थे। इसीलिए तमाम हिन्दू सांमतवादी, यहां तक कि मार्क्सवादी कहे जाने वाले विचारक समीक्षक भी तुलसीदास को श्रेष्ठ मानते है। और उनके रामचरितमानस को पूजा घरों में स्थान दिलाने में सफल होते हैं।

तमिल भाषी दलित विद्वान और कार्यकर्ता गुना कहते हैं, 'हिन्दू

धर्म की विचारधारा, जिसका निर्माण उत्तर भारत में मुस्लिम शासन के संगठित होने के समय हुआ था...जिसका पता तमिलों को ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के पहले जरा भी नहीं था। ...ब्राह्मणों ने, जो अंग्रेजी पढ़े–लिखे थे और जिन्हें विदेश में अध्ययन का अवसर सुलभ था, युरोपवासियों द्वारा कल्पित 'हिन्दुस्तान' नामक राजनीतिक सत्ता से प्रेरणा पाई। इस उधार लिए विचार से वे भिन्न–भिन्न पंथों तथा ब्राह्मणवाद, वर्ण–व्यवस्था को बड़े ही फूहड़ ढंग से मिलाकर उसे 'हिन्दू–धर्म' का नाम दे सके। इस विचारधारा के अस्तित्व में आने से, एक छदम धार्मिक राजनीतिक अवधारणा क निर्माण हुआ, जिसके आधार पर उन्होंने हिन्दू राष्ट्रीयता के मिथकों के ताने–बाने गढ़े ... इस प्रकार 'हिन्दू' शब्द का जन्म केवल दो शताब्दी पूर्व हुआ और वह आज भी रंगहीन, गंधहीन, आकारहीन भ्रामक कृत्रिम संरचना है।'[50]

'गुना' एक व्यापक परम्परा या परम्पराओं के सम्मुच्य का हिस्सा है। इस परंपरा या इन परंपराओं में भारतीय पहचान (अथवा पहचानों) की वैकल्पिक व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। किसानों (और स्त्रियों), खासतौर पर इस महाद्वीप के दक्षिणी, पश्चिमी तथा बहिवर्ती क्षेत्रों में व्याप्त परंपराओं से अभिप्रेरित इन व्याख्याओं की जड़ें समाज की निम्न जातियों, दलितों और गैर–ब्राह्मणों के बीच फैल रही है। वर्तमान समय में यह फुले, अम्बेडकर तथा पेरियार जैसे नेताओं से प्रेरणा ग्रहण करती है : ये बिरसा मुण्डा और वीर नारायण सिंह जैसे विद्रोही नेताओं को पसंद करती है। ये बुद्ध और चार्वाक और महावीर, कबीर और गुरू नानक और वासबप्पा की परंपरा की है : ये शिवाजी सरीखे वीरों को अपना होने का दावा करती है। हालांकि यह उनकी हिन्दूवादी व्याख्या का विरोध भी करती है, किन्तु मोहनजोदड़ो के गौरव पर अपना दावा करती है और लूटमार करने वाली 'आर्यजाति' नहीं, बल्कि उससे पूर्व जनजातियों की विरासत का दावा भी ठोकती है। हिन्दूवाद के धर्मनिर्पेक्ष विरोध के विपरीत, ये पहचान की राजनीति की वकालत करती है। और सुधारवाद हिन्दू पहचानों के विपरीत, ये

हिन्दू धर्म की दमनकारी, जातिवादी, पितृसत्तात्मक तंत्र के रूप में पारिभाषित करती है।'[51]

गेल ओमवेट का यह भी कहना है, 'दलित आंदोलन जो पहले पूर्व–अछूत जातियों पर आधारित था, अब कई दक्षिणी तथा तटीय क्षेत्रों की गैर–ब्राह्मण जातियों को शामिल कर और भी व्यापक रूप ले रहा है। हाल के वर्षों में इसने इस विचारधारा को चुनौती, हिन्दू धर्म के वर्चस्व तथा तार्किकता को चुनौती देने की प्रेरणा, दलित राजनीति की बुनियाद में ही है।'[52]

'भारत में दलित चिंतन व आंदोलन में अपनी विचारधारा ब्राह्मणवाद के विरोध में निर्मित की है। ब्राह्मणवाद के तमाम मूल्य, नैतिकता व विचारधार मुख्यतः दो स्तंभों पर टिकी है– पितृसत्ता और वर्ण–व्यवस्था। ब्राह्मणवाद की विचारधारा का आधार या जीवन स्त्रोत वेद–वेदांग, पौराणिक साहित्य और स्मृति ग्रंथ है। इनमें निहित वर्चस्वी वर्ग के मूल्यों को चुनौती देकर ही दलित–दृष्टि का विकास हुआ है। ब्राह्मणवाद में वर्ण–धर्म की खोज करके शूद्रों–दलितों को ज्ञान, संपत्ति व शक्ति से दूर रखा था और दलितों–शूद्रों ने जीवन–संघर्ष के दौरान जो महत्त्वपूर्ण ज्ञान अर्जित किया, उसे ज्ञान की श्रेणी में ही नहीं रखा। इसे प्राप्त करने के संघर्ष में ही दलित दृष्टि का विकास हुआ है।'[53]

'सन 1960 के आसपास महाराष्ट्र में दलित साहित्य का निर्माण होने लगा था। दलित कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, आत्मकथाकार अपनी अलग पहचान देने लगे थे। अनुभव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनका साहित्य पारंपरिक एवं स्थापित मराठी साहित्य की मुख्य धारा से सर्वथा अलग था। इतना ही नहीं बल्कि तत्कालीन गांधीवादी और मार्क्सवादी साहित्य प्रेरणा और प्रवृत्तियों से दलित साहित्य की प्रेरणा और प्रवृत्तिया भिन्न थीं। मार्क्सवादी साहित्य की प्रेरणा मार्क्स की विचारधार में है। और यह साहित्य महान अक्तूबर क्रांति के फलस्वरूप प्राप्त अनुभवों से जुड़ा हुआ है। इसी तरह दलित साहित्य अम्बेडकर की विचारधारा से और उनके द्वारा छेड़े गए, 'दलित मुक्ति

आंदोलन' से जुड़ा हुआ है। सन 1927 में डॉ. अम्बेडकर ने महाड़ में वर्णवादी हिन्दू धर्म के विरोध में जो आंदोलन छेड़ा था, वही 'दलित मुक्ति आंदोलन' का प्रेरणा स्त्रोत था। 1920 में डॉ. अम्बेडकर ने 'मूक नायक' पत्रिका शुरू की थी। उस पत्रिका द्वारा वर्ण–व्यवस्था की शोषक स्थिति और गति पर कठोर आघात करते हुए, दलित समाज का प्रबोधन किया था, जिसके फलस्वरूप इस समाज के वर्ण जागृत तबके 1927 के क्रांतिकारी आंदोलन में शरीक हुए थे। डॉ. अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित होते हुए सामान्य दलित भी इस आंदोलन से जुड़े, यह आंदोलन धीरे–धीरे व्यापक होता गया और उग्र भी।'[54]

दया पवार कहते हैं,– 'सांस्कृतिक एवं साहित्यिक समझ व्यक्त करने वाले आंदोलन अचानक शुरू नहीं हो सकते। सन् 1920 से डॉ. अम्बेडकर ने महाराष्ट्र में सोच के स्तर पर जो विद्रोह एवं वैचारिक परिवर्तन दलितों में उत्पन्न किया, उसी के परिणाम स्वरूप दलित साहित्य का जन्म हुआ। परंतु पिछले पंद्रह सालों (1983 में अस्मितादर्श लेखक–पाठक सम्मेलन, सोलापुर में पढ़े गए आलेख का अंश) में ही क्यों फल–फूल रहा है? अर्थात इसके पहले कोई लिखता ही नहीं था, ऐसी बात नहीं है। पर उस लेखन को आंदोलन का स्वरूप नहीं मिला था। इस बात को कोई भी स्वीकार कर सकता है। कुछ समीक्षक मराठी साहित्य में 'मर्ढेकरी' संप्रदाय के प्रारंभ के साथ ही दलित साहित्य का जन्म हुआ ऐसा मानते हैं, तो अभी–अभी एक प्रगतिशील कवि ने दलित साहित्य के जन्म का संबंध अण्ण भाऊ साठे एवं अमरशेख द्वारा किए गए, 'लोकनाट्य कलापथक' के साथ जोड़ा है। दलित आंदोलन के इतिहास की जानकारी जिन्हें नहीं है, उनमें ही इस प्रकार की गलतफहमियां निरंतर दिखाई देती हैं।'[55]

इसी तरह के सवाल हिन्दी में भी लगातार उठते रहे हैं। हिन्दी दलित साहित्य का जन्म कुछ विद्वान समीक्षक संत–साहित्य के साथ जोड़कर देखते हैं। जिसमें रैदास को दलित साहित्य का अग्रदूत तक कह दिया जाता है। तो कई लोग हीरा डोम (1914) से दलित साहित्य

की शुरूआत मानते हैं, और कुछ लोग अछूतानंद के 'आदि–हिन्दू' आंदोलन से मानते है। दया पवार का यह कहना कि डॉ. अम्बेडकर ने सोच के स्तर पर जो विद्रोह एवं वैचारिक परिवर्तन दलितों में उत्पन्न किया, उसी के परिणामस्वरूप दलित साहित्य का जन्म हुआ हैं, तर्क संगत और सटीक लगता है क्योंकि दलित कविता में जो विद्रोह, नकार और चेतना की ओजस्विता दिखाई देती है, वह डॉ. अम्बेडकर के 'मुक्ति–संघर्ष' का ही परिणाम है। उस चेतना को अनदेखा करके किसी निष्कर्ष पर पहुंचना उचित नहीं लगता। दलित साहित्य एक आंदोलन है– एक 'मास मूवमेंट' जिसे ऐतिहासिक तथ्यों के साथ समझना जरूरी है, तभी हम किसी सही और तर्कपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं। तभी दलित साहित्य की अंतःचेतना और अवधारणा की परिभाषा भी ठीक ढंग से प्रस्तुत की जा सकती है।

दलित–विमर्श को, चाहे वह वैश्विक धारणाओं का सवाल हो या भारतीय, कोई बहुत बड़ा समर्थन नहीं मिला। उसे लगातार नकारने की कोशिशें होती रही हैं जबकि यह भी एक नया विमर्श था, तथा इन मुद्दों पर हो रहे लेखन को लेकर बातें होनी चाहिए थीं। पर हाल के वर्षों तक दलित साहित्य को लेकर हिन्दी की मुख्यधारा के लेखन में कोई ठीक–ठाक विचारधारात्मक राय नहीं बन पाई है। कभी जाति के मसले पर इस विमर्श की अर्थवत्ता को नकारने की वैचारिक कोशिशें होती हैं, तो कभी सामाजिक असमानता के सवाल को श्रम से जोड़कर उसे अविवेकशील बताने की। पर सच यह है कि पिछले कुछ वर्षों में साहित्य की इस नई धारा (दलित साहित्य) में रचना और विचार की दुनिया को बुनियादी स्तर पर प्रभावित किया है और एक स्तर तक समकालीन सोच को बदला भी है। आज विचारधारा की दुनिया में दलित लेखन को लेकर हो रही बहसें और विमर्श के मुद्दे मुख्यधारा की सोच और साहित्य में समानांतर खड़े हैं। उन्हें नकारने की स्थितियां अब धीरे–धीरे खत्म हो चली हैं, फिर भी कई ऐसे सवाल हैं, जिन्हें लेकर विचार की दुनिया में एक नए प्रकार की गतिशीलता दिखलाई पड़ती है।'[56]

दलित साहित्य का मानना है कि मार्क्सवादी विचार पद्धति में दमन, शोषण और उत्पीड़न का बुनियादी कारण आर्थिक माना जाता है, जबकि दलित लेखन की बुनियाद वर्ण एवं जाति केन्द्रित असमान सामाजिक व्यवस्था पर टिकी है। यह सवाल आर्थिक समानता का नहीं जातीय–संरचना (जन्मना जाति) का है। डॉ. अम्बेडकर ने साफ–साफ कहा था कि 'जाति प्रथा केवल श्रमिकों का विभाजन नहीं है। वह वंशगत है, जिसमें श्रमिकों का वर्गीकरण एक के ऊपर दूसरी सीढ़ीनुमा है। इसमें जिसका जन्म जिस तल, जिस जाति में होता है, वह उसी तल में मरता है।'[57]

'दरअसल दलित साहित्य पर विचार और विमर्श की प्रक्रिया में कुछ ऐसे संकेतों और प्रतीकों से टकराना पड़ता है, जिन्हें वर्ण–व्यवस्था के सहारे रचा अथवा गढ़ा गया है, ये निर्मितियां परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को रूढ़ बनाते हैं। दलित साहित्य की खास विशेषता है कि यह इनसे मुक्ति की बातें करता है, तथा विशेष परिस्थितियों में इनके वजूद का प्रतिरोध करते हुए, उसे परिवर्तन और विकास का सबसे बड़ा शत्रु घोषित करता है। वह मानता है कि ये रचनाएं सामाजिक गुलामी का सबसे बड़ा कारण हैं। बिना इनसे मुक्ति के स्वाधीनता का कोई अर्थ नहीं है। सामाजिक गुलामी से मुक्त होकर भी दलित समाज, असमान सामाजिक व्यवस्था में आत्मसम्मान के साथ जीवन व्यतीत कर सकता है। कहा जा सकता है कि दलित समाज के आत्मगौरव का यह भाव दलित साहित्य का केन्द्रीय भाव है, जिसे सामाजिक व्यवस्था (वर्ण एवं जाति) से जोड़कर दलित लेखकों ने इस नए साहित्य का समाजशास्त्र रचा है। जाहिर है, यहां एक बड़े समाज की आकांक्षा और यथार्थ का द्वंद मौजूद हैं, जिसे दलित लेखकों ने अतीत में हुए शोषण, दमन एवं उत्पीड़न के सहारे रचा है। नए आलोचकों का इस साहित्य से टकराना, अपने समय और समाज के दबाव से टकराना भी है। ... दरअसल दलित साहित्य इस अकाल समय का ऐसा साहित्य है जो भारतीय समाज, खासकर

हिन्दी में उस समय आया जब समाज और साहित्य की दुनिया तरह–तरह के दबाव से घिरी हुई थी...साहित्य की इस धारा ने समय के इन दबावों को तोड़ा है और सदियों से उत्पीड़ित एवं वंचित समाज के लिए एक बेहतर स्थान (space) बनाने का प्रयास किया है।'[58]

'लेखक यदि दार्शनिक नहीं होगा तो मनुष्य का सभी प्रकार से किया जाने वाला शोषण उसे दिखाई नहीं देगा। परंतु दर्शन अनुभूति के पीछे उस प्रकाश ज्योति की तरह होना चाहिए, जिसके कारण अनुभूति के सारे आयाम उसे साफ दिखने चाहिए। मराठी लेखकों का व्यक्तित्व हिन्दू धर्म की मानसिकता से बना होने के कारण घटनाएं किस प्रकार घटित होती हैं, इसका दूर–दूर तक पता नहीं चलता। मनुष्य सृष्टि के, नियति के हाथ की कठपुतली है, अपने जीवन में आने वाले संकटों या सुखों का कारण वह 'प्रारब्ध' (भाग्य) को मानता है। यही दृष्टिकोण इसमें दिखाई देता है। कथा साहित्य के नायक टैरेलिन के कपड़े पहनने वाले हों, परंतु उनके चरित्र रामायण–महाभारत से अलग दिखाई नहीं देते। उस दृष्टि से लेखक का दृष्टिकोण जड़वादी है, तो किसी भी घटना के कार्य–कारण संबंध का पता नहीं चलेगा।'[59]

'दलित आंदोलन पौराणिक और मिथकीय प्रसंगों की पुनर्व्याख्या कर रहा है। इतिहास में अपनी जगह तलाशने और दमन के विभिन्न रूपों को समझने की यह कोशिश स्वाभाविक है। लेकिन, उत्साह में कई बार पौराणिक चरित्रों की पुर्नपरिभाषा अनावश्यक और हास्यास्पद दिखने लगती है। ओम प्रकाश वाल्मीकि में यह विवेक है। वे मनमाना अर्थ लादने से बचते हैं। चक्रब्यूह प्रसंग उनकी दो कविताओं में आया है। वे अभिमन्यु में अपनी आत्म छवि देखते हैं। जयद्रथ को महिमा मण्डित नहीं करते हैं।'[60]

'दलित वर्ग के साथ सदियों से जो निर्मम, निष्ठुर और अमानवीय व्यवहार हुआ, उसके परिणामस्वरूप कला, साहित्य, संस्कृति से उनका नाता टूट गया था। उसमें इस वर्ग की भागीदारी कम से कम

होती गई थी। बल्कि वह भागीदारी लोक संस्कृति तक सीमित हो गई थी। हां, खासतौर से मध्यकाल में एक दौर ऐसा आया जब लेखन और चिंतन के क्षेत्र में दलित, वंचित, मुसलमान, महिला आदि वर्गों का सर्वाधिक योगदान रहा है। और शायद उसी दौर में रचना को समाज और आदमी के हित में कारगर हथियार के बतौर इस्तेमाल किया जा सका था। लेकिन बाद में धीरे–धीरे उस रचनाशीलता का प्रभाव भी कम होता गया और फिर कला, साहित्य, संस्कृति पर से उन वर्गों की पकड़ ढ़ीली होती गई। दलित वर्ग को फिर से एक लंबे समय तक उसमें अपनी समुचित भागीदारी के लिए तरसना और छटपटाना पड़ा। आज के संदर्भ में जिसे हम दलित साहित्य कहते हैं, वह उसी छटपटाहट का प्रतिफलन है ... जिसकी जड़ें अम्बेडकरवादी विचार में तलाशी जा सकती है।'[61]

उपरोक्त ऐतिहासिक एवं साहित्यिक तथ्यों की विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दलित साहित्य दलितों की संघर्ष–यात्रा और मुक्ति के लिए प्रेरणादायक रहा है और उनकी जिजीविषा से जुड़ गया है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। आज भारत की सभी भाषाओं में दलित साहित्य की अनुगूंज सुनाई पड़ रही है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। हिन्दी एवं मराठी कविता के अध्ययन से इस की पड़ताल की जाएगी।

संदर्भ

1. डॉ. इन्द्रनाथ चौधुरी, *तुलनात्मक साहित्य की भूमिका,* दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, 1983, पृष्ठ 11
2. वही, पृष्ठ 4,5
3. वही, पृष्ठ 5
4. डॉ. नगेंद्र, *तुलनात्मक साहित्य,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1985
5. डॉ. भ.ह. राजूरकर, *तुलनात्मक अध्ययन बनाम तुलनात्मक साहित्य* दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, 1983, पृष्ठ 11,12
6. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, *तुलनात्मक अध्ययन–* संपादक डॉ.भ.ह. राजुरकर,

डॉ. राजमाल बोरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ 23
7. वही, पृष्ठ 24
8. डॉ. नवल किशोर, ''तुलनात्मक अध्ययन की सीमाएं'' *तुलनात्मक अध्ययन,* संपादक डॉ.भ.ह. राजुरकर, डॉ. राजमाल बोरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ 50
9. घनश्याम शाह, *भारत में सामाजिक आंदोलन,* अनुवाद–हरिकृष्ण, सेज, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 105,106
10. वही, 1990
11. Gail Omvet, Bharat Patanakar "The dalit liberation movement in colonial period", *Economic and Poitical Weekly* 16(7&8) Annual no. 1979
12. सुधा पेई, "New Social and Political Movements of Dalits: A Study of Meerut District", *Contribution of Indian Sociology* (New Series) 34(2), 2000.
13. गेल ओमवेट, *दलित दृष्टि,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 29
14. वही
15. Satish Sharma, *Social Movement and Social Change; A Study of Arya Samaj and Untouchables in Punjab*, B.R. Publishing Corporation, Delhi, 1985
16. घनश्याम शाह, *भारत में सामाजिक आंदोलन,* पृष्ठ–108
17. Nandani Gooptu, "Caste Deprivation and Politics: The Untouchable in U.P. Towns in the early Twentieth Century" *Dalit Movement and the meaning of Labour in India*, Edited by Peter Robb, Delhi, Oxford University Press, 1993, p-298
18. घनश्याम शाह, *भारत में सामाजिक आंदोलन,* पृष्ठ 109
19. श्यामलाल, *Caste and Political Mobilization*, Panchsheel Publication, Jaipur, 1981
20. Hard Grave, Robert, *The Nadars of Tamilnadu: Political Culture of Community in Change*, Berkeley University, California Press, 1969
21. दिलीप मेनन, Intimations of Equality : Shrines and Politics in Malaabar, 1900-1953, *Economic and Political Weekly*, 17(25) June, 1993, P-226
22. Eleanor Zelliot-Mahar and Non- Brahmin Movement in Maharashtra, *The Indian Economics and Social History Review*, 7(3) July-Sep.
23. Eleanor Zelliot, 'Learning the Use of Political Means : The Mahars of the Maharashtra' *Castes in Indian politics*, Edited by Rajani Kothari , Delhi, Orient Longman, 1970, P 52

24. Verba, *Race, caste and politics*, New York, Sage publication, 1972
25. Eleanor Zelliot, 1970
26. सदा करहाड़े, मार्क्सवाद और दलित साहित्य– *भारतीय दलित साहित्य; परिप्रेक्ष्य,* संपादक, कमलाप्रसाद, पुन्नी सिंह, राजेन्द्र सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ 59–60
27. T.S. Wilkinson, *Ambedkar and Neo-Buddhist Movement*, Madras The Christian literature society, 1972
28. Pai Sudha, *New Social and Political Movement of Dalit : A Study of Meerut District*, page 199
29. Eleanor Zelliot, 2000, 239
30. गेल ओमवेट, *दलित दृष्टि,* पृष्ठ 17
31. Desai, Harshad and Maheria, Chandu, *Deprivation in Gujrat*. In Honour of Ja Berman, Edited by Ghanshyam Shah, Mario Ruston and Hein Sreefkerb, New Delhi, Sage publication, 'Dalit Assertion for self-Esteem from Sambaradato Swaaman Nagar.' Development in Gujrat.
32. वही, पृष्ठ 239
33. Mark Juergensmayer, *Religion as Social Vision: The Movement against Untouchability in 20th Century in Punjab*, Berkeley, University of California Press. 1982
34. वही, पृष्ठ 44
35. कंवल भारती, *हरिजन से दलित,* संपादक–राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृष्ठ 67–68
36. वही,
37. हेमलता महीश्वरी, *सावधान, यथास्थिति से टकराते हुए* (कविता–संग्रह) लोक मित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृष्ठ 346–347
38. सुखराम हिरवले, *निकाय मासिक पत्रिका,* मार्च–अप्रैल, 1997
39. बजरंग बिहारी तिवारी, *वसुधा* अंक–48 जून, 2000, भोपाल, संपादक –कमला प्रसाद, पृष्ठ 337
40. Eleanor Zelliot, 'Gandhi and Ambedkar a Study in Leadership', *The Untouchables in Contemporary India*, edited by Michael Mahar, Tucsion: The University of Asian Studies, 1972,77
41. Owen Linch, 1972, 110
42. घनश्याम शाह, *दलित आंदोलन,* पृष्ठ 117
43. घनश्याम शाह, 2001

44. गेल ओमवेट, 2001, पृष्ठ 157
45. एस.एम. माइकल, संपादक– *आधुनिक भारत में दलित दृष्टि एवं मूल्य,* सेज, रावत पब्लिकेशंस, 2010, पृष्ठ–21
46. वही, पृष्ठ 22
47. कंवल भारती, *हरिजन से दलित,* पृष्ठ 69
48. वही, पृष्ठ 70
49. वही, पृष्ठ 71
50. गुना, *'एशियाटिक मोड; ए सोसियो–कल्चरल पर्सपैक्टिव'* बुकवेल पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1984, पृष्ठ 124–125
51. गेल ओमवेट, *दलित दृष्टि,* पृष्ठ 17
52. वही
53. सुभाष चंद्र, *दलित–मुक्ति आंदोलन, सीमाएं और संभावनाएं,* आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2010, पृष्ठ 9
54. सदा कर्हाडे, 2003, पृष्ठ 46
55. दया पवार, ''दलितों के आंदोलन जब तीव्र होने लगते हैं, तब जन्म लेता है दलित साहित्य''*दलित साहित्य : वेदना और विद्रोह,* शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 194
56. देवेन्द्र चौबे, भूमिका, 2009, पृष्ठ xi
57. वही, पृष्ठ xviii
58. वही
59. दया पवार, 2010, पृष्ठ 199
60. बजरंग बिहारी तिवारी, *वसुधा,* अंक 48 जून, 2000, भोपाल, संपादक, कमला प्रसाद, पृष्ठ 339
61. पुन्नी सिंह, *वसुधा* – 58, जुलाई–सितंबर, 2003, पृष्ठ 12

अध्याय एक

हिन्दी और मराठी कविता के इतिहास का पुनर्मूल्यांकन

हिन्दी और मराठी कविता के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पूर्व डॉ.बच्चन सिंह के इतिहास संबंधी विचार देखना जरूरी है। वे कहते हैं, 'इतिहास का विकास क्रम प्रकृति की तरह कार्य–कारण की श्रृंखला से बंधा नहीं है। इतिहास मनुष्य का होता है। वस्तुतः वह एक मानवीय तत्व है। ऐतिहासिक घटनाएं परिवेश के अलावा मनुष्य की आकांक्षाओं निर्णय, क्रिया–कलाप आदि पर भी बहुत कुछ निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में इतिहास मात्र भौतिकता से निर्मित नहीं होता, बल्कि उसमें मानवीय स्वतन्त्रता और निर्णय का योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्र और जाति को अनेक ऐसी घटनाओं का सामना करना पड़ता है, जो मनुष्य के नियंत्रण में नहीं होतीं। इन घटनाओं से भी देश और जाति का नक्शा बदल जाता है। यह मानकर चलना होगा कि इतिहास का कोई दर्शन इतना मुकम्मल नहीं है जिसके आधार पर इतिहास को उसकी पूरी समग्रता में समेटा जा सके। जितना यह इतिहास के साथ सच है, उतना ही साहित्य के साथ भी। पर इतिहास के लेखक की तरह साहित्य के इतिहास का लेखक तथ्यों के अर्थापन में उतना स्वतंत्र नहीं है। इतिहास लेखक की तरह उसके पास तरह–तरह के आंकड़े नहीं होते–आधे–अधूरे, सही और गलत आंकड़े। उसके सामने ग्रंथ होते हैं। प्राचीन काल के ग्रंथों के संबंध में तो प्रामाणिक और अप्रामाणिक कहा जा सकता है। अतः साहित्य के इतिहासकार को दुहरे दौर से गुजरना पड़ता है अर्थात उसे इतिहास

लिखना पड़ता है, जो साहित्यिक भी हो और ऐतिहासिक भी'।[1]

'साहित्य के इतिहास लेखन में साहित्य के परिवर्तन और विकास की व्याख्या होती है, इसमें परम्परा और परिवर्तन के द्वंदात्मक संबंध का बोध होता है। साहित्यिक परिवर्तनों की व्याख्या के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं। कुछ इतिहासकार केवल व्याख्या के लिए परिवर्तन की व्याख्या करते हैं और कुछ साहित्य के विकास को। लेकिन परिवर्तन की व्याख्या का एक उद्देश्य नए परिवर्तनों को प्रेरित करना और दिशा देना भी होता है। साहित्य के परिवर्तन और विकास के मूल में सामाजिक परिवर्तन और विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, और समाज परिवर्तन तथा विकास में साहित्य की सक्रिय साझेदारी।'[2]

लक्ष्मीकान्त वर्मा का मानना है कि 'यह सही है कि आधुनिकता में एक ऐतिहासिक क्रम और इतिहास बोध की ग्राह्यता परिलक्षित है, किन्तु इतिहास का लाक्षणिक रूप आज सम्पूर्ण मानवता को विषाक्त जर्जरता की ओर ही ले जा रहा है। इतिहास एक आत्मग्राही दृष्टि भी है और एक स्मृति विकृति भी है। विकृत स्मृति से घायल मानव–मस्तिष्क में केवल काल का आंतक रहता है, उसका प्रवाह नहीं। स्मृतियों से मुक्त जीवन शायद मानव–सभ्यता की और मानवीय चेतना के समस्त भाव स्थितियों की मूर्त सजीवता का द्योतक है। स्मृति जब अभिप्राय रूप में किसी भी चेतना पर छा जाती है, तो समस्त चिंतन–शक्ति रुग्ण हो जाती है। इतिहास के प्रति जो लोग अनावश्यक रूप से मोहजनित और आग्रहशील हैं, वे शायद इतिहास और ऐतिहासिकता का उचित अर्थ नहीं समझते।'[3]

'हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक समस्या यह भी है कि हिन्दी साहित्य का आरंभ कब से माना जाये। इस समस्या का संबंध हिन्दी भाषा के इतिहास से भी है। कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश के परवर्ती रूप को पुरानी हिन्दी मानकर वहीं से हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरंभ माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा, 'प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना

जा सकता है।'[4] अपभ्रंश को शुक्ल जी कभी 'प्राकृताभास हिन्दी' और कभी 'पुरानी हिन्दी' भी कहते हैं, लेकिन वे यह भी मानते हैं कि यह उस समय की बोलचाल की भाषा नहीं है, जिस समय की इसकी रचनाएं मिलती हैं।'[5] यह उस समय के कवियों की भाषा, केवल कविता की भाषा है। उस समय की काव्य भाषा के रूप में अपभ्रंश के प्रचलन का कारण सामंतवाद से उसका संबंध है, जिसकी ओर संकेत करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'कविता राज्याश्रय पाकर हुआ करती थी और इधर हजार–बारह सौ वर्ष से राजपूतों की बड़ी–बड़ी राजधानियां, राजपूताने, गुजरात, मालवा, दिल्ली आदि में रही है।'[6] ये ही सांमती गढ़ अपभ्रंश कविता के केंन्द्र रहे है।'[7]

अपभ्रंश के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारों में अंतर्विरोध है, लेकिन सरहद पाद के दोहे स्वयं इस तथ्य का खण्डन करते हैं कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा नहीं थी। क्योंकि सिद्ध कवि सामंती घरानों से ज्यादा आम लोगों के बीच अपनी जगह बना सके थे। यही स्थिति सिद्धों की भी थी।

हिन्दी कविता की शुरूआत सिद्धों और नाथों से मानी जाती है. यह वह काल था जब साहित्य में संस्कृत का वर्चस्व धीरे–धीरे समाप्ति की ओर था। सिद्धों ने अपभ्रंश में अपनी रचनाएं लिखी। कहा जाता है कि बौद्ध धर्म के वज्रयान शाखा का रूपांतरण सिद्धों के रूप में हुआ। रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, 'चौरासी सिद्ध इन्हीं में से हुए हैं, जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है इन तांत्रिक योगियों को लोग अलौकिक शक्ति सम्पन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। बिहार के नालंदा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इनके अड्डे थे।'[8]

इन सिद्धों की सबसे पुरानी रचना 'सरहपा' की मिलती है। इन्होंने अंतस्साधना पर जोर दिया है और पंडितों को फटकारा–

चंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ ।
दहहि रुद्ध वसंत न जाणा इ ।

अमणागमण तेन विखंडितअ ।
तोवि णिलज्जड़ भणइ हउं पंडिअ ।। [9]

सिद्धों में गोरखनाथ का एक विशिष्ट स्थान आज भी है. जिनका प्रभाव उत्तरी भारत के अलावा महाराष्ट्र और दक्षिण के राज्यों में भी रहा है. रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, 'गोरख नाथ का मूल भी बौद्ध की वही वर्जयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिने गए. पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया था। योगियों की इस हिन्दू शाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और वीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिव शक्ति की भावना के कारण कुछ श्रृंगारमयी वाणी भी नाथ पंथ के किसी–किसी ग्रंथ में मिलती है। गोरखनाथ ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वर प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया।'[10]

रामचन्द्र शुक्ल आगे यह भी कहते हैं, 'गोरखनाथ की हठयोग साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी, अतः उसमें मुसलमानों के लिए भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलाने वाले योग को हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी। उसमें मुसलमानों को अप्रिय मूर्ति पूजा और बहुदेवोपासना की आवश्यकता न थी। अतः दोनों के विद्वेष भाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकालने की संभावना समझी थी, और वे उसका संस्कार अपनी शिष्य परम्परा में ले गए थे। नाथ संप्रदाय के सिद्धान्तों, ग्रंथों में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई हैं, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है। वेद शास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहरा कर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है। तीर्थाटन आदि भी निष्फल कहे गए हैं–

1. योग शास्त्र पठेन्नित्यं किमन्येः शास्त्र विस्तरैः ।
2. नवेदो वेद इत्याहुर्वेदो वेदो निगदयाते ।
   परमात्मा विडयते येन सवेदा वेद उच्यते ।

न संध्या संधि रित्या हू: संध्या संधि निरगद्यते ।।
सुषुम्णा संदिगः प्राण; सा संध्या संधि रूच्यते ।।[11]

सिद्धों और नाथों के बारे में हिन्दी साहित्य में विविध मत दिखाई पड़ते हैं. कुँवर पाल सिंह की मान्यता है, 'आठवीं शताब्दी में सिद्धों और बाद में नाथों ने जातिवहीन समता मूलक समाज बनाने का प्रयास किया था। ये अपने प्रयासों में काफी सफल भी रहे। वैदिक उपासना पद्धति और रूढ़ि ग्रस्त धर्म–साधना के स्थान पर इन्होंने मानवीय गरिमा और समानता पर आधारित धर्म–साधना का प्रचार–प्रसार किया देश के करोड़ों, लोग इनकी ओर आकर्षित हुए। इन्होंने जाति और वर्ण–व्यवस्था को काफी आहत किया। वंचितों को सामाजिक न्याय दिलवाया, लेकिन धीरे–धीरे ब्राह्मणवादी संस्कृति ने इन्हें हाशिए पर रख दिया। सिद्धों को तंत्र–मंत्र, रसायन, रहस्यवाद के आधार पर इतिहास की वस्तु बना दिया। नाथों के साथ वह व्यवहार संभव नहीं था। यह दोनों मठ और मंदिर संस्कृति के घोर विरोधी थे, मूर्ति पूजा में इनका विश्वास नहीं था। इनका देश पर इतना व्यापक प्रभाव था कि दो शहर इनके नाम पर आज भी फल फूल रहे हैं। पंजाब का 'जालंधर' और पूर्वी उत्तर प्रदेश का गोरखपुर। क्रांतिदर्शी गोरखनाथ को मंदिर और मठों मे कैद करके यथास्थितिवाद का परचम लहरा दिया।'[12]

अगले अध्यायों में सिद्धों और नाथों पर विस्तृत चर्चा की जाएगी।

भक्ति काल

रामचन्द्र शुक्ल का कथन है,' जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पदमावत' जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। क्या लोक पक्ष में, क्या अध्यात्म पक्ष, दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और

सरसता दिखाई देती है।'[13]

जायसी की तीन पुस्तकें मिलती हैं–पदमावत, अखरावट और आखरी कलाम। इनका रचनाकाल सन 1520 से 1540 के बीच माना जाता है। 'पदमावत, इनकी सबसे श्रेष्ठ रचना मानी जाती है। 'पदमावत' एक प्रेम गाथा है।

रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, 'कबीर ने अपनी झाड़–फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों के कट्टरपन को दूर करने का जो प्रयास किया, वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं। मनुष्य–मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य जीवन में जिस हृदय भास का अनुभव मनुष्य कभी–कभी किया करता है, उसकी व्यजंना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानियों के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए, उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक–सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान को आमने–सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया. कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का भास दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता नहीं बने थे। यह जायसी द्वारा पूरी हुई थी।'[14]

जायसी की भाषा और उनके वर्णनात्मक चित्रों में भी साधना, सिद्धि आदि की व्यंजना दिखाई देती है। 'पदमावत' की कुछ पंक्तियां देखें–

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बूढ़ी पदमिनिचीन्हा ।।
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिणु गुरू जगत को निरगुन पावा ।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बांधा सोइ न एही चित बंधा ।।

राघव दूत सोई सौतानू। माया अलाउदीं सुलतानू ।।

पद्मावत मसनवी शैली में है। प्रेममार्गी शाखा के जायसी महत्वपूर्ण कवि है। कुतुबन उस्मान, शेखनवी, कासिम शाह, नूर मुहम्मद आदि सूफी आख्यानों के कवि हैं। इस परंपरा में सभी मुसलमान कवि हैं।

भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है. कई विद्वान इसे क्रांतिकारी युग चेतना की अभिव्यक्ति करने वाला युग भी मानते हैं। चन्द्रकान्त बांदिवडेकर की मान्यता हैं कि 'भक्ति साहित्य भारतीय साहित्य इतिहास का सामर्थ्यशाली साहित्य है...भक्ति की प्रचण्ड धारा की गति देखकर ग्रियर्सन जैसे विद्वान चकित होकर इस धारा के मूल स्त्रोत के रूप में ईसाई प्रभाव देखने लगे थे, परंतु परवर्ती विद्वानों ने भक्ति के देशी स्त्रोतों के उद्भव और विकास को रेखांकित करते हुए यह सिद्ध किया कि उसका मूल स्त्रोत वेदों में सशक्त रूप में प्राप्त होता है। महाभारत में विशेषतः गीता में इसके शक्तिमान मूल केंद्र परिलक्षित होते हैं. और दक्षिण के नयनारों और अलवारों की भक्ति साधना से प्रेरित इस धारा को रामानन्द और वल्लभाचार्य उत्तर भारत में ले आए थे। सारांश यह है कि भक्ति धारा का उद्भव एवं विकास भारतीय संस्कृति, देशी मिट्टी और जनता के हृदय से अविभाज्य रूप से संबंध है। विद्वानों ने भक्ति धारा के समस्त देशीय स्त्रोतों के सशक्त संकेत करते हुए, इस बात को सिद्ध किया है कि भक्ति धारा सौ प्रतिशत भारतीय मिटटी से उपजी वस्तु है। अगर ऐसा न होता तो इतना बड़ा शक्तिशाली साहित्य निर्मित ही न होता।'[15]

उपरोक्त पंक्तियों में चंद्रकान्त बांदिवडेकर भक्ति–काल के मूल स्त्रोत वेदों और गीता में तलाशते हैं। लेकिन वे यह भी कहते हैं कि 'समूचे भक्ति साहित्य में दृष्टांत और उपमाओं का जो बाहुल्य है, अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए रोजमर्रा की सामान्य जिंदगी के प्रसंगों, घटनाओं, व्यापारों और व्यवहारों का जो उपयोजन है और श्रोताओं की मानसिकता का जो गौरवपूर्ण आदर किया गया है, वह

लोक साहित्य के सन्निकट है, संस्कृत की विदग्ध परंपरा से उसका विशेष संबंध नहीं है।'[16]

उनकी मान्यताओं में विरोधाभास दिखाई देता है। भक्तिकाल के महत्त्वपूर्ण कवि कबीर बुद्ध के ज्यादा करीब दिखाई देते हैं। नाथ–सिद्ध कवि बुद्ध की वज्रयान शाखा के भिक्षु हैं, इस तथ्य को सभी मानते हैं। हजारों वर्षो से संस्कृत ही साहित्य की भाषा बन कर अपना एक छत्र प्रभुत्व जमाए हुए थी। लेकिन बौद्ध, जैन के समय इसे चुनौती मिली। बुद्ध ने जहां एक ओर संस्कृत के स्थान पर पालि को अपनाया, और महावीर जैन ने प्राकृत को। सिद्धों और नाथों ने अपभ्रंश का प्रयोग किया। भक्ति काल में जनजीवन की आम भाषाओं, बोलियों का जो रूप देखने को मिलता है, उसने साहित्य को जन मानस से जोड़ा। कबीर, रैदास, मीरा, नानक, तुलसी आदि कवियों ने बोलियों और स्थानीय भाषाओं को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। इसका अर्थ यह भी है कि जनजीवन, साधारण जीवन, से जुड़े रचनाकार भक्ति साहित्य के द्वारा साहित्य जगत में स्थापित हुए। और संस्कृत भाषा की शास्त्रीयता की जगह साधारण और जनजीवन से जुड़ी भाषाएं अपनी पहचान बनाने में सफल हुई. कबीर की साधारण आम जीवन से जुड़ी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कह कर रामचन्द्र शुक्ल जैसे उस भाषा का तिरस्कार करते दिखाई देते हैं।

मैनेजर पाण्डेय रामचन्द्र शुक्ल के काव्य भाषा संबंधी दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं, 'वे नाथों–सिद्धों की कविता में 'संस्कृत वाणी' का अभाव देखते हैं, कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी और पॅचमेल खिचड़ी कहते हैं। बीसलदेव रासो की भाषा के बारे में उनका विचार है कि वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। निर्गुण पंथियों में सुंदरदास की रचना उन्हें साहित्यिक लगती है। क्योंकि उनकी भाषा काव्य की मंजी हुई ब्रजभाषा है। वे सूर की वाग्विदग्धता पर ही मुग्ध नहीं होते, वे घनान्न्द की लाक्षणिक वक्रता की जगह–जगह प्रंशसा करते हुए छायावादियों की काव्य भाषा से उसकी तुलना करते

हैं. वे द्विवेदी युग की काव्यभाषा को गद्यावत रूखी, इतिवृत्तात्मक और बाह्यार्थ निरूपक कह कर उसकी आलोचना करते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं हैं कि आचार्य शुक्ल काव्यभाषा में कृत्रिमता, शब्दक्रीड़ा, उक्ति वैचित्र्य, चमत्कारवाद, अलंकारवाद और रीतिबद्धता आदि को पंसद करते हैं। उन्होंने रीतिकालीन कविता की भाषा की इन प्रवृत्तियों का डटकर विरोध किया है, केशव और बिहारी की काव्यभाषा की कारीगरी के नमूनों की बखिया उधेड़कर रख दी हैं।'[17]

नाथ और सिद्ध कवि वज्रयान शाखा के अनुयायी थे, इस तथ्य को रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है, वे कहते हैं कि 'वज्रयान शाखा' के अनुयायी अधिकतर नीची जातियों के थे। अतः जाति–पाति की व्यवस्था से उनका असंतोष स्वाभाविक था। नाथ संप्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान नहीं आते थे। इस संप्रदाय के कनफटे रमते योगी घर के भीतर के चक्रों, सहस्त्र दल, कमल, इला, पिंगला, नाड़ियों, इत्यादि की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी बानियां सुनाकर और करामात दिखा कर अपनी सिद्धायी की धाक सामान्य जनता पर जमाये हुए थे। वे लोगों को ऐसी बातें सुनाते जा रहे थे कि वेद शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा–अर्चना की विधियां व्यर्थ है, ईश्वर तो प्रत्येक घट के भीतर है, अंतर्मुख साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता हैं।'[18]

उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणवादी और वैदिक धर्म से जुड़े रीति रिवाजों का ये नाथ और सिद्ध विरोध कर रहे थे और उनकी लोकप्रियता बढ़ रही थी जिससे ब्राह्मण, पांडे, पुजारियों को दिक्कतें होने लगी थी। उनका वर्चस्व समाज में ढ़ीला पड़ रहा था। इस परंपरा के कवि गोरखनाथ का प्रभाव समाज पर पड़ा जो आज भी विद्यमान हैं।

रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति चेतना को इस्लामी आक्रमण से खिन्न और पराजित भारतीय जनता की निराशा की व्यंजना माना है जो अपने दुःख–दर्द को भगवान के चरणों में सिमटकर भुला देना चाहती थी। पर हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्थापना इसके विपरीत रही है।

उनका मानना है कि 'यदि भारत में इस्लाम न भी आया होता तो भी भक्ति काव्य की धारा इसी रूप में होती।'[19]

'इतिहास की चिंता करना और ऐतिहासिक यथार्थ की उपेक्षा करना एक तार्किक असंगति है। साहित्येतिहास में ऐतिहासिक यथार्थ की समझ के बिना उससे उत्पन्न साहित्य का सम्यक बोध केवल काव्यशास्त्र के आधार पर नहीं हो सकता। एक काल विशेष के साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति या विभिन्न प्रवृत्तियों का उत्स उस काल का सामाजिक जीवन होता है, केवल साहित्य की परंपरा नहीं। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल पर विचार करने वालों को इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना होगा कि वे कौन से कारक तत्व थे, जिनके परिणाम स्वरूप भारतीय साहित्य के हजारों वर्षो के इतिहास में वर्ण–व्यवस्था की दलित जातियों में भक्तिकाल में पहली बार अनेक महत्त्वपूर्ण कवि पैदा हुए ? दलित जातियों के इस रचनात्मक उन्मेष के कारणों की खोज के बिना भक्ति कालीन कविता का मूल्यांकन अधूरा होगा। केवल नाथों और सिद्धों की परंपरा में संत कवियों की रचना शीलता के कारणों की खोज करना पर्याप्त नहीं है...उस काल के सामाजिक जीवन और ऐतिहासिक यथार्थ के विश्लेषण से ही संत कवियों की उस रचनाशीलता के प्रेरक तत्वों की पहचान हो सकती है, जो धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त जड़ता और शास्त्रीयता का खण्डन करती है।' [20]

संतों की रचनाओं में जहां एक ओर सामाजिक व्यवस्था से विद्रोह के स्वर दिखाई देते हैं, वहीं उनका स्वर सुधारात्मक ज्यादा हैं, जिसके कारण रूढ़ियों, आडंबरों और वर्ण–व्यवस्था के विरुद्ध उठाई गई उनकी आवाज दब कर रह जाती है। वह सामाजिक जीवन में किसी बड़े बदलाव का कारण नहीं बन पाती हैं।

मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं,' सभी तरह के सुधारवादी आंदोलनों के साथ ऐसा ही होता रहा है। वे आंदोलन चाहे किसी भी युग में हुए हों। इसका मुख्य कारण तो यही माना जा सकता है कि

समानता की धारा जितना आगे बढ़ती है, रूढ़िवादी जमात उसी धारा को उतना ही पीछे ले जाने के प्रयास करती रही है। अनेक युगों के इतिहास में इस तरह की कशमकश देखी जा सकती है। जहां–जहां नवजागरण के क्रांतिकारी दस्तावेज हमारे सामने हैं, वहीं रूढ़ियों तथा परम्पराओं की सनातनी धरोहर भी तत्कालीन भारतीय समाज को अपनी उपस्थिति भी बराबर याद दिलाती रहती हैं।'[21]

कबीर का संत परंपरा में एक विशिष्ट स्थान हैं। उनके गुरु रामानन्द, जो सगुण धारा के भक्त थे, को लेकर भी विद्वानों में मतभेद हैं। यदि रामानन्द सगुण थे, तो उनका शिष्य निर्गुण कैसे हुआ, यह भी सवाल सामने आता है। सगुण और निर्गुण को लेकर भी कई तरह की भिन्नताएं हैं, जो यह सिद्ध करती है कि सगुण और निर्गुण होना भी जाति आधार पर ही था। जितने भी उस काल के संत हैं, उनमें जो निम्न जातियों से आए हैं, वे सभी निर्गुण हैं। इसी तरह जो उच्च जातियों से हैं, वे सभी सगुण हैं। कबीर रैदास, दादू, आदि। इन संतों की वाणी में जो ''सुरति'' और 'निरति' शब्द आए हैं, वे बौद्ध सिद्धों के हैं। बौद्ध धर्म के अष्टांगिक मार्ग हैं–सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि। 'सम्यक स्मृति 'वह दशा है, जिसमें क्षण–क्षण पर मिटाने वाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी श्रृंखला बंध जाती है। समाधि में साधक सब संवेदनाओं से परे हो जाता है। अतः 'सुरति', 'निरति,' शब्द योगियों की वाणी से आए हैं, वैष्णवों से उनका कोई संबंध नहीं हैं।'[22]

'दलित जातियों के निर्गुण संतों को भक्ति के दौरान दोहरे काम करने पड़े थे। इनकी एक लड़ाई अपने–आप से थी और दूसरी लड़ाई समाज से थी। ब्राह्मण के सिवा कोई दूसरा व्यक्ति भक्ति नहीं कर सकता था। निर्गुण संप्रदाय के दलित संतों की जातियां नीची मानी जाती थी। इसके विपरीत सगुण संप्रदाय के संतों की जातियां ऊंची मानी जाती थी। यही कारण रहा है कि दलित जातियों के संत ईश्वर के सामने अपनी नीची जाति को लेकर विनीत ही बने रहे। दूसरी ओर

उन्होंने समाज में फैली जातीय विषमता के खिलाफ भी संघर्ष किया।'[23]

रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, 'कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए, ब्रह्म के पर्याय हुए–

दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना ।
राम नाम का मर्म न जाना ।।

सारांश यह है कि जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठ योगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावनात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं।'[24]

संतों के आंदोलन का अंजाम क्या हुआ यह इतिहास में एक खुले पृष्ठ की तरह है। 'यह आंदोलन छला गया और अंततः विफल हुआ। यह कैसी विडंबना है कि जिस आंदोलन के प्रथम चरण के कबीर 'एक खून, एक मल मूतर, एक चाम, एक गुदा, एक रीति से सब उपजाना, को बामन को सूदा', कहते हैं, उस आंदोलन के आखिरी चरण में तुलसी, 'पूजिय विप्र जो वेद विहिना, शूद्र न शील गुण ज्ञान प्रवीणा' कहते हैं। कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि ने जिस सामाजिक बराबरी के आंदोलन को पुख्ता किया था, उसे तुलसी ने बड़ी होशियारी से बर्बाद कर दिया और भक्ति आंदोलन के बीच वर्णवादी पताका खड़ी कर दी। गजानन माधव मुक्तिबोध पूछते हैं– ''क्या कारण हैं तुलसी दास भक्ति आंदोलन के (हिन्दी क्षेत्र) प्रधान अंतिम कवि थे।'' वे ही जवाब भी देते हैं – ''उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति

आंदोलन में शोषित जनता का बड़ा हाथ था। फिर समाज की शासक सत्ता को भला यह कब अच्छा लगता ?''[25]

रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता है कि 'यह 'निर्गुण पंथ' के नाम से जो प्रसिद्ध हुआ, इसकी ओर ले जाने वाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊंच–नीच और जाति–पांति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समान अधिकार को स्वीकार था।'[26]

उनका यह भी कहना है कि 'महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी भाषा के अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएं प्रचुर परिणाम में मिलती हैं। इन हिन्दी रचनाओं में एक विशेष बात यह पायी जाती हैं कि कुछ तो सगुणोपासना से संबंध रखती हैं और कुछ निर्गुणोपासना से।' [27]

'हिन्दी और मराठी के मध्यकालीन संत कवियों का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य हैं, उनका अनन्य स्वभाषा प्रेम। ज्ञानेश्वर ने तो मराठी की आद्य महान रचना ज्ञानेश्वरी में ही प्रतिज्ञा की थी – 'माझा म–हाटाची पौलू कविते के। परि अमृतार्ते पैजा जिंके ऐसि अक्षरें रसिके। मेलवीन। अर्थात अमृत को भी मात देने वाली मराठी के अक्षरों को मैं रसिक के प्रति समर्पित करूंगा। ज्ञानेश्वर के दोनों ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी 'और 'अमृतानुभाव' मराठी के अजस्र सामर्थ्य को प्रमाणित करते हैं...यह मराठी भाषा के प्रति प्रेम जनजीवन के प्रति एकाकार होने के परिणाम स्वरूप पैदा हुआ, और यह जनजीवन के साथ मध्यकालीन सभी संतों में परलक्षित होती है।' [28]

भाषा के प्रति उस काल के सभी संतों में यह प्रेम दिखाई देता है। चाहे वे ज्ञानेश्वर हों, तुलसीदास या कबीर। लेकिन वर्ण–व्यवस्था और जातिभेद को लेकर दो अलग–अलग पांत दिखाई देती हैं। जहां ज्ञानेश्वर ने ब्राह्मण–चाण्डाल का भेद करने वाली ओवी लिखी हैं, वहीं तुलसीदास ने – 'ढ़ोल गंवार शूद्र पशु अरू नारी, ये सकल ताड़न के अधिकारी' कह कर वर्ण–व्यवस्था को मजबूत किया है। स्त्री को

लेकर भी संतों में नकारात्मक दृष्टि दिखाई देती है जबकि कबीर और रैदास जातिभेद का विरोध करते दिखाई देते हैं।
रैदास को देखें–

रैदास जन्म के कारनै होई न कोई नीच ।
नर को नीच करि डारि हैं, ओछे करम की कीच।।

'क्या यह महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्न जाति, शूद्र वर्गों से नहीं आया था। क्या यह महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं की कृष्ण भक्ति शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम जैसे संवेदनशील मुसलमान कवि बराबर रहे, किन्तु रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विकसित नहीं कर सका। निष्कर्ष यह है कि जो भक्ति आंदोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कटट्रपन के विरुद्ध दलितों की आकांक्षा बोलती थी, उसका मनुष्यत्व बोलता था, उसी भक्ति आंदोलन को उच्च वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया और उससे समझौता करके फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके और अनंतर जनता के तत्वों को उसमें से निकाल कर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।'[29]

सगुण धारा के कवियों की परंपरा रामानुजार्य की रामभक्ति से प्रारम्भ मानी जाती है। रामानन्द उसी परंपरा में माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है, 'रामानुज संप्रदाय में दीक्षा केवल द्विज जातियों को ही दी जाती थी, पर स्वामी रामानन्द ने रामभक्ति के द्वार सब के लिए खोल दिये...भक्ति मार्ग में इनकी उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं –जैसा की कुछ लोग समझा और कहा करते हैं – कि रामानन्द जी वर्ण–व्यवस्था के विरोधी थे। समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए, वे भिन्न–भिन्न कर्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे...कर्म के क्षेत्र में शास्त्र मर्यादा इन्हें मान्य थी। पर

उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध वे नहीं मानते थे।'[30]

यहां यह उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा कि 'रामभक्ति' सगुण धारा में कोई भी मुसलमान या निम्न जाति में जन्मा कोई कवि नहीं है। जबकि कृष्ण शाखा में रहीम, जायसी, रसखान आदि हैं। ऐसा क्यों हुआ? यह सवाल यहां बना हुआ है। क्या वर्ण–व्यवस्था की मान्यताएं इसका एक कारण हो सकती है। जिसका विरोध रैदास, कबीर, नानक, और दादू कर रहे थे।

'12वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में 'महानुभाव पंथ' का प्रवर्तन हुआ। वहीं तेरहवीं सदी में 'वारकरी पंथ' का आर्विभाव हुआ। इन दोनों पंथ के संतों ने अपनी रचनाओं में जनभाषा खड़ी बोली का व्यवहार किया। वारकरी पंथ' में नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि संत हुए हैं।'[31]

नामदेव की एक कविता देखें–

पाण्डे तुम्हारी गायत्री
लोंन्धे का खेत खाती है
लेकर ढेंगा–टेंगरी तेरी
लांगत–लांगत जाती थी
पाण्डे तुम्हारा महादेव
धौले बलद चढ्या आवत्त देखा था।।
मोदी के घर खाना पाका
वा का लड़का मारया था।[32] (ग्रंथ साहित्य, पृष्ठ–075)

'मराठी में अधिकांश संत वारकरी पंथ के रहे हैं, जिनका देवता पंढ़री का विठ्ठल है और यह कृष्ण का ही एक नाम है। विठ्ठल रखुमाई के प्रति अतीव भक्तिभाव से प्रेरित मुक्त रचना ओवी और अभंग छंदों में संतों ने की। वैसे महाराष्ट्र में नाथपंथ पर जोर रहा है और हिन्दी में जो निर्गुण धारा है, वह नाथपंथ के रूप में महाराष्ट्र में प्रचलित थी।

लेकिन ज्ञानेश्वर नाथपंथी होते हुए भी वारकरी पथ के प्रतिष्ठापक रहे...एकनाथ ने वारकरी पंथ के मंदिर की दीवारों को मजबूत बनाते हुए भी भावार्थ रामायण लिखी। एकनाथ से रामभक्ति की प्रेरणा लेकर रामदास ने रामभक्ति को महाराष्ट्र में संगठित रूप दिया।' [33]

'हिन्दी संतों पर सूफी विचारधारा और काव्यरूप का सीधा प्रभाव पड़ा। वैसे भी जो माधुर्य भाव सूर और मीरा में पाया जाता है, उस तरह का माधुर्य भाव मराठी संतों की कविता में अपवादात्मक स्थानों पर परिलक्षित होता है। मराठी संत भगवान से सखाभाव से पेश आते हैं। कभी–कभी तुकाराम जैसा संत कोप से विठ्ठल को गालियां भी देता है, परंतु सामान्यतः विठ्ठल के प्रति मर्यादावादी दृष्टि से ही भावुक भक्ति की व्यंजना होती है। सूर के काव्य को प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप में जयदेव और विद्यापति की लौकिक श्रृंगारपरक मांसलता ने निश्चय ही प्रभावित किया है। मराठी संतों की कविता आरंभ से ही ज्ञानेश्वर के पांडित्य एवं अलौकिकता से प्रभावित है। मराठी में ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी लिखी जो भगवद गीता पर विस्तृत काव्यात्मक भाष्य है।'[34]

'ज्ञानेश्वर की काव्यकला, भक्ति भावना, संतत्व, आदर्श की भव्यता और धर्म भावना का बीज रूप जिन पंक्तियों में यहाँ होता है, ज्ञानेश्वरी के अंतिम अध्याय में लगभग अंत में वे आवेग से गा उठते हैं–

आतां विश्वात्मकें देवें ।
येणे वाय यज्ञें तो तोषावें
तेषोणि मज द्यावें । पसायदान हें ।।
जे खलाची व्यंकटी सांडो
तथा सत्कर्मी रतीवाढ़ों ।
भूता परस्परेंपड़ो। मैत्रजीवाचे ।।

अब विश्वात्मदेव (श्री निवृत्ति नाथ) मेरे इस वाक यज्ञ से संतोष करें और संतुष्टि से मुझे प्रसाद दान दें। जो खल हैं उसकी वक्रता, कुटिलता नष्ट हो, सत्कर्म में उनकी रति बढ़ जाए। भूत मात्र में पारस्परिक मित्रभाव उत्पन्न हो।'[35]

'संत तुकाराम लिखित 'तुकाराम गाथा' तुकाराम की संवेदना का काव्यात्मक इतिहास है। उनकी रचना का वैशिष्टय यह है कि भक्तिभावना से संस्कारित आस्तिक पाठक उनकी रचना के प्रेमी हैं। और आधुनिक संस्कारों के नास्तिक पाठक भी उनकी रचना की काव्यात्मकता के विलक्षण प्रेमी हैं। तुकाराम ने लोक भाषा की नस पकड़ कर व्यावहारिक दृष्टांतों से जीवन पर भाष्य किया है। जीवन के हर्ष–खेद, सुख–दुःख के सैकड़ों प्रसंगों और जीवनानुभवों को तुकाराम ने मार्मिक ढंग से वाणी दी है।'[36]

लालजी पेंडसे के कथनानुसार, 'तुकाराम ने कभी–कभार उक्ति में तीखापन दिखाया तो था, फिर भी व्यवहार में वे ठिठके हुए, संशक और असहाय लगते हैं। उदाहरणार्थ, उच्च–नीच के सवाल पर उन्होंने टीका की है, वैसे ही 'जहां जिसका मन हो उस पंगत में भोजन करना, कोई किसी से छूआछात नहीं मानता 'ऐसी शिकायत भी उन्होंने की। गृहस्थी पर उन्होंने झुंझलाहट की हद तक अभिव्यक्ति दी है। एकनाथ और तुकाराम के बीच का यह अंतर उन दोनों की परिस्थितियों में अंतर का द्योतक है। सामाजिक जीवन में परिवर्तन होने की जो परिस्थिति ज्ञानेश्वर–एकनाथ के समय दिखती थी, वह तुकाराम–रामदास के समय दब गई थी...इसीलिए प्रचंड प्रक्षोभ का यह प्रवाह नवजीवन निर्माण के मार्ग से आगे बढ़ाने की बजाए, जिस वर्ण–धर्म–भ्रष्टता के कारण दुख परंपरा पैदा हुई, ऐसी मान्यता थी, उस चातुर्वण्य के पुनर्गठन की ओर मुड गया. रामदास ने इस कार्य को हाथ में लिया। फिर ब्राह्मण 'गुरु का गुरु ''देव' समान बन गया। टूटने के कगार पर या वर्णाश्रम धर्म की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की पुनः स्थापना हुई।'[37]

मराठी संत कवियों के बाद सन 1680 से 1800 तक के काल में कोई मराठी का महत्त्वपूर्ण कवि नहीं दिखता हैं। मोरोपांत, श्रीधर प्राचीन परंपरा के संवाहक थे। समकालीन जीवन के प्रति उनमें सजगता नहीं थी। सन 1800 से 1874 के काल को एक स्वतंत्र साहित्यिक युग माना जाता है।

शिवकुमार मिश्र ने भक्ति आंदोलन की तुलना भारत के स्वाधीनता आंदोलन से की है। उनका कथन है, 'अपने सारे आरोह–अवरोह के बावजूद यह भक्ति आंदोलन भारतीय जनजीवन के सबसे बड़े आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उत्थान के रूप में ही अपनी पहचान कराता है।'[38]

'अब प्रश्न यह है कि जिस आंदोलन की शुरुआत व्यापक फलक पर हुई और जिसकी तुलना सिर्फ और सिर्फ स्वाधीनता आंदोलन से की जा सकती है, वह सत्रहवीं शताब्दी तक आते–आते लड़खड़ा क्यों गया? मुक्तिबोध इसके लिए सगुण धारा की शास्त्र सापेक्षता को जिम्मेदार ठहराते हैं। उनका कहना है कि 'जो भक्ति आंदोलन जन–साधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जन–साधारण की सांस्कृतिक आशा–आकांक्षा बोलती थी, उसका मनुष्य–सत्य बोलता था, उसी भक्ति आंदोलन को उच्च वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह से बना लिया, और उससे समझौता किया, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके और अनंतर जनता के अपने तत्वों से निकाल कर उन्होंने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।'[39]

यह एक त्रासदी ही कही जाएगी, बल्कि यदि इसे भक्ति काल की विफलता के रूप में आंका जाये तो गलत न होगा कि भक्तिकाल की परिणिति रीतिकाल में होती है जहां स्त्री, श्रृंगारिकता, भोग विलास और राजा, महाराजाओं के यशोगान तक कविता सिमट कर रह जाती है। इसीलिए मुक्तिबोध को कहना पड़ा, 'उच्च वंशी उच्चजातीय वर्गो का समाज के संचालक शासक वर्गो का धार्मिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर, साहित्यिक क्षेत्र में उन वर्गो का

प्रधान भाव–श्रृंगार–विलास का प्रभावशाली विकास हुआ और भक्ति काव्य की प्रधानता जाती रही।'[40]

के. दामोदरन भी इसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। उनका कहना है–' भक्ति आन्दोलन ने आम जनता में जागृति तो पैदा की, किन्तु वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौजूद विसंगतियों के वास्तविक कारणों को समझने और मानव के दुखों और पीड़ाओं के नूतन समाधान प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुआ। यही एक मुख्य कारण है कि इस आंदोलन की परिणिति, जिसने सामंती उत्पीड़न और पुरोहिती रूढ़िवाद के विरुद्ध जनता को संयुक्त क्रिया था, अंततः घोर संकीर्णता में हुई।'[41]

यहां एक तथ्य पर ध्यान जाता है कि भक्तिकालीन निर्गुण और सगुण धारा भी जातीय आधार पर बंटे दिखाई देते हैं। दलित और निम्न कही जाने वाले जातियों में जनमे सभी संत निर्गुण हैं और ब्राह्मण तथा उच्च कही जाने वाले जातियों में जनमे संत सभी सगुण हैं। यह तथ्य सर्व विदित है।

आधुनिक काल

'आधुनिक हिन्दी परंपरा का प्रारम्भ भारतेन्दु (सन 1850) से माना जाता है। भारतेंदु और महावीर प्रसाद द्विवेदी के महत्त्वपूर्ण योगदान से आधुनिक हिन्दी कविता का विकास हुआ, और रीति कालीन हास–विलास, वासनामूलक प्रेम और निष्प्राय कल्पना के स्थान पर स्वस्थ प्रेम की अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जाने लगा। जीवन की प्रत्येक समस्या पर गहन चितंन कर सामाजिक कमजोरियों को दूर करके स्वस्थ जीवन दृष्टि प्रदान करने के अथक प्रयास किए गए। भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग का पुनरुत्थानवादी स्वर प्रबल था। इसकी प्रतिध्वनि सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में सुनाई दी।'[42]

रामबिलास शर्मा भारतेन्दु के योगदान को रेखांकित करते हुए कहते हैं, 'भारतेन्दु युग की सबसे बड़ी खूबी यह है की वह जनता का

साहित्य है, उनकी भाषा न दरबारी है, न सरकारी अफसरों और कचहरी के मुहर्रिरों की। यह जनता की भाषा है, जिसमें अत्यधिक ग्राम संपर्क के चिन्ह भले हों, नागरिक बनाव–सिंगार और टीपटाप का अभाव है।'[43]

जहां एक ओर रामबिलास शर्मा भारतेंदु की भाषा और उनके साहित्य को जनता से जोड़कर देखते हैं वहीं मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी भी ध्यान आकर्षित करती है। उनका कहना है, 'हिन्दी नवजागरण में जाति प्रथा के विरोध की चेतना अत्यंत कमजोर है। क्योंकि यहां जाति प्रथा के विरुद्ध न कोई प्रभावशाली आंदोलन चला है, न उसके विरोध में वैचारिक संघर्ष की शक्तिशाली परंपरा ही बनी हैं। [44]

भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर टिप्पणी करते हुए डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं, 'भारतेन्दु में जो अंतर्विरोध दिखता है, उसका कारण इस विरासत के प्रति उनका गहरा लगाव है। उनके मध्यकालीन संस्कार और नई युग चेतना में काफी कशमकश होती रही है। राज्य भक्ति, देशभक्ति, गद्य की भाषा, पद्य की भाषा, आस्तिकता–नास्तिकता का अंतर्विरोध पुरातन और नये संस्कारों का अंतर्विरोध है–

> सिसुताई अजों न गई टंटे, तू जोबन जोति बटोरे लगी।
> सुनी के चरचा हरिश्चंद्र की, कान कछुक दे, भौंह मरोरे लगी।
> बची सासु जेठानिनि सौं, पियतें दुरि घूंघट में दृग जोरे लगी।
> दुलही उलही सब ऑगन ते, दिन द्वै टाई पीयूस निचोरे लगी।[45]

'आधुनिक शब्द दो अर्थों की सूचना देता है–मध्यकाल से भिन्नता की और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण की, मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था। एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे तोड़कर गत्यात्मक बनाया। मध्यकालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और

कला के माध्यम से समझा जा सकता है। रीतिकाल की कला और साहित्य अपने–अपने कथ्य, अलंकृति और शैली में एक रूप हो गए थे। वे घोर श्रृंगारिकता के बंधे घाटों में बह रहे थे। इन छंदों में न वैविध्य था और न विन्यास (डिक्शन)। एक ही प्रकार के छंद एक ही प्रकार के ढंग। आधुनिक काल के बंधे हुए घाट टूट गए और जीवन की धारा विविध स्त्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के वृहत्तर सुख–दुःख के साथ पहली बार जुड़ा। आधुनिक शब्द से जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है, वह है इहलौकिक दृष्टिकोण। धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र, आदि सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आछन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी। पर आधुनिक युग में मनुष्य अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिकों और चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आर्विभाव हुआ उनकी मूल चिंता धारा इहलौकिक ही है। सुधार–परिष्कार, अतीत का पुनराख्यान, नवीन दृष्टिकोण का फल है। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गई–ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली ने ले ली।'[46]

अनेक विद्वानों का मत है कि भारतेंदु युग पुनर्जागरण या नवजागरण के नाम से भी जाना जाता है। लेकिन डॉ. बच्चन सिंह इससे सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि 'पूर्व पीठिकाओं के साथ विधाओं की संगति नहीं बैठ पाती हैं। भारतेन्दु के नाटकों की खतौनी से पुनर्जागरण का दूर तक का भी रिश्ता नहीं हैं।'[47]

मराठी में आधुनिक संवेदना का शक्तिशाली विस्फोट पहली बार केशवसुत (सन 1866–1905) की कविताओं में हुआ। चन्द्रकान्त बांदिबडेकर लिखते हैं–'केशवसुत पहले कवि थे, जिन्होंने अपने समग्र कवि व्यक्तित्व से प्रेरित होकर कविता लिखी। महाराष्ट्र की आत्मा में संत परंपरा और आधुनिकता का जो घुलाव हो रहा था, उसका काव्यात्मक रूप केशव सूत की कविता में प्रकट हुआ। इसीलिए

आधुनिक मराठी कवि के जनक केशवसुत की आंतरिक संवेदना का विचार करना आवश्यक हैं।'[48]

केशवसुत की कविता पर टिप्पणी करते हुए चन्द्रकान्त बांदिवडेकर कहते हैं –नवा शिपाई' कविता में केशवसुत ने नए युग के नए मनुष्य की अपनी अवधारणा को काव्यात्मक ढंग से व्यक्त किया है। यह सिपाही लड़ाकू है तथा नया है। यह निष्क्रिय नहीं है। केशवसुत का यह नया मनुष्य किसी विशिष्ट जाति या धर्म का नहीं हैं। वह कहता है–

'ब्राहमण नहीं,
हिन्दू हो नाही,
न भी एक पंथाचा ।
तेच पतित की जे आखंडिती प्रदेश समल्याचा ।'

जो समग्रता के क्षेत्र को संकुचित करते हैं, वे पतित लोग हैं। यह नया मनुष्य किसी विशिष्ट जाति या धर्म का नहीं हैं...यह नया सिपाही कहता है–'मलयास माइया, कुंपण पड़ने मला न साहे? 'और 'जीकड़े जावें तिकडे माझी भावांडे आहेत' अर्थात वह अपने खेत पर किसी प्रकार का बड़ा नहीं चाहेगा, जहां जाता है, वहां उसके भाई–बहन दिखते हैं।

'पूजिस से भी कवणाला ?
तर भी पूजी आपूल्याला।
अपल्यामध्ये विश्व पाहुनी।
पूजी भी विश्ववाला'

अर्थात मैं किसकी पूजा करता हूं? मैं अपने विश्व देखकर विश्व की पूजा करता हूं। यहां आत्मा–परमात्मा के अद्वैत की कल्पना तो है ही,

साथ व्यक्तिवाद और विश्ववाद का समन्वय भी है। कवि भौतिक धरातल पर द्वैत को त्यागना चाहता है।'[49]

केशवसुत की 'तुतारी' कविता का प्रभाव मराठी कवियों पर पड़ा है। वे इस कविता में जड़ता, मूल्यहीनता, रूढ़ियों आलस्य, निष्क्रियता, पुराण प्रियता आदि के खिलाफ तुरही बजाना चाहते हैं।

'मराठी के महत्त्वपूर्ण कवि पारायण वामन तिलक प्रकृति प्रेम के कवि माने जाते हैं। इसी तरह विनायक जनार्द्दन करंदीकर (1873–1909) आधुनिक कविता में एक विशिष्ट कवि माने जाते हैं जिन्होंने राजनीतिक जीवन की उद्ध्वस्तता को अपनी कविता का केंद्रीय भाव बनाया था। 'हतभागिनी' कविता में भारत की निराशाजनक अवस्था के चित्रण किए हैं।

'सन 1925 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना हुई। शुद्धिकरण का आंदोलन तेज हुआ। मुसलमानों में अलगाव की भावना तीव्र होते दिखने लगी थी। सावरकर के हिन्दू संघटन का विचार व्यवहार में उतरने लगा। उधर महात्मा गांधी के विचार का प्रसार भी होने लगा। मार्क्सवादी विचारधारा की जड़े जमने लगी, अम्बेडकर के विचार भी दलित समाज में 'जाग्रति' उत्पन्न करने लगे थे, लेकिन महाराष्ट्र का बुद्धिजीवी साहित्यकार हाशिये पर ही रहा। उसने किनारे पर रह कर जीवन सागर की लहरों का नर्तन देखा। अधिक से अधिक ज्ञान के विविध केंद्रों में उसने भाग लिया। कविता में व्यक्तिक अनुभव हावी हो गया।'[50]

हिन्दी में 'सरस्वती' पत्रिका और उसके संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यह पत्रिका सन 1989 में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से शुरू हुई थी। सन 1903 में इस पत्रिका के संपादन का भार महावीर प्रसाद द्विवेदी को सौंपा गया था। द्विवेदी ने जिस लगन, निष्ठा, योग्यता और परिश्रम से 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन किया वह अपने आप में एक इतिहास बन गया। जहां एक ओर उन्होंने गद्य की भाषा को परिमार्जित कर उसे नयापन दिया, वहीं कविता की भाषा को भी ब्रज भाषा से खड़ी बोली की ओर लाने का

कार्य किया। साहित्य के इस युग को इतिहासकार द्विवेदी–युग के नाम से जानते हैं।

कहा जाता है कि द्विवेदी युग की कविता इतिवृतात्मक हो गई थी। इसमें रीतिकालीन हास–विलास मूलक प्रेम और निष्प्राण कल्पना के स्थान पर स्वस्थ प्रेम को स्थान मिला। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, तथा आर्थिक स्थिति में हो रहे परिवर्तन पर गहन चिंतन कर उसे साहित्य में अभिव्यक्ति दी गई। इस काल में कविता पूर्ण रूप से परंपरा से मुक्त न हो सकी। उसके मनोरंजक और उपदेश प्रधानता के कारण कविता मंगल विधायिनी ही बनी रही। यह समय पुनरूत्थान युग था। कवि की दृष्टि बाह्यमुखी अधिक अंतर्मुखी कम थी। द्विवेद्वी की रचना पद्वति भी जब परंपरागत पद्वति को पूर्णतः छोड़ न सकी, उस समय अभिव्यक्ति के नयेपन की खोज शुरू हो गई थी। यह समय प्रथम महायुद्व की समाप्ति का था। प्राचीन रूढ़ियों के प्रति इस युग के रचनाकारों के मन में विद्रोह जागृत हुआ। महायुद्ध के विनाश ने साहित्यकारों को सोचने पर मजबूर किया। देश और समाज की तत्कालीन समस्याओं पर सोचने के स्थान पर साहित्यकार स्वयं को केंद्र मानकर रचना करने लगा। यहीं से छायावादी युग की शुरूआत होती है।

डॉ. रघुवंश की मान्यता है, 'इस आने वाले युग का साहित्य अधिक व्यक्तिवादी और अंतर्मुखी हो उठा, उसने कला को प्रधानता दी। युगों के मूर्त आधार को अमूर्त लाक्षणिक कल्पनाओं से सजाना आरंभ किया और यह छायावादी युग है। जिसके लिए युग के पूर्वाद्ध में काफी विस्तृत भूमिका तैयार हो चुकी थी।' [51]

छायावादी काल

सामाजिक, राजनीतिक आंदोलनों की तीव्रता ने हिन्दी साहित्य में स्वच्छंदतावादी चेतना को बढ़ावा दिया जिसके फलस्वरूप छायावादी कविता सामने आयी। 'छायावाद' (सन 1920–1940) को लेकर अनेक

मत हिन्दी साहित्य में मिलते हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने 'छायावाद' को सकारात्मक अर्थों में नहीं लिया। छायावाद ही नहीं 'निराला' की कविताओं पर नकारात्मक टिप्पणी की थी। रामचन्द्र शुक्ल का कथन है, 'निराला जी पर बंग भाषा की काव्य शैली का प्रभाव समास में गुंफित पदवल्लरी, क्रियापद के लोप आदि में स्पष्ट झलकती है। लाक्षणिक वैलक्षण्य लाने की प्रवृत्ति इनमें उतनी नहीं पायी जाती जितनी 'प्रसाद' और 'पंत' में। सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यों में चरणों की स्वच्छंद विषमता है। कोई चरण बहुत लंबा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत –से लोग 'रबर–छंद', 'केंचुआ–छंद' आदि कहने लगे थे। बेमेल चरणों की विलक्षण आजमाइश इन्होंने सबसे अधिक की है।'[52]

रामचन्द्र शुक्ल की उपरोक्त टिप्पणी के उत्तर में निराला ने विरोध में लिखा था, 'पंडित रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य रहस्यवाद' नामक पुस्तक उनके आलोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्या अभिमान, गुरूडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलाने वालों के प्रति उनकी अपार घृणा सोचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी कृति शकुंतला का कुछ बिगाड़ नहीं सके। अपने शाप से उसे और चमका दिया।'[53]

छायावाद के विशिष्ट कवि निराला को बाद के समीक्षकों ने वर्ग–भेद का कवि कहा है। यह उनकी फुटकर कवितायें–विधवा, दीन, और कुकुरमुत्ता आदि अनामिका (1938) में संकलित हैं। कुकरमुत्ता के आधार पर कई आलोचक उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव सिद्ध करने की कोशिश करते हैं–

शाहों, राजाओं, अमीरों, का रहा प्यारा–
इसीलिए साधारणों से रहा न्यारा
वरना क्या हस्ती है तेरी, सोच तू
कली जो चटकी अभी
सूख कर कांटा हुई होती है कभी

रोज पड़ता रहा पानी
तू हरामी खानदानी। (निराला, कुकरमुत्ता)

लेकिन किसी एक या दो कविताओं के आधार पर किसी भी कवि की वैचारिकता तय नहीं हो सकती। उनकी अधिकांश रचनाओं पर द्वैत दर्शन और अतीत मोह का प्रभाव ज्यादा हैं। 'उनकी' कविता 'महाराज शिवाजी का पत्र' के संबंध में दूधनाथ सिंह ने कहा है कि इसमें बार–बार सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति की चर्चा की गई है। उन्होंने भारतीय का अर्थ हिन्दू से लिया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि इस आधार पर कहा जा सकता है कि वे हिन्दुओं के कवि हैं। निराला हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात कम से कम इस कविता में नहीं सोचते। निराला की साहित्य–साधना में रामबिलास शर्मा ने उन समस्त परिस्थितियों का उल्लेख किया है, जिनमें यह कविता लिखी गई। उसमें कुछ ऐसा अवश्य है जिसे हिन्दू संगठन के लोगों ने अपने पक्ष में इस्तेमाल किया।'[54]

उपरोक्त लंबी कविता का एक अंश प्रस्तुत है–

और भी कुछ दिनों तक
जारी रहा ऐसा यदि अत्याचार, महाराज,
निश्चय है, हिन्दुओं की
कीर्ति उठ जाएगी–
चिन्ह भी न हिन्दू–सभ्यता का रह जाएगा।
कितना आश्चर्य है ।
मुट्ठी–भर मुसलमान पाले आतंक से हैं
भारत के अंक पर

अपनी प्रभुता में
हैं मानते इस देश को,
विश्रृंखल तुम–सा यह हो रहा .

देखते नहीं हो क्या,
कैसी चाल चलता है रण में औरंगजेब ?
बहुरूपी, रंग बदला ही किया।
सांकले हमारी हैं
जकड़ रहा है वह जिनसे हिन्दुओं के पैर।
हिन्दुओं के काटता है सीस
हिन्दुओं की तलवार से ।

याद रहे,
बर्बाद जाता है हिन्दू–धर्म, हिंदुस्तान' ! [55]

ऐसी ही उनकी एक कविता 'सम्राट अष्टम एडवर्ड के प्रति' भी है, जहां सम्राट का यशोगान करते है। यह कविता उस वक्त लिखी गई, जब स्वतंत्रता आंदोलन अपने शिखर पर है। प्रगतिशील लेखक संघ अस्तित्व में आ चुका था। उस समय छायावादी युग के महाकवि निराला सत्ता शिखर के यशोगान में डूबे दिखाई देते हैं। यह हिन्दी कविता जगत की एक त्रासदी ही कही जाएगी। इस कविता के अंश प्रस्तुत हैं–

'वीक्षण अराल–
बज रहे जहां
जीवन का स्वर भर छंद ताल
मौन में मंद्र।
ये दीपक जिसके सूर्य–चन्द्र,
बांध रहा जहां दिग्देशकाल
सम्राट! डसी स्पर्श से खिली
प्रणया के प्रियंगु की डाल–डाल
विंशति शताब्दी,

धन के, मान के बांध को जर्जर कर महाब्धि
ज्ञान का, बहा जो भर गर्जन–
साहसिक स्वर–
''जो करे गंध–मधु का वर्जन
वह नहीं भ्रमर :
मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न :
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर।''
था सुना, रहे अमर सम्राट ! अमर–
मानव के वर !

वैभव विशाल,
साम्राज्य सप्त–सागर–तरंग–दल–दत्त–माल,
है सूर्य क्षत्र
मस्तक पर सदा विराजित
ले कर आतपत्र
विच्छुरित छटा–
जल, स्थल, नभ में
विजयिनी–वाहिनी–विपुल घटा,
क्षण–क्षण भर पर
बदलती इंद्रधनु इस दिशि से
उस दिशि सत्वर :
वह महासद्म
लक्ष्मी का शत–मणि–लाल–जटिल

ज्यों रक्त पद्म,
बैठे उस पर नरेंद्र–वंदित ज्यों देवेश्वर'। [56]

'तुलसी दास' निराला की बहुचर्चित कविता है. तुलसीदास उनके प्रिय कवि हैं। डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं–'निराला की सांस्कृतिक अचेतना (अवेरनेस) पर तुलसी का विशेष प्रभाव है.' उनका यह भी मानना है कि 'वर्णाश्रम–धर्म का समर्थन निश्चय ही एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति थी। लेकिन सब मिलाकर वे भारतीय संस्कृति के ही कवि थे।' [57]

निराला भी वर्णाश्रम के समर्थक हैं। वे 'चाबुक' निबंध संग्रह में वर्ण–व्यवस्था के समर्थन में लिखते हैं। इस बिंदु पर दोनों में साम्यता है। डॉ. बच्चन सिंह का कथन हैं–'निराला के तुलसीदास बहुत कुछ बदल गए हैं। 'मानस' के रचयिता 'बन्दौ प्रथम महीसुर चरना' लिखते हैं और वर्णाश्रम–धर्म के कट्टर समर्थक हैं। पर नए तुलसी दास में वर्णाश्रम का विरोध हैं–

चलते फिरते, पर निःसहाय
वे दीन क्षीण, कंकालकाय

वे शेष श्वास, पशु, मूक भाव
पाते प्रहार अब हताश्वासः
सोचते कभी आजन्म ग्रास द्विज गण के
होना ही उनका धर्म फार्म,
वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम
वे चरण चरण, वर्णाश्रम रक्षण के।

वे अब भी पशुओं के तरह जीते हैं। स्थान–स्थान पर जब भी उन पर अनेक प्रकार के हमले किए जाते हैं। उपर्युक्त पंक्तियां 'मानस' के तुलसी पर व्यंग्य करती प्रतीत होती हैं।'[58]

उपरोक्त पंक्तियों में व्यंग्य तो दिखाई देता है। लेकिन स्पष्ट रूप

से यह नहीं लगता कि वे वर्ण–व्यवस्था का विरोध कर रहे हैं। सहानुभूति दिखा भर देने से इसे विरोध नहीं माना जा सकता है क्योंकि सहानुभूति से बदलाव की संभावनाएं तभी बनती हैं, जब स्पष्ट रूप से विरोध दिखाई पड़े। तुलसीदास रामचरित मानस में एक सामंती और वर्ण–व्यवस्था की मान्यताओं वाले समाज की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त करते दिखाई देते हैं।

महाकवि निराला लाहौर में चल रहे संत राम के जात–पात तोड़क मण्डल के विरोध में लेख लिखते हैं और वर्ण–व्यवस्था का समर्थन करते हैं जो बाद में चाबुक निबंध–संग्रह में संकलित भी होता है। वे लिखते हैं–

'दोषों में संस्पर्श–दोष भी एक माना गया है। इसका प्रभाव प्रत्यक्ष है। विषय के संस्पर्श से ही मनुष्य में विषय की वृत्ति पैदा होती है। इसी तरह म्लेच्छों के राज्य में रहने से उनके संस्पर्श से द्विजातियत्व भी नष्ट होता है, धर्म नहीं रह जाता है। इसी विचार से द्विजातियों को म्लेच्छों के राज्य में रहने का निषेध किया गया है।'[59]

इसी लेख 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' में वे आगे लिखते हैं, 'अदालत में ब्राह्मण और चाण्डाल की एक ही हैसियत, एक ही स्थान, पर एक ही निर्णय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य अपने घर में ऐंठन के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रह गए हैं। बाहरी प्रतिघातों ने भारतवर्ष के उस समाज–शरीर को, उसके उस व्यक्तित्व को समूल नष्ट कर दिया, बाह्य दृष्टि से उसका अस्तित्व ही न रह गया।'[60]

निराला की कविता 'राम की शक्ति पूजा' में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है वह संस्कृत शब्दावली के ज्यादा निकट हैं। देखें–

अनिमेष–राम–विश्वजिद्दिक–शर–भंग–भाव
विद्वांग–बद्व–कोदण्ड–मुष्टि–खर–रूधिर–स्त्राव

इस तरह का भाषा प्रयोग जब कविता में किया जाता है, तब कविता

की भूमिका ही बदल जाती है। यही कारण है कि छायावादकालीन कविता समय और समाज से कटी हुई थी। यह वह दौर था जब देश स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहा था। तब हिंदी के महान कवि प्रकृति–चित्रण, प्रेम आदि विषयों में डूबे हुए थे। या फिर अतीत मोह से बाहर नहीं आ पा रहे थे।

'छायावाद' ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होकर कुछ ऐसा आभास दिया था कि जैसे वह केवल अनुभूति के स्तर पर ही व्यवहृत होकर एक नई दृष्टि और एक नए भाव–बोध को विकसित करने में समर्थ होगा। किन्तु छायावाद के लिए ऐसा करना संभव नहीं था। क्योंकि वह मूलतः जिस भावुकता के अतिरेक में डूबा हुआ आंदोलन था, उसमें सूक्ष्मता केवल उपमान के रूप में ही प्रस्तुत होकर रह गई है। वह सूक्ष्मता कथ्य की विवशता से उतनी प्रेरित नहीं थी, जितनी कि अभिव्यक्ति की समस्या से प्रेरित हुई थी।'[61]

मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि 'आचार्य शुक्ल ने छायावादी काव्यभाषा की कृत्रिमता की ठीक आलोचना की है। छायावादी काव्यभाषा में जहां सहजता की जगह कृत्रिमता थी, साहित्यिकता के नाम पर जीवन की भाषा से अलगाव था, उसकी आचार्य शुक्ल ने आलोचना की। आचार्य शुक्ल जिस 'साहित्यिकता' की बार–बार बात करते हैं वह रूपवादियों की भाषानिष्ठ साहित्यिकता नहीं हैं। वह जीवन की अनुभूतियों की व्यंजना में सक्षम भाषा की साहित्यिकता हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'विदग्धता वहीं तक काव्य उपयोगी हो सकती है, जहां तक वह भाव–प्रेरित हो, जहां तक उसका कारण कोई भाव या रागात्मक दशा है।' अनुभूति शून्यभाषिक साहित्यिकता के शुक्ल जी विरोधी हैं। वास्तव में श्रेष्ठ छायावादी कविता वही हैं जिसमें अनुभूति की शक्ति और अभिव्यक्ति का सौंदर्य हैं। और इन दोनों की एकता से निर्मित्त साहित्यिकता ही आचार्य शुक्ल की साहित्यिकता है।, [62]

शिवदान सिंह चौहान का कथन है, 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद

यह धारा हिन्दी में सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रा नन्दन पंत, महादेवी वर्मा और अनेक छोटे–मोटे काव्यों के मुख से निःसृत हो उठी और आज इसका कोई ठिकाना नहीं। इनमें से कुछ स्वभावतः प्रगतिशील भी हैं, लेकिन उनकी कविताएं प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी होती हैं। इस छायावाद की धारा ने हिन्दी साहित्य को जितना धक्का पहुंचाया है, उतना शायद ही हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग ने पहुंचाया हो।'[63]

मैथिलीशरण गुप्त की बहुचर्चित कृति 'भारत–भारती' को लेकर उनकी टिप्पणी भी उस काल के विरोधाभासों को सामने लेकर आती है। वे कहते हैं, 'भारत की प्रगति और सभ्यता के दुश्मन फासिस्ट नेता डॉ. मुंजे और भाई परमानंद के लिए यह पुस्तक हिटलर की तरह मुसलमानों को देश से बाहर करने में शायद बाइबल बन जाती।' [64]

यहां यह देखना भी दिलचस्प होगा कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की किन पंक्तियों को देख कर शिवदान सिंह चौहान को ऐसा कहना पड़ा। जिस तरह से भारतेन्दु यवनों के आक्रमण से पीड़ित भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय आशा भरी नजरों से देख रहे थे, लगभग पचास वर्ष बाद मैथिलीशरण गुप्त यदि उसी स्वर में कहते हैं–

अन्याय यवनों का हमें निज दोष से सहना पड़ा
है किन्तु नारायण अहा न्यायी तथ स्क्रून बड़ा ''.
देते हुए भए कर्मफल, हम पर हुई उसके दया,
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहां नया

यह सत्य है तो भी ब्रिटिश शासन हमें सम्मान्य हैं. ''
यह सुव्यवस्थित है तथा आशा प्रपूर्ण व दान्य है। [65]

महावीर प्रसाद द्विवेदी का कहना था कि 'कविता का विषय मनोरंजक एवं उपदेश जनक होना चाहिए। यमुना किनारे केली कौतूहल का

अदभुत वर्णन हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की चींटी से लेकर हाथी पर्यंत, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यंत। जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, पर्वत – सभी पर कविता हो सकती है।'[66]

श्रीधर पाठक के विपुल साहित्य के बीच एक ऐसी कविता भी है जो इन्हें दूसरों से अलग खड़ा कर देती है। उस काल में वर्ण–व्यवस्था और जातिभेद को किसी भी रचनाकार ने गंभीरता से नहीं लिया न उस दर्द को समझने का प्रयास ही किया। लेकिन उस घटाटोप अंधकार के बीच श्रीधर पाठक की यह कविता एक जुगनू की तरह चमक रही है जिस पर न रामचन्द्र शुक्ल ने कोई टिप्पणी की, न किसी और आलोचक ने क्योंकि उस काल में सभी अतीत मोह से बंधे दिखाई देते हैं। ''मनुजी' शीर्षक कविता देखें

1
मनुजी तुमने यह क्या किया ?
किसी को पौन, किसी को पूरा, किसी को दिया ।
2
सरस प्रीति के थल में बोया विस–अनीति का बिया
लुब्ध पाप का, क्षुब्ध शाप का स्यापा सिर पर लिया
मनुजी तुमने यह क्या किया ?
3
और अधिक क्या कहें बापजी, कहते दुखता हिया
जटिल जाती का अटल पात का, जाल किसका सिया?
मनुजी तुमने यह क्या किया? [67]

'छायावादी कविता जहां एक ओर देश प्रेम, व्यक्ति–स्वतन्त्रता और भारतीय गरिमा के गीत गाती रही थी और दूसरी यह कल्पना में

विचरण करती रही। छायावाद पर पाश्चात्य स्वच्छंदवादी आंदोलन का प्रभाव रहा है। यथार्थ के धरातल से उपर उठ कर केवल कल्पना लोक के संसार में विचरण करने वाली प्रवृत्ति ज्यादा दिनों तक नहीं टिक पायी और कल्पना लोक से छायावादी कविता को कठोर धरती पर उतरना पड़ा जिसने आगे चलकर प्रगतिवाद के लिए जमीन तैयार की।' [68]

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी कविता में प्रगतिवाद के कवियों ने मार्क्सवादी विचारधारा को केंद्र में रख कर मजदूर, किसान और सर्वहारा की वेदना को अभिव्यक्ति दी लेकिन यहां भी दलित उनकी संवेदनाओं से गायब था, जबकि 1927 में डॉ अम्बेडकर राष्ट्रीय क्षितिज पर उभर चुके थे और गोलमेज सभा में दिये गए उनके भाषण और दलितों के लिए मांगे गए पृथक निर्वाचन की गूंज पूरे देश ने सुनी थी जिसके कारण गांधी को भूख हड़ताल पर बैठना पड़ा था जिसकी परिणिति पूना–पैक्ट के रूप में हुई थी। और कई तरह के दबाव के बीच डॉ. अम्बेडकर को अपनी मांग वापस लेनी पड़ी थी। यह एक ऐतिहासिक घटना थी जिसे हिन्दी साहित्य और हिन्दी कविता ने अनसुना किया था।

स्वातंत्र्योत्तर काल

'प्रयोगवादी कविता ने हिन्दी कविता में नई कविता में नई संवेदना और नए शिल्प प्रयोगों का नारा बुलंद किया था। अज्ञेय के संपादन में 'तार सप्तक' से तीसरे 'तार सप्तक' तक के समय हिन्दी कविता के भाव, भाषा, वस्तु, अप्रस्तुत विधान आदि के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए... प्रयोगवाद का विकास नई कविता में होता है। आजादी के बाद बदले हुए जीवन संदर्भ को अभिव्यक्ति देने में नई कविता प्रयोगवादी कविता से अधिक सक्षम थी। कविता में आधुनिकता और नये विचार चेतना की अभिव्यक्ति नई कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उल्लेखनीय है।'[69]

मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

के इतिहास लेखन का एक पक्ष इस दौर के विभिन्न साहित्यिक विवादों से जुड़ा हुआ है। साहित्यिक विवाद साहित्यिक आन्दोलनों में चलने वाले विचारधारात्मक संघर्षो से पैदा होते हैं। और उनके माध्यम से संघर्षशील पक्षों की विचारधारा और कलादृष्टि को समझने में मदद मिलती है।'[70]

सातवें दशक के हिन्दी साहित्य में अ–कविता, अकहानी, अ–नाटक, अ–उपन्यास की जो चर्चाएं हुई, (चर्चा कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इन्होंने आंदोलन का रूप नहीं लिया। अत्यंत अल्पकाल के लिए अ–कविता का एक आंदोलन चला पर वह शीघ्र ही काल के गाल में समा गया) उनके आधार पर लिखा गया साहित्य आज के अनिश्चय, व्यर्थता, अकेलेपन, अजनबीयत, आत्मनिर्वासन आदि को व्यक्त करता है। यह साहित्य अपने रूप संवेदन में किस दर्जे का है, यह अलग बात है।' [71]

मैनेजर पाण्डेय साहित्यिक प्रवृत्तियों को 'फैशन' की संज्ञा देते हैं, खासकर नई कविता वाले दौर में। वे कहते हैं–व्यापक साहित्यिक आंदोलन सामाजिक परिवर्तनों से प्रेरित होते हैं, और साहित्य के विकास की दिशा को प्रभावित भी करते हैं जबकि अल्पजीवी साहित्यिक फैशनों का साहित्य की विकास प्रक्रिया पर कोई गहरा और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है। हिन्दी कविता के इतिहास में छायावाद और प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य के विकास को प्रभावित करने वाले व्यापक आंदोलन थे, लेकिन हालावाद और नकेनवाद के साहित्यिक फैशन माने जाएंगे। हिन्दी कविता और कहानी के क्षेत्र में 1960 से 1967 के बीच ऐसे अनेक अल्पजीवी फैशन पैदा हुए, जिनके जन्म के साथ ही उनकी मृत्यु की भी घोषणा करनी पड़ी थी। कविता के क्षेत्र में अकविता, सकविता, विद्रोही कविता, वीर कविता, ठोस कविता, ताजी कविता आदि तथा कहानी के क्षेत्र में अकहानी, सचेतन कहानी आदि साहित्यिक फैशनपरस्ती की आदत से उत्पन्न प्रवृत्तियां थी, जिनका साहित्य के विकास में कोई विशेष योगदान न था।' [72]

छायावाद, प्रगतिवाद और नई कविता के आंदोलन वाद–विवाद के बीच ही पुष्ट हुए हैं। कलावाद और प्रगतिशीलता, परंपरा और प्रयोग, वस्तु और रूप, साहित्य और राजनीति, अनुभूति की ईमानदारी और प्रामाणिकता, आधुनिक भावबोध और लघुमानव की समस्या आदि प्रश्नों पर जो विवाद हुए हैं, उनसे स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में चलने वाले विचारधारात्मक संघर्षों की दिशा को पहचाना जा सकता है, 'परिमल' और प्रतीक के मंच प्रगतिवाद और यथार्थवाद के विरोधी अभियान के मुख्य आधार–स्तम्भ बने। लक्ष्मीकान्त वर्मा को यथार्थवाद एक राजनीतिक षड़यंत्र दिखाई देता है। नई कविता वाले प्रगतिवादियों के खिलाफ मोर्चा खोल बैठे थे।' [73]

मराठी कविता में नई कविता के प्रवर्तक कवि बा.सी. मर्ढेकर को माना जाता है। चन्द्रकान्त बॉदिवडेकर का कथन है–'मर्ढेकर ने कुछ अभंग लिखे, जिनमें धर्म के नाम पर हिंसा करने वालों पर व्यंग्य किया है और कहा है कि धर्म के नाम पर दंगे फसाद को उत्तेजना देना, ध र्म को नीलाम करने वाले नेता और राजनीतिक नेता–दोनों सत्ता के लिए यह सब करते हैं। और प्रसंग आने पर पीठ में छूरा भौंकते हैं। मर्ढेकर तीखे व्यंग्यात्मक स्वर में हिन्दू–मुसलमानों में झगड़ा पैदा करने वालों की भर्त्सना करते हुए व्याकुल स्वर में कहते हैं–

बोला अल्ला है राम
करा पैगंबर प्रणाम
आहे तुम्हां
आम्हां हराम
बंधु द्वेष
कुठे गया कुठे मक्का
हत्याकाण्ड येथे फुका
भूँक

अर्थात 'बोलो अल्ला राम पैगंबर को करो प्रणाम। बंधुओं का द्वेष हमें और तुम्हें हराम है। कहां गया, कहां मक्का, यहां तो व्यर्थ ही हत्याकाण्ड हो रहा है हम क्यों भूखे कंगाल लोग रक्त का स्नान करें। वे मार्मिक प्रश्न पूछते हैं–भूखे कंगालस्तान की जिंदाबाद को क्या हम जिंदाबाद करेंगे? [74]

चन्द्रकान्त बांदिवडेकर की मान्यता है, 'राष्ट्रीय एवं राजनीतिक प्रत्यक्ष संदर्भ की अपेक्षा मर्ढेकर को समग्र मानवीय वैश्विक संदर्भ अधिक भयावह रूप में मनुष्य को निगलता प्रतीत हुआ। सामान्य मध्यवर्गीय जीवन की घोर विफलता, कुल मानवीय जीवन की निरर्थकता, यांत्रिक जीवन के चक्की में पिसते फालतू मनुष्य की दयनीय अवस्था, संवेदना का भोथरा बनाती जाने वाली बाह्य स्थितियों की आक्रामकता और आध्यात्मिकता से विहीन आंतरिकता का सूनापन, वैज्ञानिक गति के मानवीय जीवन से असंपृक्ति, मृत्यु के स्पर्श से भयाकुल जड़तर, प्रेम और श्रृंगार का बाजारू घिनौना रूप, मानव के परस्पर संबंधों में बढ़ती जाने वाली दूरी ओर शुष्कता, ये मर्ढेकर के अनुभव संसार के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। मर्ढेकर की संवेदना जितनी शक्तिशाली थी, उतनी ही उनकी अभिव्यक्ति भी धारदार थी। दोनों स्तर पर नवीनता भी, सामाजिक जीवन की कतिपय वस्तुएं, घटनाएं, स्थितियां, चमत्कारिक रूप से मर्ढेकर की कविता में संवेदना को संप्रेषित करने के लिए बिम्बात्मक रूप में प्रकट हुई हैं।' [75]

बा. सी. मर्ढेकर की एक चर्चित कविता का अंश देखें–

भंगुं दें काठिन्य माझें
आम्ल जाउंदे मनींचें;
येउदें वाणींत माइंया
ठूर तुइया आवाडीचे
ज्ञात हे तूं तील माइया
छे गलूं मालिन्य, आणि

माझिया अज्ञात टाकी
स्फूर्ति–केन्द्री त्वद बियाणीं।
राहुं दे स्वातंत्र्य माझें
फक्त उच्चारांगतले गा,
अक्षरां आकार तुइया फुम्फुसांचा वाहूं दे गा।
लोभ जीभेचा जलूंदे
दे भिजूं विद्वेष सारा,
द्रौपदींचे सत्त्व माइया
लाभुं दे भाषा–शरीरी।'

मर्ढेकर के समकालीन कवियों में य.द. भावे, शरच्च चंद्र मुक्तिबोध, विन्दा करन्दीकर, मनमोहन आदि पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव रहा है। विन्दा करन्दीकर की कविताओं में जीवन के विविध रंग दिखाई देते हैं। करुणा, शोक, जिजीविषा आदि को सामाजिक और वैयक्तिकता के साथ जोड़कर देखा है। मराठी कविता में एक विशिष्टता के रूप में पहचाने जाते हैं। नई कविता में मंगेश पड़गांवकर का भी एक विशिष्ट स्थान है। बिम्बों की गहनता, प्रकृति से गहरा जुड़ाव और भाषा की सूक्ष्म पकड़ ही उनकी विशिष्टता है। ग.दि. माडगुलकर, शांता शेलके, सुरेश भट आदि चर्चित और महत्त्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। सुरेश भट की गजलें अपनी उत्कृष्ट छाप छोड़ती है।

मराठी कवि कुसुमाग्रज की कविता में व्यक्तिवाद की अतिरेकता, नैराश्य एवं निरर्थकता बोध से अलग हटकर उनकी कविता में एक विशिष्टता दिखाई देती है। इसी लिए आधुनिक मराठी कविता में उनका एक अलग स्थान निर्मित हो सका. कवि अनिल और उनका कविता–संग्रह 'दशपदी' बेहद चर्चित रहा। पु.शि. रेगे शब्द की शक्ति

से परिचित थे। आध्यात्मिकता से भरी उनकी कविताएं मराठी में पसंद की गयी।

कवि अनिल की कविता का एक अंश प्रस्तुत है–

स्वप्न बीज
थोड़ी जाग थोड़ी नीज
अधान्तरी स्वप्नांचे बीज
काही ज्ञात कांही भ्रांत
किंचित व्याकुल किंचित शांत
थोड़ी बाहेर थोड़ी आंत
किंचित पहाट किंचित राठ
थोड़ी उब थोडें गार
केव्हा स्मित केव्हा खुसकार
काहीं ढीठ कांही भीत
थोड़ी हाट थोड़ी जीत
अंमलरूसवा अंमल प्रीत
कांही गुण गुण कांही गीत[76]

इसी प्रकार शरच्चंद्र मुक्तिबोध की भी एक कविता देखें–

'रे घोर–दलित, अपमानित रौरव वासी भए
मी शापित, असें उपेक्षित, नित्यप्रवासी भी
ठेचालत ठेचालत पथचालत क्षत विक्षतविक्षत भी
प्रखर ज्वरे मूर्च्छितध्य तब स्वप्नेपाहत भी'।[77]

मराठी दलित साहित्य ने समूचे मराठी साहित्य को प्रभावित किया जिसके कारण मराठी आलोचकों को साहित्य संबंधी अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता महसूस होने लगी।

चन्द्रकान्त बांदिवडेकर का कथन है कि 'दलित साहित्य अगर संगठित प्रयत्न न करता, अपनी अस्मिता के दर्शन न करता और अपनी क्षमताओं को न पहचानता तो मराठी साहित्य की सफेदपोश संस्कृति की परंपराओं ने इक्के–दुक्के दलित लेखक को और दलित रचना को अपने सहोदर में कब का पचा लिया होता...इसका (दलित साहित्य का) नकार, विद्रोह और तिरस्कार चूंकि अन्याय के विरोध में है, साहित्य में अंकित इन स्फोटक अनुभूत्यों को स्वाभाविक रूप में मूल्यात्मक आधार प्राप्त हो सका। सिंहावलोकन के उपरांत अंकित जीवनानुभावों की दाहकता असाधारण है और सुशिक्षा की सजगता ने उसे अधिक दाहक बनाया है।'[78]

इधर दलित साहित्य ने हिन्दू धर्म की आचरणिक असंगतियों के खिलाफ जोरदार आक्रोश और गुस्सा व्यक्त किया है। वर्ण और जाति व्यवस्था में उन पर जबरदस्त अन्याय हुए हैं और इसके लिए उच्च वर्ग का मन अपराध भावना से ग्रस्त है। डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू न रहकर मरने की प्रतिज्ञा की थी और मृत्यु से कुछ महीने पूर्व बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। हजारों महार जाति के लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। भेदभाव रहित मानवीयक रूप से अपूर्ण इस धर्म के विराट मानवीयता के प्रति अपनत्व से ओतप्रोत अनेक कविताएं बौद्ध धर्म तथा अम्बेडकर के बारे में लिखी गई। दूसरी प्रवृत्ति यह पैदा हुई कि ज्ञानेश्वर से लेकर अद्यतन कृतियों में जहां कहीं भी ब्राह्मण जाति के प्रति आदर दिखाया गया है, उनको नकारने की उत्तेजकता बढ़ गई। असल में वारकारी पंथ की नींव सब प्रकार की समता पर आधारित है और वर्षों की परंपरा एवं समय के प्रभाव के परिणामस्वरूप अगर कहीं वर्ण के प्रति अनावश्यक अंहकार या अभिमान व्यक्त हुआ भी है, तो उससे समूचे काव्य कर्तृत्व को नकारा नहीं जा सकता।'[79]

'समकालीन कविता सवालों के घेरे में है। आज की कविता का दृश्य यह है कि नई परिघटनाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक असंतुलन का जाना पहचाना रूप जिन नई जटिलताओं के साथ बदले रूप में

हमारे सामने है। उस बदलाव पर पकड़ का वह कोई प्रमाण नहीं दे पा रही है. वहां यथार्थ के जटिल रूप बदल जाने का शोर बहुत है।'[80]

इन विकट साहित्यिक परिस्थितियों में दलित कविता का उद्‌भव एक विस्फोट की तरह हुआ जिसने साहित्य ही नहीं सामाजिक सोच को भी बदला है। आज दलित कविता मनुष्य के समग्र विकास के बात करती है। वह उसके व्यापक लक्ष्य को ही स्थापित करती है। साहित्य के इतिहास को एक अलग मोड़ पर खड़ा कर देने में दलित कविता का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

संदर्भ

1. डॉ. बच्चन सिंह, *आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,* लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृष्ठ 5
2. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–2000, पृष्ठ 8
3. लक्ष्मीकान्त वर्मा, *नए प्रतिमान; पुराने निकष,* लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996, पृष्ठ 33
4. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 7
5. वही, पृष्ठ 8
6. वही, पृष्ठ 3
7. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 97
8. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 20
9. वही
10. वही
11. गोरक्ष सिद्वान्त–संग्रह; गोपीनाथ कविराज संपादित, पृष्ठ 25
12. कुँवर पाल सिंह, *साहित्य और हमारा समय,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ 95
13. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 79
14. वही
15. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, *मराठी साहित्यः परिदृश्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ 1

16. वही
17. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 95
18. वही, पृष्ठ 95
19. मोहनदास नैमिशराय, *भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास–1,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 22
20. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 17
21. मोहनदास नैमिशराय, *भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास–1,* पृष्ठ 23
22. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 74
23. मोहनदास नैमिशराय, *भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास,* पृष्ठ 2
24. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 64
25. मोहनदास नैमिशराय, *भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास,* पृष्ठ 26
26. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 56
27. वही
28. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, *मराठी साहित्यः परिदृश्य,* पृष्ठ 13
29. *संत नामदेव का काव्य,* पृष्ठ 42
30. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 90
31. डॉ. बच्चन सिंह, *आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 98
32. ग्रंथ साहित्य, पृष्ठ 75
33. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, *मराठी साहित्यः परिदृश्य,* पृष्ठ 13
34. वही पृष्ठ 13–14
35. वही पृष्ठ 28
36. वही पृष्ठ 33
37. लालजे पेंडसे, सेंत साहित्य की सामाजिक बुनियाद, *प्रगतिशील वसुधा, अक्तु*–दिस. 2006, समकालीन मराठी साहित्य विशेषांक, अंक 71 पृष्ठ 35
38. शिवकुमार मिश्र, *भक्ति काव्य और लोकजीवन,* 1993, पृष्ठ 57
39. मैनेजर पाण्डेय, *अनभै सांचा,* पृष्ठ 13
40. *मुक्तिबोध रचनावली,* पॉच, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 292
41. के. दामोदरन, *भक्ति आंदोलन और सामाजिक आधार,* संपादक गोपेश्वर सिंह, 2002, पृष्ठ 84
42. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना,* हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1996, पृष्ठ 183
43. रामबिलास शर्मा, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण की भूमिका,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 14

44. मैनेजर पाण्डेय, *अनभै सॉचा,* पृष्ठ 175
45. डॉ. बच्चन सिंह, *आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 92
46. वही पृष्ठ 8
47. वही पृष्ठ 9
48. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, *मराठी साहित्यः परिदृश्य,* पृष्ठ 36
49. वही पृष्ठ 36–37
50. वही पृष्ठ 40–41
51. डॉ. रघुवंश, *साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य,* पृष्ठ 3
52. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 467
53. ललित शुक्ल, *नया काव्य, नए मूल्य,* पृष्ठ 16
54. डॉ. बच्चन सिंह, *आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 159
55. शिवाजी का पत्र, 'मतवाला', साप्ताहिक, *कलकत्ता'*, के अंक 3 अप्रैल, 24 अप्रैल, 5 जून, 19 जून, और 10 जुलाई, 1926 के पांच किस्तों में प्रकाशित. परिमल में संकलित, *निराला रचनावली,* भाग–1, संपादक, नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–1983, पृष्ठ 154
56. रचनाकाल–12 दिसंबर, 1936. 'सरस्वती' मासिक, प्रयाग, जनवरी, 1937 में प्रकाशित, द्वितीय अनामिका में संकलित, निराला रचनावली, भाग–1 संस्करण–1983, पृष्ठ 319–320
57. डॉ. बच्चन सिंह, *आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 166
58. वही पृष्ठ 167
59. निराला, 'माधुरी' मासिक, लखनऊ, दिसंबर, 1929, 'चाबुक' में संकलित रचनावली–6, पृष्ठ 99–100
60. वही पृष्ठ 103
61. लक्ष्मीकान्त वर्मा, *नए प्रतिमान; पुराने निकष,* पृष्ठ 20
62. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 95
63. शिवदान सिंह चौहान, *भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता,* विशाल भारत, मार्च, 1937
64. वही
65. अपराजिता श्रीवास्तव, *साहित्य आन्दोलनों और साहित्य विवादों का इतिहास,* लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ 91
66. डॉ. बच्चन सिंह, *आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 105–106
67. श्रीधर पाठक *ग्रंथावली,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण–जुलाई, 1996, गंगा पुस्तकालय कार्यालय, लखनऊ, वि.संवत–1985. रचनाकाल–10

दिसंबर, 1918, श्रीपदमकोट
68. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना,* पृष्ठ 183
69. वही पृष्ठ 183–184
70. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 213
71. डॉ.बच्चन सिंह, *आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 3
72. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 208
73. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, *मराठी साहित्यः परिदृश्य,* पृष्ठ 41–42
74. वही पृष्ठ 105
75. बा.सी. मर्ढेकर, *स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता* (1945–1960), संपादक, वसंत पाटणकर, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ 19
76. कवि अनिल, ''स्वातंत्रयोत्तर मराठी कविता'' (1945–1960),संपादक–वसंत पाटणकर साहित्य अकादमी, पृष्ठ 03
77. शरच्चंद्र मुक्तिबोध, ''स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता (1945–1960), संपादक, वसंत पाटणकर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली पृष्ठ 140–141
78. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, *मराठी साहित्यः परिदृश्य,* 1997, पृष्ठ–101
79. वही पृष्ठ 42
80. कपिल देव, ''कविता का भविष्य'' *आलोचना,* जन। मार्च, 2003, नई दिल्ली

अध्याय दो

दलित कविता की अवधारणा

दलित की परिभाषा

दलित साहित्य का जैसे–जैसे विस्तार होता गया, 'दलित' शब्द को लेकर साहित्य जगत में विभिन्न प्रकार की भ्रांतियां, मत, अर्थभेद सामने आने लगे। उन भ्रांतियों, मतों और अर्थभेद आदि पर चर्चा करने से पूर्व 'दलित' शब्द के कोशगत अर्थों को समझने की कोशिश की जाये ताकि विभिन्न मतों और मान्यताओं का तटस्थ रूप से विश्लेषण किया जा सके।

यहां यह उल्लेख करना आवश्यक लगता है कि दलित शब्द को लेकर अनेक प्रकार की भ्रांतियां देखने का मिलती है। विशेष रूप से जब यह शब्द साहित्य या कविता के साथ जुड़ता है। दलित शब्द का अर्थ अनुसूचित कही जाने वाली जातियों तक सीमित करके देखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, वे वही जातियां हैं जिन्हें भारतीय समाज व्यवस्था ने अछूत, अस्पृश्य, अंत्यज, डोम, चांडाल, श्वपच आदि कह कर पुकारा और आधुनिक संदर्भों में, सैकड़ों जातियों में बांट दिया, जिन्हें भंगी, चमार, महार, पासी, धानुक आदि नामों से जाना गया, लेकिन दलित शब्द स्वयं में जाति विरोधी है। दलित शब्द अस्मितादर्शी भी है। इसीलिए दलित आंदोलन में अंतर्निहित आकांक्षा जाति विरोधी है जिसे अनदेखा करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश के अनुसार 'दलित' शब्द का अर्थ है– टूटा हुआ, चीरा हुआ, फाड़ा हुआ, टुकड़े–टुकड़े किया हुआ।[1]

हरदेव बाहरी के कोश में 'दलित' शब्द के अर्थ हैं– जिसका दलन हुआ हो जो, कुचला गया हो।[2]

रामचन्द्र वर्मा ने 'दलित' शब्द को अधिक विस्तार देते हुए लिखा है– मसला हुआ, मर्दित, दबाया, रौंदा या कुचला हुआ, विनिष्ट किया हुआ।[3]

अपने मानक हिन्दी कोश में रामचन्द्र वर्मा उपरोक्त अर्थों को और अधिक विस्तार देते हुए कहते हैं– [4]

1. जिसका दलन हुआ है।
2. जो कुचला, छला, मसला, या रौंदा गया हो।
3. जे दबाया गया हो, अथवा जिसे पनपने या बढ़ने न दिया हो, हीन अवस्था में पड़ा हुआ, ध्वस्त या नष्ट किया हुआ।

आगे रामचन्द्र वर्मा 'दलित' शब्द को और अधिक विस्तार देते हुए दलित के अर्थों में दिखाते हैं –[5]

1. पैरों से कुचला हुआ या रौंदा हुआ।
2. व्यक्ति या जाति, जिसे समाज ने दबा कर बहुत हीन अवस्था में रखा है और उन्नति का अवसर न दिया हो।
3. जिसे डिप्रेस्ड (Depressed) कहा गया हो।

फादर कामिल बुल्के ने 'दलित' का अर्थ – डाउनट्रोडन– पददलित कहा है।[6] R. S. McGregor हिन्दी – अंग्रेजी शब्दकोश में 'दलित' का अर्थ बताते हैं।[7]

1. 'दलित' – dalit (s) Adj.
2. Broken or turned to pieces.
3. Crushed, Grounded, Trampled
4. Oppressed

करुणापति त्रिपाठी के अनुसार 'दलित' का अर्थ भी इसी तरह की अभिव्यंजना देता है–[8] मसला हुआ, दबाया हुआ, रौंदा या कुचला हुआ, खंडित, विनिष्ट किया हुआ।

दलित के संदर्भ में अन्य शब्द भी प्रयोग में लाये जाते हैं जो साहित्य एवं अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं–अछूत, अंत्यज, अस्पृश्य, शोषित, पीड़ित। इन शब्दों का प्रयोग जाति आधारित समाज में सबसे निचली जातियों के लिए होता है। इनके अर्थ रूढ़ अर्थों में 'दलित' के पर्यायवाची शब्द बन गये हैं।

1. दलित– जो कुचला, दला, मसला, या रौंदा गया हो, जिसे ध्वस्त या नष्ट कर दीन–हीन किया हो।
2. शूद्र– वर्ण–व्यवस्था में अंतिम वर्ण (निम्नवर्ण) यानी चतुर्थ वर्ण, जिसे ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरूष सूक्त में– 'पदम्या शूद्रो अजायतः' कहा गया है।
3. अछूत– ऐसा व्यक्ति जो छूने योग्य न हो।
4. अस्पृश्य– जिस व्यक्ति के स्पर्श से पाप लगता हो।
5. अंत्यज– निम्न जाति में जन्मा व्यक्ति यानी अछूत।
6. शोषित– जिस व्यक्ति का सदियों से सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, नैतिक, शारीरिक रूप से शोषण हुआ हो।
7. पीड़ित– जो व्यक्ति सदियों से सामाजिक उत्पीडन का शिकार रहा हो।
8. उपेक्षित– जो व्यक्ति सदियों से सामाजिक अवेहलना और बहिष्कार झेलता रहा हो।
9. वंचित– जिस व्यक्ति से हजारों साल से मानवीय अधिकार छीन लिए गये हों तथा उपनयन संस्कार और शिक्षा से दूर रखा गया हो।

इस प्रकार शब्दकोशों, विद्वानों और समाज में प्रचलित रूढ़ शब्द–अर्थ

के आधार पर दलित का अर्थ होता है– जिसका दलन या दमन हुआ है, जिसे सदियों से पैरों तले रौंदा, मसला, कुचला गया है, जो स्पर्श के योग्य नहीं है, जो शोषित, पीड़ित, उपेक्षित, वंचित है, जिसे वर्ण–व्यवस्था में सबसे नीचे रखा गया है, जो अस्पृश्य है।

यहां 'दलित' शब्द की परिभाषा व्यापक रूप लेती दिखाई देती है। व्यवस्था द्वारा निर्मित श्रेणीबद्धता को भी रेखांकित करती दिखाई देती है। ऐसा व्यक्ति या समाज जिसका दलन हुआ हो, जिसे दला, मसला, रौंदा गया हो, जो दबाया गया या जिसे समाज की मुख्यधारा में पनपने या बढ़ने से रोका गया हो। जो हजारों साल से हीन अवस्था में पड़ा हुआ हो, जिसके अस्तित्व तक को ध्वस्त या नष्ट कर दिया गया हो, ऐसा व्यक्ति या समाज 'दलित' कहा जायेगा।

यदि सामजिक संदर्भों में इस शब्द का अर्थ देखें तो–ऐसा तबका जिसे भारतीय समाज व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर रखा गया हो। अस्पृश्य, अन्त्यज, उपेक्षित, शोषित, पीड़ित, समाज–व्यवस्था से बहिष्कृत, न्यूनतम मजदूरी से भी जिसे वंचित रखा गया हो, ऐसा समाज या व्यक्ति 'दलित' की श्रेणी में आता है।

साहित्य और समाजशास्त्र के संदर्भों में भी विद्वानों, समीक्षकों के विचारों की भी पड़ताल जरूरी है, ताकि दलित शब्द की सही–सही परिभाषा दी जा सके। डॉ. गिरीश कुमार रोहित लिखते हैं–'1931 की जनगणना जाति आधार पर की गयी थी, जिसमें जनगणना अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट में 'दलित' शब्द की जगह एक्स्टीरियर कास्ट (Exterior Caste) शब्द का प्रयोग किया था। इस शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया था कि भारतीय सामाजिक संरचना में इन जातियों को कोई स्थान नहीं था। यानी इनकी सामाजिक स्थिति (Social Status) जातीय संरचना से बाहर थी। इस शब्द के प्रयोग ने भारतीय समाज में एक राजनीतिक समस्या उत्पन्न कर दी थी।[9]

एलिनोर जेलियट ने दलित शब्द के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हए कहा है– 'मराठी शब्द 'दलित' 'ब्लैक' शब्द की तरह,

लेखक समूह ने स्वयं चुना है, और गर्व के साथ इसका इस्तेमाल किया। यहां तक कि अंग्रेजी पत्रकारिता ने भी इस अनजाने शब्द का प्रयोग किया। सामान्यतः प्रचलित शब्दों में से किसी भी शब्द– अस्पृश्य, अनुसूचित जाति, पददलित वर्ग, गांधी जी के परम प्रिय शब्द 'हरिजन' को नकार के साथ स्वीकार नहीं किया। खंडित, दलन किये गये, अर्थों के साथ सोच समझ कर दलित शब्द को अपनी गतिविधियों के साथ समाविष्ट किया। इस शब्द में स्वाभाविक रूप से अपवित्रता, कर्म और जन्मना जाति की न्यायोचितता का नकार विद्यमान है'।[10]

गंगाधर पांतावणे मराठी के वरिष्ठ दलित लेखक, सम्पादक की मान्यता है– 'मेरे लिए दलित कोई जाति नहीं है। वह है इस देश की सामजिक और आर्थिक परम्पराओं द्वारा शोषित व्यक्ति। जो ईश्वर, आत्मा, विभेद पैदा करने वाले पवित्र ग्रंथों, भाग्य, स्वर्ग, में विश्वास नहीं करता है। क्योंकि इन्होंने ही उसे गुलाम बनाया था। वह मनुष्यता में विश्वास करता है। दलित एक प्रतीक है परिवर्तन और क्रांति का'।[11]

'दलित' शब्द एक चिंगारी की तरह दबे कुचले लोगों की अभिव्यक्ति के साथ जुड़कर आज संघर्ष और अस्मिता का प्रतीक बन गया है। गैर दलित ही नहीं कुछ ऐसे दलित बुद्धिजीवी भी हैं, जिन्हें यह शब्द अपमानबोधक लगता है, लेकिन इस शब्द ने आज अपनी सार्थकता सिद्ध कर दी है, क्योंकि यह चेतना का संवाहक बन कर अपनी पहचान को स्थापित करने के लिए कटिबद्ध है। इस नाम को दलित समाज ने स्वीकृति प्रदान की है, तथा उन सभी संबोधनों का परित्याग किया है, जो गैर दलितों ने ऐतिहासिक संदर्भों के साथ इस समाज को प्रदान किये थे जिनमें से ज्यादातर आज भी गाली की तरह प्रयोग किये जाते हैं।

एक साक्षात्कार में भी डॉ. गंगाधर पानतावणे ने कहा है– 'दलित शब्द हीनता बोधक बिल्कुल नहीं है'। उनके अनुसार–दलित शब्द जातिवाचक भी नहीं है। इसलिए हम इस शब्द का व्यवहार करते हैं,

जो शोषण के, अन्याय के खिलाफ है, उन्हें हम दलित कहते हैं। जो नयी दुनिया, नये साहित्य का निर्माण करता है, वे दलित हैं।[12]

'दलित' शब्द का प्रयोग किसी और का दिया हुआ नहीं है बल्कि दलितों ने स्वयं अपने लिए इस शब्द का चयन किया है जो डॉ. अम्बेडकर के दलित–आंदोलन से निकला है। साहित्य के साथ जुड़कर इस शब्द की जो अभिव्यंजना प्रकट हुई है, वह अपने आप में दलितों के स्वाभिमान और उनके संघर्ष की प्रतीक बन गई है। इस शब्द की अभिव्यंजना में विरोध और नकार का भाव विद्यमान है। समता और स्वतंत्रता, बंधुता की इस लड़ाई में यह शब्द सामाजिक न्याय का उदबोधक बनकर उभरा है।

आज गैर दलितों द्वारा दिये गये शब्द –चमार, भंगी, चुहडा, ढेड, पेरिया, अंत्यज हरिजन, डोम, डूमार, चान्डाल, उन्हें पीड़ा पहुंचाते हैं जबकि 'दलित' अस्मिता का द्योतक और जाति विरोधी लगता है। अर्जुन डांगले ने कहा है–''दलित एक जाति नहीं बल्कि एक अनुभूति है जिसमें समाज के निचले स्तर के लोगों के अनुभव, उनकी खुशियां और संघर्ष शामिल है। यह सामाजिक दृष्टिकोण से परिपक्व होती है। जिसका सम्बन्ध नकार, विद्रोह और विज्ञान के प्रति प्रतिबद्धता से है और जिसकी अंतिम परिणीति क्रांति में जाकर होती है।''[13]

दलित शब्द को लेकर कई प्रकार की भ्रांतियां फैलाई जाती है कुछ लोग इसे हीनता बोधक मानते हैं, तो कई लोग इसके विरुद्ध जातिवादी नजरिये से हमला बोलते हैं। बाबुराव बागुल ने अपने एक भाषण में कहा था–' अनेक लोगों को यह 'दलित' शब्द बेहद खटकता है। हमने दलित शब्द की जो व्याख्या की है, वह उस व्याख्या के अर्थ जानकर घबरा गये है। इसीलिए वे अपनी बात को ऊँचा रखने के लिए इस शब्द के अनेक अर्थ बताने लगे है। परन्तु बन्धुओं, हमने जग जाहिर कर दिया है कि दलित यानि वर्ण व्यवस्था को और उसकी समूची वैचारिक व्यवस्था को उद्ध्वस्त करने वाला। हमने यह मान्य कर लिया है कि दलित यानि इस संसार और जीवन को नया बनते

देखने वाला। हमने यह भी तय कर लिया है कि दलित यानि इस युग ने जिसके हाथों को प्रज्ञावान, क्रान्तिकारी बनाया है, और जिसके लिए आधुनिक 'शस्त्र' और शास्त्र उपलब्ध कराये गये हैं, वही दलित है।'[14]

एस.एल. धनी ने अपनी पुस्तक 'धर्म और राजनीति में दलित चुनौती' में लिखा है– 'दलित कौन है? इस प्रश्न के जन्म का आरम्भिक श्रेय निःसंदेह ब्रिटिश साम्राज्य को जाता है। परन्तु उसने इस दिशा में जो कुछ किया, वह आरम्भ में दलित चेतना लाने के संदर्भ में उसके किसी सीधे प्रयास के रूप में नहीं था। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य अपने ही साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूरा करने की दिशा में कुछ कदम उठाने पर मजबूर हुआ था। उन कदमों का संयोगवश परिणाम ऐसा हुआ कि दलित चेतना का जन्म हो गया।

आगे वे लिखते हैं– 'उपर्युक्त प्रश्न का जन्म भारत की जनगणना प्रणाली के माध्यम से हुआ। यह प्रणाली अंग्रेजों ने सन् 1881 ई. में अपनाई थी। 1881 ई. की जनगणना में केवल इतना ही किया गया था कि विभिन्न जातियों और धर्मों के लोगों की गणना कर ली गयी थी और उसका जोड़ प्रस्तुत कर दिया गया था। उस समय जातियों को न तो छोटा–बड़ा दर्शाने के लिए और न ही अछूतों और सवर्णों सम्बन्धी जातियों को इंगित करने की दिशा में कुछ किया गया था। विभिन्न जातियों के ऊंचे या नीचे दर्जे दिखाने संबंधी पहला कदम 1891 ई. की जनगणना में उठाया गया था।[15]

यह सिलसिला आगे भी चला था। 1901 की जनगणना में वर्चस्व सम्बन्धी प्रश्न पूछे गए थे। 1901 की जनगणना तक दलितों को हिंदू नहीं माना गया था। धर्म और जाति की जगह उनकी जाति ही लिखी जाती थी। इसी दौरान यह एक राजनीतिक मसला बना कि दलित हिन्दू हैं या नहीं। हिन्दुओं के सामने यह एक गंभीर मसला खड़ा हो गया था। यदि वे उन्हें हिन्दू मानने से इंकार करते हैं तो हिन्दुओं के राजनीतिक अधिकारों में फर्क पड़ जाएगा। यह वही समय था जब भारत में दलितों के लिए आर्य समाज ने सुधारवादी कार्यक्रम चलाए थे।

गोलमेज सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार की आलोचना करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा था, 'यद्यपि सरकार ने यह महसूस किया कि जमींदार लोग असहाय, गरीब, एवं दलितों का खून चूस रहे हैं, फिर भी सरकार ने उन सामाजिक बुराईयों का अंत नहीं किया जिनसे दलितों का जीवन सदियों से मुरझाया पड़ा है। सरकार के पास इन बुराईयों को समाप्त करने की कानूनी शक्ति है पर उसने सामाजिक – आर्थिक जीवन की वर्तमान संहिता को नही बदला। 'डॉ. अम्बेडकर ने आगे कहा – 'ब्रिटिश सरकार से पूर्व हम अस्पृश्य थे, ब्रिटिश सरकार ने हमारे लिए क्या किया?

इन कारणों ने दलित आंदोलनों की भूमि तैयार की थी जो आगे चलकर डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति संघर्ष की पृष्ठभूमि के रूप में देखी गयी थी, और दलित चेतना का विकास हुआ जिसे दलित साहित्य के बीज रूप में भी देखा जा सकता है, जो कि डॉ. अम्बेडकर के जीवन–दर्शन से प्रेरणा लेकर एक विस्फोट की तरह साहित्य जगत में साकार हुआ।

एस. एम. माइकल लिखते हैं,–'भारतीय जाति–व्यवस्था में एक होने का अर्थ बहुत निम्न होना एवं विस्तृत संस्तरणात्मक सामाजिक व्यवस्था से आंशिक रूप से बाहर होना। अस्पृश्य लोग निम्न जातियों का वह पृथक समूह है जो उच्च प्राणियों (दोनों, मानव और दैवी) से, विशिष्ट सम्बन्धों की अत्याधिक सामूहिक अशुद्धता के कारण, अलग कर दिये जाते है। भारतीय जनसंख्या के 16 प्रतिशत और जिनकी संख्या लगभग 13.8 करोड़ है। उन्हें अनेक नामों से जाना जाता है, जैसे 'अस्पृश्य' 'हरिजन' (एक नाम जिसे नरसी मेहता ने सबसे पहले प्रयोग किया और गांधी ने उसे स्वीकारा एवं प्रचलित किया), बाह्य जातियां (जिनका प्रयोग जे. एच. हटन द्वारा किया गया), 'दबी हुई जातियां' (जिनका प्रयोग ब्रिटिश अफसरों द्वारा किया गया), 'बहिष्कृत जातियां', 'परिहस' (सामान्यतः किन्तु निश्चित रूप से तमिल शब्द 'पर' अथवा 'पराई', ढ़ोल से लिया गया देखें डिलीज, 1997)।

अत्यधिक प्राचीन काल में इनके लिए 'मलेच्छ', 'चाण्डाल', (मनु द्वारा प्रयुक्त शब्द), तथा पंचम (पांचवा वर्ण) अवर्ण, (अर्थात चारों वर्णों से बाहर)', 'निषाद', पुलकस, अंत्यज, अतिशूद्र, आदि नामों का प्रयोग किया गया। 'अनुसूचित जाति' शब्द सर्वप्रथम सन् 1935 में प्रस्तुत हुआ, जब ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार (अनुसूचित जाति) आदेश सन् 1936 में प्रकाशित करवाया, जिसमें कुछ निश्चित जातियों, प्रजातियों एवं जनजातियों को अनुसूचित जातियों के रूप में सामान्यतः जाना जाता था। 'दलित' शब्द का सर्व प्रथम उपयोग सन् 1931 में पत्रकारिता के लेखों में अस्पृश्यों को दर्शाने के लिए हुआ और महाराष्ट्र के दलित पैंथर आंदोलन के साथ सन् 1970 के प्रारम्भ में इसका उपयोग बढ़ा। वर्तमान में इसका उपयोग मूलभूत अधिकारों से अधिकृत एवं वंचित की परिस्थिति को दर्शाता है और ऐसे व्यक्तियों को संदर्भित करता है, जो अपने निम्न जन्म के कारण दबे हुए हैं।[16]

नामदेव ढ़साल की मान्यता है– 'दलित यानी अनुसूचित जातियां, बौद्ध, कष्ट उठाने वाली जनता, मजदूर, भूमिहीन मजदूर, गरीब, किसान, खानाबदोश जातियां, आदिवासी, 'दलित' शब्द की यह जाति निरपेक्ष व्यापक परिभाषा है।'[17]

यशवंत मनोहर दलित शब्द को एक अलग आयाम देते हुए उसे परिभाषित करते हैं– दलित यानि क्रांतिमान संवेदना, दलित यानि परिवर्तन निष्ठ जीवन मार्ग, दलित विचार यानि समता, सुअवसर, स्वतन्त्रता का विचार, दलित यानि सभी प्रगतिशील शक्तियों को हृदय में समेटने वाला दर्शन, दलित यानि सुसंस्कृत, अशोषित और स्वस्थ, निरोग मानवीय जीवन संकल्पन।

लक्ष्मण शास्त्री जोशी के अनुसार – 'दलित मानवीय प्रगति में सबसे नीचे पड़ा हुआ और पीछे धकेला गया सामाजिक वर्ग है। महाराष्ट्र में हिन्दू समाज में महार, चमार, डोम, इत्यादि जिन जातियों को गांव से बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया उनको 'अछूत' या 'दलित' कहा गया।[18]

उपरोक्त संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में 'दलित' शब्द एक व्यापक अर्थ बोध के साथ गम्भीर अभिव्यंजना देता है। भारतीय समाज व्यवस्था में वह व्यक्ति जो वर्ण व्यवस्था में सबसे नीचे माना गया। जिसे अस्पृश्य, अछूत, अंत्यज, आदि कहा गया, संविधान में जिसे अनुसूचित जाति, जनजाति कहा गया। जो ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग, भाग्य आदि के कर्मकांडों मे विश्वास नहीं करता है। जो मनुष्यता में गहरी आस्था रखता है। वही दलित है। यह एक समूहवाचक शब्द है दलित एक प्रतीक है परिवर्तन और क्रांति का जो समस्त अस्पृश्य कही जाने वाली अलग–अलग जातियों को एक साथ जोड़ने में सफल रहा है और अपनी गहन व्यापकता में जाति विरोधी है। सामाजिक संघर्ष का प्रतीक अस्पृश्यों, अछूतों, अंत्यजों, डोम, चान्डाल, मांग, महार, पेरियाह आदि समस्त अस्पृश्य जातियों और शोषितों, पीड़ितों की अस्मिता का प्रतीक बन गया है। दलित साहित्य ने इस शब्द को इन्ही सन्दर्भों के साथ ग्रहण किया है।

दलित साहित्य का नामकरण और उसका स्वरूप

'दलित' शब्द साहित्य के साथ जुड़कर व्यापक भावबोध के साथ साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को गहनता के साथ परिभाषित करने की ओर उन्मुख होकर मानवीय सरोकारों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्थापित करता है। 'दलित साहित्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1953 में आ. रणवीसे द्वारा अपने एक लेख में किया था, जो 'जनता साप्ताहिक' में प्रकाशित हुआ था।[19]

सुप्रसिद्ध कथाकार और चर्चित हिन्दी पत्रिका के संपादक डॉ. महीप सिंह अपने एक लेख में लिखते हैं– 'शताब्दियों से इस देश की समाज व्यवस्था, समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को शूद्र श्रेणी में रखती रही है। शूद्रों में एक वर्ग अछूत घोषित कर दिया गया, जिनकी छाया से भी भ्रष्ट हो जाने की आशंका से ग्रस्त होकर अपने आपको सर्वण मानने वाले लोग कतराने लगे। इनके हाथ से पानी तक लेना धर्म भ्रष्ट

हो जाने की नियति बन गया। पिछले वर्षों में इस वर्ग के लोगों ने अपने लिए अछूत, अस्पृश्य, हरिजन आदि शब्दों को त्याग करके अपने आपको 'दलित' कहलाना पसंद किया। इसी वर्ग के लेखकों ने अपने लेखन की अलग पहचान स्थापित की और इस साहित्य को 'दलित साहित्य' का नाम दिया।'[20]

'दलित' शब्द दबाये गए शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित के अर्थों के साथ जब साहित्य से जुड़ता है तो विरोध और नकार की ओर संकेत करता है। यह विरोध और नकार चाहे व्यवस्था का हो या भाषा–प्रांत के अलगाव का हो या साहित्यिक परम्पराओं, मानदंडों या सौन्दर्य शास्त्र का हो। दलित साहित्य नकार और विद्रोह का साहित्य है, जो संघर्ष से उपजा है। जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्ण – व्यवस्था से उपजे जाति भेद का विरोध है।

डॉ. अम्बेडकर के बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने के बाद महाराष्ट्र में दलित साहित्य की गतिविधियां तेज हो गई थी। 14 अक्टूबर 1956, को बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर द्वारा लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार करने का महत्व केवल धार्मिक नहीं था। उसका एक सांस्कृतिक और सामाजिक आशय भी था। एक नए सांस्कृतिक जीवन की ओर दलितों का आंदोलन शुरू हुआ था। यह एक ऐतिहासिक समय था। जिसने दलितों के भीतर एक नये उत्साह और जोश का सूत्रपात किया था। इसी आंदोलन से प्रेरणा लेकर मराठी दलित समाज के लेखकों ने प्रथम साहित्य सम्मेलन की शुरूआत की थी। यह एक सपना था जो साकार हुआ था।

यह सम्मेलन दिसम्बर 1956, में डॉ. अम्बेडकर के मार्गदर्शन में सम्पन्न होने वाला था। परन्तु उनके आकस्मिक निधन (महापरिनिर्वाण) के कारण यह संकल्प पूरा न हो सका।[21]

यह सम्मेलन 2, मार्च (रविवार) 1958, के दिन बंगाली हाई स्कूल हाल, मोर बाग, दादर, मुम्बई में सम्पन्न हुआ था। सम्मेलन की अध्यक्षता सांसद बापू साहेब काम्बले ने की थी। उद्घाटन आचार्य अत्रे

के द्वारा होना तय था, लेकिन वे सम्मेलन में नहीं आये थे। इसलिए उद्घाटन के लिए शायर अण्णा भाऊ साठे का चयन किया गया था। स्वागताध्यक्ष घनशाम तळवटकर थे। सम्मेलन में – 'दलित वर्गों में साहित्य का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए' विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था। 'प्रबुद्ध भारत' दलितों के एक मात्र साप्ताहिक ने सम्मेलन पर विशेषांक निकाला था। जिसके संपादक दा. सा. रूपवते थे। अपने संपादकीय में उन्होंने लिखा था– 'इस विचित्र समाज–व्यवस्था के विरुद्ध दलित समाज ने साहित्य के द्वारा आंदोलन उभारा है। आंदोलन यानी दलित साहित्य।'

इस सम्मेलन के आयोजित करने की क्या आवश्यकता है? सम्मेलन क्या है? आदि प्रश्नों को बंधु माधव ने अपने लेख का विषय बनाया था, जो 'प्रबुद्ध भारत' (15 फरवरी, 1958 अंक) में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में बंधु माधव ने कहा था कि जैसे रूसी लेखकों ने लेनिन के क्रांतिकारी विचारों को अपने साहित्य में पिरो कर क्रांति में मदद की, उसी तरह बाबा साहेब के विचारों को जन–जन तक पहुंचाने के लिए अपने साहित्यिक कलाकारों को यह कार्य करना होगा। इस लेख में बंधु माधव ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण और गम्भीर विचार रखा था।[22]

प्रथम सम्मेलन में साहित्य के नामकरण को लेकर एक प्रस्ताव पारित हुआ था। यह पांचवा प्रस्ताव था जिसमें भाषा और साहित्य के क्षेत्र में दलित लेखकों और अन्य लेखकों के दलित विषयक साहित्य को 'दलित साहित्य' कह कर एक अलग विभाग के रूप में मान्यता दी जाए और उसी के अनुसार साहित्य संघ, विश्वविद्यालयों में इसके विभाग के सांस्कृतिक महत्त्व को पहचान कर इसके योग्य सम्मान दिया जाए।[23]

साहित्य के साथ 'दलित' विशेषण ने मराठी में परम्परागत और उच्चवर्गीय सम्भ्रांत लेखकों को उस समय बहुत चौकाया था। उन्होंने नाक–भौंह भी चढ़ाई थी। उस पर तीखी टिप्पणियां भी की गई थी।

कुछ ज्यादा ही संस्कृतिनिष्ठ लेखकों ने उपहास भी उड़ाया था। किन्तु जिस तीखेपन और बेबाकी ढंग से मराठी लेखकों ने अपनी बात कहनी शुरू की, उसने साहित्य जगत में एक नए युग का सूत्रपात किया जिसकी ओर आम पाठकों का ध्यान गया और वे दलित साहित्य की ओर आकर्षित होने लगे। उससे दलित साहित्य की एक विशिष्ट पहचान बनने लगी और मराठी की साहित्य–चर्चा में दलित साहित्य की गूंज सुनायी पड़ने लगी थी।

जैसा कि अनेकों विद्वानों और दलित लेखकों, चिंतकों की मान्यता है कि 'दलित शब्द का सम्बन्ध जाति से नहीं है। यह एक चेतना है। जो दबा हुआ है, सामाजिक श्रमजीवी है, जिसकी मनुष्यता की प्रतिष्ठा ही नहीं हो पायी, वह अपनी अस्मिता की खोज करता है। मैं कौन हूँ? अर्थात सेल्फ आइडेंटिटी के सवाल से आरम्भ करने वाला ही दलित चेतना वाला है। इसीलिए यह जाति का मामला नहीं है। मुझे अछूत बनाया गया, बहिष्कृत रखा गया। यह कांशसनेस ही दलित कांशसनेंस है।[24]

कोई भी परिवर्तनकारी साहित्य सामाजिक स्थितियों में से ही जन्म लेता है। मराठी का दलित साहित्य इन्हीं स्थितियों में उभरा है। हिन्दी में यह गूंज कुछ देर से सुनाई पड़ी।

भारतीय साहित्य में चाहे वह हिन्दी हो या मराठी, दलित समस्याओं को कहीं भी गंभीरता से उठाने की मंशा दिखायी नहीं देती है। क्योंकि भारतीय–समाज व्यवस्था में जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता से उत्पन्न सामाजिक विद्वेष अत्याधिक सघन और अमानवीय रूप में विद्यमान है इसीलिए शोषण और प्रताड़नाओं, विषमताओं, भेदभावों के विरुद्ध दलित समाज की मुखरता, कठोर प्रतिक्रिया दलित साहित्य के रूप में उभरी है।

दलित साहित्य के संदर्भ में 'दलित' एक जाति नहीं बल्कि एक सच्चाई है। समाज के विषमतापूर्ण अनुभवों, उनके सुख–दुख की, उनके संघर्ष पर असीम श्रद्धा और निष्ठा रखने वाली यह सच्चाई

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक प्रगल्भ और शास्त्रीय हो रही है। अर्थात यह विद्रोह, नकार और विज्ञान निष्ठा इन सूत्रों को एक साथ जोड़कर ही यह क्रांतिकारी विचार बनता है। इस सच्चाई के साथ दलित जीवन के प्रति देखने का एक अलग दृष्टिकोण लेकर, दलित जीवन के केवल अनुभव ही प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि उन अनुभवों का अर्थ भी बताया जाता है।[25]

गत पचास वर्षों में हिन्दी और मराठी साहित्य जगत में कुछ ऐसे सवाल उठते रहे हैं, जो दलित विमर्श को जानने–समझने के लिए जरूरी लगते है। वैसे तो ये प्रश्न हमेशा इस विमर्श के साथ परछाई की तरह लगे रहे है। इन पर लम्बे समय से विस्तृत विचार–विमर्श, चर्चा, लेखन होता रहा है। लेकिन फिर भी कुछ लोगों के मन में ये सवाल किसी न किसी रूप में मौजूद रहे हैं। ऐसे ही सवालों में कुछ नीचे दिए जा रहे हैं–

1. साहित्य भी दलित होता है?
2. दलित साहित्य की परिभाषा क्या है? वह जो दलितों के लिए लिखा गया है या वह जो दलितों द्वारा लिखा गया है।
3. क्या गैर दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित की श्रेणी में आएगा?
4. दलित साहित्य लिखने के लिए जन्मना दलित होना जरूरी है?

उपरोक्त सभी प्रश्न दलित साहित्य की आंतरिक चेतना से जुड़े हैं। इन पर विस्तृत चर्चा और विश्लेषण की आवश्यकता है।

साहित्य भी दलित होता है? इस प्रश्न में अंतर्निहित पूर्वाग्रह, संदेह, शंका, भ्रम का समावेश है। क्योंकि साहित्य की शब्दावली में ललित साहित्य, भक्ति साहित्य, वैदिक साहित्य, धार्मिक साहित्य, प्रगतिशील साहित्य, पारम्परिक साहित्य जैसे शब्द पहले से ही मौजूद हैं, जिनसे प्रश्न उठाने वालों का गहरा परिचय है। इतना ही नहीं

संस्कृत में ब्राह्मण–ग्रंथ कहे जाने वाला साहित्य भी मौजूद है, उसके साथ जनवादी साहित्य, गांधीवादी साहित्य, मार्क्सवादी साहित्य, छायावादी साहित्य, आदि से प्रश्नकर्ताओं का परिचय है जिस पर उनके मन में किसी भी प्रकार की कोई शंका, संदेह नहीं है। लेकिन साहित्य के साथ दलित शब्द जुड़ते ही तमाम तरह के प्रश्न मन में उठने लगते हैं। इसका कारण है दलित शब्द का अभिधात्मक अर्थ। जिसके रूढ़ अर्थों में हीनता, असहायता, दरिद्रता, अशिक्षा, लाचारी, विवशता, अपमान, शोषण, उत्पीड़न, गाली–गलौज, अस्पृश्यता, अछूतपन, नीचता का भावबोध भरा हुआ है। इसीलिए अनेक विद्वान, पाठक समीक्षक इस शब्द को अपमानजनक और हीनता बोध से भरा हुआ मानते हैं।

यह सवाल आज भी आलोचकों द्वारा लगातार उठाया जाता है कि साहित्य भी दलित होता है। ऐसे आलोचकों को ललित कहे जाने वाले साहित्य से कोई विरोध नहीं है। ब्राह्मण ग्रंथ कहने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं है, वैदिक साहित्य से भी कोई एतराज नहीं हैं, लेकिन जब साहित्य के साथ दलित शब्द जुड़ जाता है तो एतराज होता है। यहां ग्वेंडोलीन ब्रूक्स का यह कथन भी प्रासंगिक लगता है, 'कभी–कभी विवाद उठता है कि क्या कविता ब्लैक है सकती है? यह तथ्य है कि कवि स्वयं काला है अर्थात उसकी जिंदगी, उसकी कविता और उसके पूर्वजों का इतिहास चीनी–जापानी, भारतीय और आयरिश कवियों के इतिहास से भिन्न है...काले कवियों की कविता में पीड़ा एवं साफगोईवादिता निहित होती है' ।[26]

एक दलित का भारतीय–समाज–व्यवस्था में जो स्थान निर्धारित है उसी के कारण उसका सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, विकास अवरुद्ध हुआ है। उसी के कारण चातुर्वण्य–व्यवस्था में ऊपरी सीढ़ी पर विराजमान समूह और दलित की मानसिक चेतना अलग–अलग है। उनका भाव संसार, आशा–आकांक्षा अलग है जो उनके साहित्य में भी परिलक्षित होता है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

इसलिए यह कहना कि साहित्य भी दलित होता है, कोई अर्थ नहीं रखता।

स्वयं को दलित क्यों कहा जाये, यह सवाल भी अनेक दलित–गैर दलित लेखक, विद्वान, समीक्षक, पाठक उठाते रहे हैं। विशेष रूप से दलितो में सुशिक्षित, सुविधाभोगी, सम्पन्न लोग इस शब्द को अपमान बोधक मानते हैं। यह विचार अनेक लोगों के अंतस में विद्यमान है।

लेकिन दलित साहित्य के संदर्भ में यह पारम्परिक रूढ़ अर्थ से भिन्न है। साहित्य में यह अभिधात्मक नहीं अभिव्यंजनात्मक अर्थ के साथ लिया गया है। जिसका एक नया अर्थ, नया आशय, उभरकर आया है। दलित यानी शोषित, पीड़ित, सामाजिक, धार्मिक या अन्य ऐतिहासिक कारणों से, जिसका आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक शोषण किया गया है, ऐसा मनुष्य क्रांति कर सकता है, यह दलित साहित्यकारों का सुदृढ़ विश्वास है। गत सदी ने दलितों को संघर्ष के अनेक शस्त्र दिये हैं जिनकी बदौलत आज दलित संघर्ष के लिए उठ खड़ा हुआ है। इसलिए दलित यानी क्रांतिकारी, संघर्षशील समूह, जो एकजुट होकर समाज में बदलाव लाएगा। यही है नया आशय और नया संदर्भ। और इन संदर्भों के साथ नयी चेतना जगाने वाला है दलित साहित्य।

दलित साहित्य की परिभाषा क्या है? वह जो दलितों के लिए लिखा गया है या वह जो दलितों द्वारा लिखा गया है।

क्या गैर दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य की श्रेणी में आएगा? इस प्रश्न के उत्तर में डॉ. गंगाधर पानतावणे का कहना है– 'साहित्य के दो वर्गीकरण किये जा सकते हैं–कल्पनाजन्य साहित्य अैर अनुभवजन्य साहित्य। दलित के दुख का वर्णन कल्पना से नहीं हो सकता। लेकिन इन दो वर्गीकरण से अलग एक तीसरी चीज भी है, उसे मैं 'सहजाणीव' कहता हूँ। इस तरह (1) कल्पना (2) जाणीव (3) सहजाणीव। ये तीन बातें हुई। जो अनुभव मुझे है, वह तो 'जाणीव' है। दूसरा जो उस अनुभव के पास जा सकता है, उसे

'सहजाणीव' कहेंगे। जैसे प्रेमचन्द का लिखा हुआ है, और ओम प्रकाश वाल्मीकि का । ओम प्रकाश वाल्मीकि का 'जूठन' प्रेमचन्द के लिखे हुए 'जूठन' से अलग है। एक (वाल्मीकि) जाणीव है, तो दूसरा (प्रेमचन्द) सहजाणीव।[27]

दलित साहित्य लिखने के लिए जन्मना दलित होना जरूरी है? यह प्रश्न भी बार–बार उठता रहा है। दलित लेखकों की रचनाओं ने यह सिद्ध किया है कि दलित जीवन से जुड़ी दलित, गैर दलित रचनाओं में गहरा अंतर दिखायी देता है। डॉ. महीप सिंह की मान्यता है– 'इसमें कोई संदेह नहीं है कि दलित वर्ग की पीड़ा पर हिन्दी में प्रेमचन्द, नागार्जुन और अमृत लाल नागर जैसे लेखकों ने गहरी संवेदना से भरे साहित्य की रचना की और इस वर्ग की व्यथा को मुखरित किया। किन्तु यह भी सत्य है कि दलित साहित्य को सही पहचान दलित वर्ग में जन्मे लेखकों ने ही दी। उन्होंने इस पीड़ा को अपनी हथेली पर रखे हए अंगारे की तरह महसूस किया। इस प्रकार के लेखन ने इस वर्ग द्वारा भोगे हुए उपेक्षा, अपमान और व्यथा को तो अभिव्यक्ति दी है, उस समाज व्यवस्था की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिसमें एक पूरे का पूरा वर्ग इन स्थितियों को झेलने के लिए मजबूर कर दिया है। विडम्बना यह है कि इस वर्ग को ऐसी अमानवीय स्थिति में धकेल देने वाली व्यवस्था इसे 'धर्म' मानती है और इसे उचित ठहराती रही है।'[28]

दलित साहित्य – के स्वरूप और उसके सामाजिक पक्ष को समझने के लिए इतिहास के प्रति दलित दृष्टिकोण को समझना भी जरूरी है। वर्तमान परिदृश्य में दो बातें विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। महाराष्ट्र में उभरा दलित साहित्य आन्दोलन आज सम्पूर्ण भारत में फैल चुका है। इस साहित्य के प्रति तथाकथित मुख्यधारा के साहित्यकारों, विद्वानों, आलोचकों का दृष्टिकोण पहले तो उपेक्षापूर्ण रहा। पर जब दलित कविता ने अपनी जड़ें जमा ली, तो उनसे सम्वाद शुरू हुआ। आज भी दलित रचनाकारों के दृष्टिकोण को ठीक से

समझने की कोशिश नहीं हो रही है। आज दलित तर्क की सबसे बड़ी सांघातिक मार यह है कि जो दलित नहीं है, वह दलित चेतना और दलित पीड़ा को समझ ही नहीं पा रहा है। इसी तर्क से दलित साहित्यकार प्रेमचन्द अैर निराला आदि की रचनाओं पर प्रश्न उठा रहे हैं। इन तर्कों के समुचित उत्तर ढूंढने के बजाए इन तर्कों को खारिज करने का अंदाज यह रहता है कि इनकी मजाल कि प्रेमचन्द और निराला पर सवाल उठायें? यह कोई वैज्ञानिक तरीका नहीं है। अप्रश्नेय साहित्य में कोई नहीं होता। जब तक साहित्य को लेकर सवाल उठते रहेंगे, तब तक साहित्य तरोताजा बना रहेगा। यदि प्रश्न में अतिरेकता भी परिलक्षित होती है, तो भी इसमें निहित सत्य का, इसके मर्म को समझना होगा।

इस प्रकार यदि हम इन तथ्यों को सकारात्मक रूप में लें तो दलित प्रश्नों के उठने से समाज के पुनर्गठन की जटिलताएं उजागर हुई हैं और अब सवाल सहानुभुति या सुधारवादी होने का नहीं रह गया है। अब यह समय है समूचे भारतीय समाज के आत्म–साक्षात्कार करने का। दलित की समस्या राष्ट्र की गम्भीर समस्या है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं। उन पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे मुख्य अंतर्विरोध को हल करने का कोई रास्ता निकलेगा, जिससे राष्ट्र और अधिक मजबूत और एकजुट होगा। 'दलित लेखकों का अनुभव जगत अन्य वर्गीय लेखकों के अनुभव जगत से भिन्न स्वरूप का है। अनुभव की दृष्टि से कौन कहां खड़ा है, भूतकाल की ओर देखने का उनका दृष्टिकोण किस प्रकार का है, इसी से अनुभव की भिन्नता स्पष्ट होती है। हमारी अपनी समझ, हमारे पाये हुए जीवन का गहन अर्थ एवं हमारा दुःख भिन्न है। दलित साहित्य अर्थात जिसमें केवल आर्थिक एवं सामाजिक संघर्ष ही प्रमुख है, ऐसा नहीं है, बल्कि इसमें सांस्कृतिक नीति मूल्यों का संघर्ष भी है। आदमी प्रचलित समाज व्यवस्था में असुरक्षित–सा महसूस करता है। अभावग्रस्त समाज में उसका जन्म होने के कारण अभी भी वह भयभीत है। लेकिन साहित्य

में इस जान लेवा भय का चित्रण नहीं है। दलित साहित्य ने ही सर्वप्रथम उसका सम्बन्ध उसके 'स्व' से साथ जोड़ा। परिणाम यह हुआ कि जो अनुभव विश्व उसके भीतर छिपा हुआ था, उसके सामर्थ्य से परिचित हुआ।'[29]

मैनेजर पाण्डेय ने अपने एक साक्षात्कार में ज्योतिबा फुले के कथन को उद्धृत किया है–'गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने की पीड़ा, कोई और नहीं।'[30]

मैनेजर पाण्डेय नागार्जुन और अमृतलाल नागर के लेखन में अचेतन रूप में आये सवर्णवादी संस्कारों की और इशारा करते हुए मानते हैं कि दलित चेतना की प्रामाणिक अभिव्यक्ति दलितों द्वारा ही संभव है। उनका यह भी मानना है– ''हिन्दी में गैर दलितों ने भी दलित जीवन के बारे में साहित्य रचा है, ऐसे लोगों में प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन और अमृतलाल नागर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दलित जीवन के बारे में गैर दलितों के द्वारा लिखे साहित्य के प्रसंग में एक प्रश्न विचारणीय है। यह प्रश्न है संस्कार एवं अनुभव के द्वंद का। कभी–कभी रचना में रचनाकार के संस्कार रचनात्मक अनुभव की सीमा लांघकर प्रकट हो जाते हैं। अमृतलाल नागर का प्रसिद्ध उपन्यास है 'नाच्यौ बहुत गोपाल'। उसमें संस्कार एवं अनुभव का द्वंद दिखाई देता है। उपन्यास की नायिका मंदिर में मूर्ति को देखते ही श्लोक का पाठ करने लगती है। यह रचना–दृष्टि पर संस्कार का हावी होना है। लेखक चाहे गैर–दलित हो या दलित उसे संस्कार और अनुभव के द्वंद के बारे में सावधान रहना चाहिए।[31]

शिव कुमार मिश्र लिखते हैं, 'मार्क्स ने सही कहा था कि शासक वर्ग की विचारधारा ही किसी युग की प्रधान विचारधारा होती है। उदार मानसिकता और उदात्त तथा प्रशस्त संवेदना के बड़े–बड़े लेखक तक जाने–अनजाने उसे ग्रहण करते हैं और उसकी अभिव्यक्ति करते हैं।'

डॉ. मैनजर पाण्डेय अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं– 'एक सोची–समझी पद्धति भारतीय सवर्णवादी व्यवस्था में दिखाई देती है...वह यह कि यहां जो बौद्धिक, पौराणिक परम्परा है, जिस आप मनुवादी परम्परा कहेंगे, उसकी पद्धति यह है कि वह विरोधी विचार की या रचना की पहले तो उपेक्षा करती है, जब उपेक्षा से विरोधी विचार या रचना नहीं मरती है, तो फिर उसका वह विरोध करती है। अगर वह विरोध से समाप्त नहीं होती है तो उसे विकृत करती है, अगर वह विकृत करने से भी नष्ट नहीं होती है, फिर उसकी क्रांतिकारी धार को मिटा कर और अपनी सर्वग्राही बांहे फैलाकर उसको अपने भीतर समेट लेती है।'[32]

आगे वे लिखते हैं, 'यह जो पद्धति है वह संत कवियों के साथ भी लागू हुई। मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य होता है कि उत्तर से दक्षिण तक जितने भी संत कवि है, उनके जीवन पर लिखी गई रचनाओं को देखिये, तो जिस प्रक्रिया की बात मैंने की, जिसमें उपेक्षा, विरोध, विकृति, समाहार की प्रक्रिया जिसको मैं कहता हूं, वह साफ लागू होती दिखाई देती है।'[33]

वीर भारत तलवार लिखते हैं– 'सवर्णों को अब समझना चाहिए कि जिन दलितों को वे अब तक वाणी देते आये हैं, वे दलित अब खुद बोलने लगे हैं, अपने पैरों पर खड़े होने लगे हैं। इसलिए अपना प्रतिनिधित्व अब उन्हीं को करने दिया जाए। सवर्ण लेखकों का ज्यादा स्वस्थ नजरिया यह होगा कि दलित लेखकों को अपना साहित्यिक आंदोलन खड़ा करने में वे जो मदद पीछे रहकर दे सकते हैं, बदले में कुछ पाने की भावना रखे बिना, वह देते रहें। वे खुद पहले की तरह दलित जीवन के बारे में अपने ढंग से लिखते रहें, लेकिन दलित लेखकों के द्वारा खड़े किये गये साहित्यिक आंदोलन के नेता बनने की इच्छा न करें।'[34]

उपरोक्त तथ्यों से जो निष्कर्ष निकलते हैं, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गैर दलित द्वारा दलित जीवन पर लिखी गयी रचनाएं

समाज–व्यवस्था की विसंगतियों और अमानवीय उत्पीड़न पर मुखरता से कोई भी टिप्पणी करने से बचती हैं और जब किसी बिंदु पर बदलाव की संभावना बनती दिखायी देती है तो वहां ये गैर दलित लेखक बेहद सफाई से बच कर निकल जाते हैं। कहीं–कहीं तो वे सीधे–सीधे ब्राह्मणवाद के पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। प्रेमचन्द, नागार्जुन और अमृतलाल नागर की रचनाओं में ऐसे पल साफ–साफ देखे जा सकते हैं। हिन्दी के महान रचनाकार भी अपने जातीय संस्कारों से बंधे हुए है। जिन्हें सार्वभौम और शाश्वत मूल्य कहा जा रहा है, वे ब्राह्मणवादी एवं सामंती सोच के मूल्य है। पंत हों या महादेवी, या फिर निराला, प्रसाद के चिन्तन की धारा क्या है? वर्ण व्यवस्था के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है? इन तमाम तथ्यों पर गहन विश्लेषण एवं गंभीर अध्ययन, मनन और उन्हें व्याख्यायित करने की आवश्यकता है, जिसे समीक्षक अनदेखा करते रहे हैं।

मराठी साहित्य में यह चर्चा एक लम्बे समय तक चलती रही है। मराठी साहित्यकार रा.भि. जोशी ने अपने एक लेख 'दलित साहित्य' में लिखा था– 'दलित साहित्य के भाष्यकार डॉ. वानखेडे कहते हैं, 'दलित साहित्य' वह है जो दलित लेखकों ने दलितों पर लिखा, संताप अभिव्यक्त करने वाला साहित्य। दलित साहित्य यानि दलित लेखकों द्वारा दलित विषयक समस्याओं पर लिखा गया प्रक्षोभक विद्रोह साहित्य। निःसंदेह दलितों द्वारा दलित संबंधित लिखा गया साहित्य, दलित साहित्य नहीं होता है। जब वह संताप अभिव्यक्त करने वाला, प्रक्षोभक और विद्रोही नहीं होगा, तभी 'दलित साहित्य' कहलाएगा।'[35]

रा. भि. जोशी आगे लिखते हैं– 'यह जो संताप की अभिव्यक्ति, प्रक्षोभ और विद्रोह का आक्रोश है, वह हिन्दू समाज की सांस्कृतिक परंपराओं पर है। विषमता के आधार पर इन परंपराओं ने मनुष्य को 'अस्पृश्य' मान लिया। इतना ही नहीं, उन्हें पशुओं से भी बदतर जीने को बाध्य किया गया। इस पारंपरिक साहित्य से जिन्हें लाभ हो रहा था, उन साहित्यकारों ने या सुधारकों ने इस परंपरा के विरुद्ध कभी

कोई आन्दोलन नहीं किया या कभी सशक्त आक्रोश जाहिर नहीं किया। यदि किया होता, अस्पृश्यों को मनुष्य समझ कर उनके अधिकारों की किसी ने लड़ाई लड़ी होती, अस्पृश्यता नष्ट करने की कोई तैयारी नहीं दिखायी। इसीलिए उस साहित्य और साहित्य परंपरा के विरुद्ध उनका रोष है।'[36]

अक्सर एक सवाल बार–बार उठाया जाता है कि दलित समुदाय के लेखक तो पहले से लिख रहे हैं, फिर अन्तर कहां है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गंगाधर पांतावणे, संपादक 'अस्मितादर्श' कहते हैं– 'जरूर पहले से ही हमारे लोग लिख रहे हैं। वह पुराना साहित्य है, पुरानेपन की छाया उस पर है। वे परम्परा से अलग नहीं थे। लेकिन जो नया दलित साहित्य आया तो उसके तीन आधार हैं– विद्रोह, विज्ञाननिष्ठा और विद्रोहमयता। ये दलित साहित्य के क्रांतिकारी त्रिसूत्र हैं। इनसे दलित समुदाय को एक नयी आइडेंटिटी (पहचान) मिली। उसने अपने आर्थिक और सामाजिक शोषण की बात उठायी। राजनीति और समाजनीति पर प्रश्न किए, यह नई बात थी। इसीलिए दलित साहित्य नया है।'[37]

'जब साहित्य सामान्य जन के साथ–शूद्र–अतिशूद्र के साथ संबद्ध होता है, तब वह सम्यक परिवर्तन का अर्थात आर्थिक, राजकीय, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक परिवर्तन का पक्षधर बन जाता है। इसी पक्षधरता को 'दलित साहित्य' ने भी स्पष्ट रूप से पहचाना है। वह भी इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि शोषक–सत्ता ने सदैव अपने अनुकूल प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धारणाओं और व्याख्याओं को जीवंत बनाये रखने की चेष्टा की है, तथा उसने प्रतिकूल पड़ने वाली प्रथाओं को नष्ट किया है। इसलिए दलित साहित्य हिन्दू पौराणिकता, वैचारिकता, मानसिकता, संस्कार, आदर्शों, धारणाओं, प्रतीकों और उनकी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष परिणितियों को नकारता है।'[38]

अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि दलित साहित्य क्या है? इस सम्बन्ध में शरण कुमार लिंबाले लिखते हैं– 'दलितों का दुःख,

परेशानी, गुलामी, अधःपतन और उपहास के साथ ही दरिद्रता का कलात्मक शैली से चित्रण करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। 'आह का उदात्त स्वरूप अर्थात साहित्य'। हर एक मनुष्य को स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और भयमुक्त सुरक्षा मिलनी चाहिए, इसी पृष्ठभूमि पर निर्मित एक प्रवृत्ति साहित्य में अभिव्यक्त हो रही है। इस प्रवृत्ति का नाम दलित साहित्य है। दलित साहित्य मनुष्य को केन्द्रित मानता है। मनुष्य को सम्यक क्रांति की ओर ले जाता है।'[39]

'दलित साहित्य की शुरुआत एक विशेष प्रकार की धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैचारिक स्थिति से हुई है, और वह भी दलित क्रान्ति के आंदोलन के बाद इसीलिए दलित साहित्य निरुद्देश्य साहित्य नहीं है। उसी प्रकार दलित साहित्य मनोरंजनवादी, अवसरवादी, कलावादी साहित्य भी नहीं हैं'।[40]

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि दलित साहित्य का नामकरण और उसका स्वरूप मनुष्य केन्द्रित है, जिसका उद्देश्य समाज में स्थापित वर्ण–व्यवस्था, चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था और शोषण की प्रक्रिया को नकार कर एक ऐसे समाज की स्थापना करना है, जहां समाज में स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का निर्माण हो सके और मानवीय सरोकारों को महत्ता मिले। तभी एक बेहतर समाज की परिकल्पना साकार हो सकती है।

दलित साहित्य का उद्‌भव

जैसे कि ऊपर चर्चा की गयी, मराठी में दलित साहित्य की शुरूआत 1958 से मानी जाती है। हिन्दी ही नहीं मराठी में भी दलित साहित्य के प्रारम्भ को लेकर उनके विद्वान खोजपरक प्रवृत्ति के साथ अपनी–अपनी राय प्रस्तुत करते है। हिन्दी में तीन तरह की प्रवृतियां दिखायी देती है। एक समूह जो दलित साहित्य का प्रारम्भ कबीर और रैदास से शुरू करके अछूतानन्द तक आकर ठहर जाता है। दूसरा समूह है जो दलित साहित्य की सरस्वती में प्रकाशित हीरा डोम की कविता 'अछूत

की शिकायत' से मानकर प्रेमचन्द पर खत्म कर देता हैं। एक और समूह है जो दलित साहित्य को वेदों से शुरू करके उपनिषदों, रामायण, महाभारत, सिद्धों, नाथों, संत–कवियों, तुलसीदास, निराला, प्रेमचन्द, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर, मदन दीक्षित, शिवमूर्ति, नमिता सिंह, उदय प्रकाश, अखिलेश, दूधनाथ सिंह, आदि को जोड़कर अपनी सूची को काफी लम्बी कर देता है। इस समूह में अधिकतर, शिक्षा संस्थानों से जुड़े, शिक्षक, व्याख्याता, रीडर, प्राध्यापक होते हैं। इसीलिए इस बीच ऐसे शोध ग्रंथों की बाढ़ आ गयी है, जो यह सिद्ध करने में लगे हैं कि हिन्दी ही नहीं संस्कृत साहित्य में भी दलित साहित्य लिखा जाता रहा। तीसरा समूह है जो दलित साहित्य का प्रारम्भ डॉ. अम्बेडकर के संघर्ष से उत्पन्न सामाजिक चेतना को मानता है। इस समूह की मान्यता है कि निःसंदेह सिद्धों, संत कवियों में अनके कवि दलित कही जाने वाली जातियों से थे। उन्होंने सामाजिक भेदभाव और जाति व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई। लेकिन वे दलित समाज में ऐसी कोई क्रांति या बदलाव की प्रक्रिया पैदा नहीं कर पाये जो दलितों को सामाजिक और धार्मिक गुलामी, सामाजिक विद्वेष, से मुक्ति दिला सकती। कबीर और रैदास को बाद सैकड़ों वर्षों तक न कोई दलित कवि परिदृश्य पर ही उभर सका, न सामाजिक जीवन में ही कोई बदलाव दिखाई दिया।

मराठी दलित साहित्यकार बाबुराम बागुल कहते हैं–'राष्ट्रीय आंदोलन ऐतिहासिक, मिथकीय, पूर्वजों की पूजा करने के स्वरूप में बदल गया था। वे लोग जिन्होंने गैर–बराबरी पैदा की थी तथा लोकतांत्रिक समाज–व्यवस्था को नहीं चाहते थे, उन्होंने ऐतिहासिक मिथकों और अतीत की प्रशंसा करना प्रारम्भ कर दिया था, क्योंकि उस काल में वे सर्वश्रेष्ठ विजेता तथा नायक थे। बौद्धिक लोगों ने इसी कारण पुरातन पूजा प्रारम्भ की और उसके पक्ष में चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया। फुले, आगरकर, रानाडे और गोखले जैसे लोगों ने शूद्रों तथा अतिशूद्रों की आपदाओं तथा उनकी दासता की चर्चा की। उन्होंने

वर्ण–व्यवस्था की आलोचना की। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्संरचना की मांग की। ऐसे लोग शत्रु घोषित हो गए और उन पर चारों तरफ से आक्रमण किये गए। बौद्धिक जीत गये। वे भारतीय मुक्ति संघर्ष को एक कमजोर लड़ाई में परिवर्तित करने में समर्थ रहे। अन्य आंदोलन को दूसरे दर्जे के आंदोलनों मे बदल दिया।'[41]

यहां यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि ऐसे ही दौर में हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त 'भारत भारती', लिखकर लोकप्रियता के शिखर पर थे जिसकी कड़ी में 'साकेत' आदि भी आती हैं। आजादी के उस दौर में हिन्दी साहित्य का 'छायावादी काल' और उसके रचनाकार जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, निराला अपने शिखर पर थे जो ऐतिहासिक संदर्भों का लेखन कर रहे थे। प्रसाद की 'कामायनी', 'ध्रुवस्वामिनी', 'चन्द्रगुप्त' आदि कृतियां उसी काल मे लिखी गयी थीं। सुमित्रानन्दन पंत प्रकृति प्रेम और श्रृंगारिक कविताएं लिख रहे थे, तो महादेवी वर्मा निज व्यथा और निराला 'राम की शक्ति पूजा' लिख कर ऐतिहासिक संदर्भों को स्थापित करा रहे थे।

सुप्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह कहते हैं– 'आज के कवियों का विरोध मुख्यतः छायावादी दृष्टि से है। इसका प्रमुख कारण सामाजिक राजनीति है। छायावादी युग का सम्बन्ध गांधी और नेहरू की विचारधारा से है, जिसका दुष्परिणाम आज के लेखकों के सामने हैं। उनके मन में इस राजनीति के विरुद्ध तीव्र विद्रोह है। इसलिए इस राजनीति से संबद्ध छायावादी दृष्टि के भी खिलाफ हैं।'[42]

'राष्ट्र के अस्तित्व तथा पहचान का प्रश्न ठीक वही बिंदु था, जिसे ज्योतिबा फुले ने उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ से ही अभिजनों के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रवादी अभियोजना का विरोध करते समय उठाया था। उनका तर्क था कि एक ऐसा समाज जो जातियों में बुरी तरह से बंटा हुआ है, राष्ट्र नहीं बन सकता। जो लोग इस राष्ट्र के प्रतिनिधित्व का दावा कर रहे हैं, वास्तव में वे इसे तोड़ने वाले लोग हैं।

सच बात यह है कि भारतीय पहचान का यह प्रश्न जाति विरोधी आंदोलन की प्रमुख ताकत भी रही है।'[43]

दलित साहित्य का उद्‌भव मराठी साहित्य में एक सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ है, जिसके माध्यम से दलित, शोषित, समाज का विद्रोह मुखरित हुआ जिसे अछूत, अस्पृश्य, आदि कहकर सदियों तक मनुष्य जीवन की सभी आवश्यकताओं और सुविधाओं से वंचित किया गया और जिसे केवल दुःख, वेदना, गुलामी, अपमान, आंसुओं से भरी जिन्दगी जीने के लिए विवश किया गया। वर्ण–व्यवस्था ने जातियों के कटघरों से निर्मित इस समाज–व्यवस्था में उसे वह स्थान दिया, जो गांव, नगरों के अहातों से दूर था और जहां केवल अंधकार ही अंधकार था। उस अंधकार भरे जीवन से निकाल कर उनके जीवन में रोशनी लाने का कार्य डॉ. अम्बेडकर ने किया। डॉ. अम्बेडकर ने ही दलितों की सोयी आत्मा को जगाया। और वह मनुष्य अपने सामर्थ्य के साथ दलित साहित्य को एक अस्त्र की तरह लेकर इस आंदोलन से जुड़ा।

डॉ. चमन लाल कहते हैं– 'आधुनिक दलित साहित्य ने भी अपनी पहचान समाज के विकृत जातिगत ढांचे के प्रति अपना आक्रोश जता कर की है। सो इस संदर्भ में आधुनिक दलित साहित्य की जड़ें–कबीर और रविदास की वाणी में देखी जा सकती हैं। इसीलिए इस तथ्य को यहां रेखांकित किया जा सकता है कि सही मायनों में कबीर और रविदास हिन्दी दलित साहित्य के अग्रदूत हैं। उत्तरी भारत के दलित साहित्य का आरम्भ कबीर और रविदास से माना जाना चाहिए और वही से दलित साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाना चाहिए।'[44]

यहां डॉ. चमन लाल सभी ऐतिहासिक संदर्भों को अनदेखा करने हुए सिर्फ जाति विरोध को ही दलित साहित्य समझने का तर्क देते दिखाई देते हैं। लेकिन इतिहास की इस सच्चाई को अनदेखा भी वे करते हैं कि कबीर और रविदास के काल और दलित साहित्य के

उद्‌भव के बीच पांच सौ वर्ष के लगभग का इतना लम्बा फासला क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ। कबीर और रैदास की परंपरा विकसित क्यों नहीं हुई। इस तथ्य को समझे बगैर कबीर और रैदास को दलित साहित्य का अग्रदूत कहना उचित नहीं जान पड़ता है।

यहां एक प्रश्न यह भी उठता है कि दलित साहित्य की अवधारणा और उसकी परिभाषा को जान बूझ कर अनदेखा करके कुछ विद्वान इसे भटकाने की कोशिश करते हैं। दलित साहित्य वर्ण–व्यवस्था और जाति–व्यवस्था का विरोध करता है, लेकिन साथ ही ईश्वर, अवतारवाद, आत्मा–परमात्मा, पुनर्जन्म, नर्क–स्वर्ग, भाषावाद, लिंगवाद, आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं, जो दलित कविता की अंतर्चेतना में विद्यमान है। जिन्हें अनदेखा करके दलित कविता की अंतः चेतना को ठीक से समझा पहीं जा सकता।

इस संबंध में रैदास की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है–

रे चित चेति चेति अचेत कहे, वाल्मीकौ देख रे।
जातिथें कोई पद न पहुंच्या, राम भगति बसेख रे।।
षट क्रम सहित जु विप्र होते, हरि भगति चित दृढ़ नांहि रे।
हरिकथा सूंहेत नाहीं, सुपच तुलै तांहि रे।।1।।
स्वांन सत्र अजाति सब थै, अंतरि लावै हेत रे।
लोग वाकि कहा जाने, तीनि लो पवित रे।।2।।
अजामिल गजगामिनिका तारि, काटी कुजर की पासि रे।
ऐसे द्रुमति कीये, क्यूं न तिरे रैदास रे।।3। [45]

रैदास की इन पंक्तियों को देख कर क्या कहा जा सकता है कि वे उन सभी प्रतीकों और मिथकों को महिमा मण्डित कर रहे हैं, जो पारंपरिक साहित्य में मान्य रहे है। व्यवस्था के पोषक तत्वों के रूप में उन्होंने अपनी भूमिका निभाई है। दलित साहित्य ने इन प्रतीकों, मिथकों को नकारा है और इनका विरोध किया है। ये सब दलित साहित्य की अवधारणा से बाहर हो गए हैं।

अम्बेडकर के मुक्ति–आंदोलन ने दलितों में एक नई चेतना पैदा की जिसके फलस्वरूप दलित साहित्य की रचनात्मकता का उदय हुआ जो मानवीय सरोकारों की अभिव्यक्ति बना। ऐसा साहित्य जिसमें दलितों की वाणी जो हजारों साल से मूक बनी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक विद्वेष और नारकीय जीवन की दग्धताओं को वहन कर रही थी, मुखर होकर स्वाभिमान और अस्मिता की लड़ाई लड़ने के लिए सामने आकर खड़ी हो गयी।

दलित साहित्य केवल दलितों के अधिकार और उनके जीवन मूल्यों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक संदर्भों के साथ जुड़कर समूचे समाज की अस्मिता और मूल्यों की पहचान बना है। इसी तरह दलितों की वेदना का स्वर दलित साहित्य की अंतर्धारा का पर्याय है। यह वेदना हजारों वर्षों की है। यह वेदना सिर्फ 'मैं' की नहीं समूचे समाज की वेदना है। इसीलिए सामाजिक यथार्थ साहित्य का प्रमुख स्वर है।

सही अर्थों में वर्ष सन् 1967 दलित साहित्य आंदोलन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व का वर्ष था। इसी वर्ष महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य परिषद ने भुसावल में 30 अप्रैल 1967 को अपना साहित्य सम्मेलन आयोजित किया था जिसके अध्यक्ष थे डॉ. म. ना. वानखेडे, जिन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए थे। उनका कहना था कि रामायण, महाभारत, संतकाव्य व प्राचीन मराठी साहित्य की समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस साहित्य में दलितों के जीवन का कोई भी चित्र नहीं है, इसीलिए दलित साहित्य लेखकों को आंदोलनकारी स्वरूप के साथ 'ब्लैक लिटरेचर' की तरह साहित्य का निर्माण कर अपने प्रश्नों को उठाना चाहिए। मिलिंद कॉलेज, मराठवाडा के युवा छात्रों, प्राध्यापकों को अपना साहित्य मंच बनाना चाहिए, इस विचार के तहत उन्होंने मिलिंद साहित्य परिषद की स्थापना की थी। परिषद का उदघाटन मराठवाड़ा विद्यापीठ के कुलसचिव प्रा. म. भि. चिटणीस ने 27 नवम्बर 1967 को किया था,

जिसकी अध्यक्षता शंकरराव खरात ने की थी। इस परिषद के सलाहकार प्राचार्य डॉ. म. ना. वानखेडे, आचार्य आर पी नाथ, प्राचार्य शिंदे को नियुक्त किया गया था। अध्यक्ष प्रा. गंगाधर पानतावणे थे। परिषद की कार्यकारिणी के सदस्य थे, प्रा. रा. ग. जाधव, प्रा. ल. बा. रायमाने, सुखराम हिरवले, प्रा. सौ. अरुणा लोखंडे आदि का चयन किया गया था। यहां जो उल्लेखनीय है, वह है इन सबकी प्रेरणा से विद्यार्थियों के सहयोग से एक फंड जमा किया गया, और इस तरह 'अस्मितादर्श' त्रैमासिक पत्रिका की शुरूआत हुई। इस पत्रिका के पहले अंक में महाराष्ट्र की सांस्कृतिक संघर्ष और साहित्यिक समस्या, इन विषयों पर चर्चा दलित साहित्य की सृजनात्मक क्षमता उभर आयी।

हिन्दी में विमलकीर्ति ने अपने साथियों क साथ मिलकर 20–21 अक्टूबर 1973 को नागपुर में एक अखिल भारतीय हिन्दी दलित–लेखक–साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया था जिसका उद्घाटन नागपुर के धनवटे रंगमंदिर में 20 अक्टूबर को हिन्दी के चर्चित कहानीकार और 'संचेतना' के संपादक डॉ. महीप सिंह ने किया था और अध्यक्षता ओम प्रकाश वाल्मीकि ने की थी। इस सम्मेलन में दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और महाराष्ट्र आदि के अनेक चर्चित और उभरते हिन्दी रचनाकारों ने भाग लिया था। दिल्ली से मोहन दास नैमिशराय, एन. आर. सागर, बिहार से दयानंद बटोही आदि इस सम्मेलन मे शामिल थे। यह दो दिवसीय सम्मेलन कई अर्थों मे महत्त्वपूर्ण था। हिन्दी दलित लेखक इतनी बड़ी संख्या में एक साथ जुड़े थे। दूसरे इसी सम्मेलन में प्रेमचंद की 'कफन' कहानी पर अध्यक्षीय उद्बोधन में ओम प्रकाश वाल्मीकि ने अनेक सवाल उठाए थे जिनकी चर्चा ने हिन्दी में एक नई सुगबुगाहट को जन्म दिया था, जिस पर लंबे समय तक हिन्दी में बहस हुई थी जो ''जनमत'' पत्रिका ने चलाई थी। जिसका यह परिणाम निकाला कि हिन्दी साहित्य की पूर्व रचनाओं की पुनर्व्याख्या का सवाल दलित रचनाकारों ने जोर शोर से उठाना शुरू कर दिया था।

'दलित साहित्य का उद्‌भव मराठी साहित्य में एक साहित्यिक, सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ है जिसके माध्यम से दलित शोषित समाज का विद्रोह मुखरित हुआ है जिसे अछूत कह कर सदियों तक मनुष्य जीवन की सभी आवश्यकताओं और सुविधाओं से वंचित रखा गया और जिसे केवल दुख, वेदना, गुलामी, अपमान, आंसुओं से भरी जिन्दगी बिताने के लिए विवश किया गया। हिन्दू धर्म वर्ण–व्यवस्था ने जातियों के लिए कटघरों से निर्मित इस समाज–व्यवस्था में उसे वह स्थान दिया, जो गांवों, नगरों के अहातों से दूर था और जहां केवल अधंकार ही अंधकार था। उस अंधकार जीवन से निकाल कर उनके जीवन में रोशनी लाने का कार्य डॉ. अम्बेडकर ने किया।'[46]

डॉ. अम्बेडकर ने गांधीजी और मार्क्स के विचारों के बरक्स जो दलितों के जीवन की अस्मिता से जुड़ा प्राथमिक प्रश्न था, उसे उठाते हुए भारतीय समाज व्यवस्था की दृष्टि से जाति–व्यवस्था के निर्मूलन की आवश्यकता पर बल दिया था। सदा कर्हाडे लिखती हैं– 'सही बात यह है कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पश्चात डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म की दृष्टि से मार्क्सवाद की आलोचना की और ऐसा निष्कर्ष प्रस्थापित किया कि कार्ल मार्क्स का दिखाया हुआ शोषण मुक्ति का क्रांतिकारी मार्ग हिंसा का मार्ग था। दूसरे शब्दों में कहें कि मार्क्सवाद में हिंसा को स्थान है जबकि बुद्ध के तत्त्व विचारों में हिंसा वर्ज्य है। अहिंसा का ही मार्ग मात्र समता, स्वतंत्रता एवं बंधुता के द्वारा मनुष्य को मानव धर्म की ओर ले जाने वाला है। डॉ. अम्बेडकर का अपने अनुयायियों को यही संदेश था कि इसी 'मुक्ति पथ' से चलना है।'[47]

जिस कार्य को भक्तिकालीन संत भी नहीं कर पाये उसे डॉ. अम्बेडकर ने, दलितों में चेतना पैदा कर के पूरा किया जिसके कारण दलितों में अपनी खोयी हुई अस्मिता को पहचानने और उसे पुनः जीवित करने की जद्दोजहद शुरू हुई। जिसने उनकी सामर्थ्य को विकसित किया और दलित साहित्य की एक ऐसी धारा का निर्माण हुआ जिसने सिर्फ दलितों में ही नहीं बल्कि समूचे भारतीय साहित्य

के आत्मविश्लेषण की भावना को बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त किया जो साहित्य की लम्बी आयु के लिए जरूरी माना जाता है।

दलित साहित्य में व्यक्त होने वाले अनुभवों को दलितों ने हजारों साल से वहन किया है। दुख–दर्द की विभीषिका, दारुण–व्यथा विश्व के किसी भी इतिहास में इतनी भयानक और त्रासद नहीं है। हजारों साल के इतिहास में दलित–जीवन किसी नरक से कम नहीं था जहां वे जानवरों से भी बदतर जीवन जीने के लिए बाध्य किये जाते रहे हैं। मानवीय हकों से उन्हें दूर रखा गया। दासत्व का यह जीवन दलितों की अवनति का कारण था। उनके विकास को जिस तरह अवरुद्ध किया गया, वह वर्ण–व्यवस्था और उससे उपजी जाति व्यवस्था की देन था।

इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि डॉ. अम्बेडकर के उस भाषण से होती है, जो उन्होंने 14 अक्टूबर 1956 को, धर्मान्तरण के समय दिया था–'विषमता और जुल्मों पर आधारित पुराणपंथी धर्म त्याग करने से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे मैंने नरक तुल्य जीवन से छुटकारा पा लिया है और मेरा नया जन्म हुआ है।[48]

1960 के बाद दलित साहित्य को विद्रोही साहित्य के रूप में देखने की भूमिका सर्वप्रथम बाबुराव बागुल ने ही अपनाई। सर्वसाधारण श्रमजीवी वर्ग से अछूत एवं दलित वर्ग के जीवन अनुभव अलग होने के कारण दलित चेतना, दलित संवेदना, दलित अनुभव आदि की अपने ही ढंग से परिभाषा करने के प्रयास बाबूराव बागुल करते रहे हैं। मार्क्सवाद से प्रभावित रहते हुए भी उनकी दलित साहित्य की परिभाषा का मूलाधार डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा ही रहा। दलित साहित्य के सैद्धांतिक विवेचन को उन्होंने 'क्रांतिविज्ञान' नाम देकर किया कि जिस दृष्टि से मार्क्सवाद क्रांतिकारी दर्शन है, उसी दृष्टि से अम्बेडकरवाद भी क्रांतिकारी दर्शन है।'[49]

दलित साहित्य का यह विस्फोट विद्रोह की भावना और नकार के साथ हुआ जिसमें डॉ. अम्बेडकर के विचार–दर्शन, जीवन–संघर्ष से

उपजी दलित चेतना एक चिंगारी के समान थी। डॉ. अम्बेडकर का यह मुक्ति–आंदोलन महाराष्ट्र में अपनी जड़ें जमा चुका था। इसीलिए दलित साहित्य आंदोलन का विकास भी सर्वप्रथम मराठी में हुआ जो महाराष्ट्र की सीमा से बाहर निकल कर देश के अन्य राज्यों तक पहुंचा। साथ ही अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर डॉ. अम्बेडकर के इस मुक्ति संघर्ष की अनुगूंज सुनायी पड़ने लगी। दलित साहित्य को अम्बेडकर के संघर्ष, आंदोलन से वैचारिक प्रगल्भता मिली। उसका यह विद्रोह दलित अस्मिता की स्थापना के लिए पूरे समाज और उस व्यवस्था से है जिसने दलित की पहचान को छिन्न–भिन्न किया था। इसीलिए कहा गया है– 'दलित साहित्य केवल विद्रोह प्रतिकार या प्रतिशोध नहीं है, या केवल नकार या निषेध नहीं है। बलिक जो कुछ मंगल और शुभ है उन सब की निर्मिति के लिए पूर्व परंपराओं से विद्रोह है।'[50]

एलिनार जेलियट लिखती हैं– 'अम्बेडकर का जोर धर्म में समानता और राजनीति में सत्ता पर ही नहीं था, बल्कि शिक्षा और सांस्कृतिक रचनात्मकता पर भी था।'[51]

'डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने जिन पत्र – पत्रिकाओं को चलाया उनमें पहले जो साहित्य प्रकाशित हुआ वह दलित साहित्य की नींव बन रहा था। इस कालखण्ड में अण्णाभाऊ साठे, शंकर खरात और बंधुमाधव ने विपुल लेखन किया। बाबूराव बागुल की विद्रोही कहानियों से दलित साहित्य के विद्रोही रूप की पहचान कायम हो गयी। फिर नामदेव ढसाळ की कविताओं ने दलित साहित्य के विद्रोही चरित्र को रचा।'

'दलित साहित्य के शुरु के दिनों में दलित कविता बड़े पैमाने पर लिखी गयी। उससे दलित साहित्य का विस्तार हो गया और दलित कविता दलितों की समग्र मानसिकता की ज्वलंत अभिव्यक्ति बन गई। इस कविता में वेदना, विद्रोह और निषेध की तीव्र अनुभूति तीखे शब्दों मे व्यक्त हो गई। निर्णायक युद्ध जैसी इस कविता का स्वभाव बेहद आवेशवूर्ण है। तप्त और उग्र भावनाओं का उद्रेक दलित कविता में

व्यक्त हुआ है। उसकी आवेग से पूर्ण अभिव्यक्ति ने प्रचलित अभिरुचि को दहला दिया। दलित कविता की शाप वाणी, गाली–गलौज, अश्लीलता की सीमा को छूने वाली, निषेध की तीखी, चुभने वाली भाषा, विद्रोह की अनियंत्रित अभिव्यक्ति, अब तक उपेक्षित समाज की जान पर बन आयी समस्याओं का यर्थाथ चित्रण आदि बातों से इस कविता ने पाठकों का ध्यान अपनी और बरबस खींच लिया। नामदेव ढसाळ जैसा सच्चा कार्यकर्ता दलित कविता का सेनापति था। नामदेव ढसाल के कारण दलित कविता और 'दलित पैंथर' चर्चा का विषय बन गए। 'गोलपिठा' कविता–संग्रह से नामदेव ढसाळ का बोलबाला हो गया। ढसाळ की दुनिया और चेतना ऐसी थी जो अब तक मराठी कविता में कभी व्यक्त नहीं हुई थी। ढसाळ ने दलित कविता को तेजस्वी और आवेशी बना दिया। समूची दलित कविता ढसाळ के प्रभाव से दीप्त है, तो उनकी ऊंची उड़ान के पास अवरुद्ध भी हो गयी है। ढसाळ एक महाकाय पहाड़ है। दलित कवियों ने उसे लांधने की कोशिश नहीं की, बल्कि उनकी शैली का अनुकरण करने में ही वे अपने आपको विद्रोही, समझने लगे। इससे दलित कविता विद्रोह के दायरे में ही घूमती रही। दलित कविता एक तोड़फोड़ की कार्यवाई के रूप में ही व्यक्त होती रही।'[52]

'डॉ. अम्बेडकर के धम्म परिवर्तन के बाद दलित साहित्य–आंदोलन में तेजी आयी। महाराष्ट्र में दलित साहित्य को तीव्रता प्रदान करने में 'अस्मितादर्श' पत्रिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। अनेक कवि, लेखक, आलोचक, नाटककार, कलाकार साहित्यिक और सामाजिक परिदृश्य पर उभरे जिन्होंने साहित्य को समाज सापेक्ष बनाने में अहम भूमिका निभायी। जिस समाज को दुत्कार कर जीवन की मानवीय धुरी से बाहर कर दिया गया था, जोकि हजारों साल से उपेक्षित जीवन जीने के लिए बाध्य था, वह समाज डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष से ऊर्जा पाकर उठ खड़ा हुआ और अपने होने का एहसास पूरी ताकत से कराया। आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो दलित का नाम

सुनते ही सांड की तरह बिगड़ जाते हैं और ऐसी टिप्पणियां करते हैं जिनका कोई औचित्य ही नहीं होता है। मराठी आलोचकों का ध्यान साहित्य की इस नई धारा की ओर 'मराठवाड़ा' के 'दीवाली के विशेषांक' (1969) जो औरंगाबाद से प्रकाशित होता था और पाठकों में बेहद लोकप्रिय था, के मुख्य सम्पादक की टिप्पणी के साथ एक परिचर्चा प्रकाशित हुई थी। जिसका शीर्षक था – 'एक चर्चा :दलित साहित्यः चेतना, दिशा और प्रेरणा', जिसके साथ बुद्ध का चित्र छपा यह दर्शाने के लिए कि अछूतों का धर्मांतरण अधिकतर महार जाति से, बौद्ध होने के लिए था। यह लेख एम. एन. वानखेडे ने लिखा था।'[53]

मराठी दलित साहित्य से प्रेरणा लेकर अन्य भारतीय भाषाओं गुजराती, हिन्दी, तेलुगू, कन्नड, तमिल, मलयालम, बंगला, पंजाबी आदि भाषाओं में आज अनेक रचनाकार ऊभरे हैं जिन्होंने दलित चेतना का साहित्य सृजित किया है। उनकी रचनाशीलता ने साहित्य को गरिमा प्रदान की है। साहित्य की भूमिका बदली है। साहित्य को सत्यम, शिवम, सुन्दरम के सामंती और ब्राह्मणवादी संकीर्ण दायरे से बाहर निकाला है। उसे वस्तुनिष्ठ बनाया है। सही अर्थों में साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब बनाया है। साहित्य को आनन्द, मोक्ष, अर्थ और काम से जोड़कर देखने वाले विद्वानों को अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करने की और यथार्थ से जुड़ने की स्थितियां पैदा की है। इसीलिए दलित साहित्य मानवीय सरोकारों का साहित्य बन सका है।

हजारों साल से साहित्य एक विशिष्ट जाति और वर्ण की बपौती बना हुआ था। यहां तक कि शिक्षण संस्थानों में भी ऐसे ही लोगों को वर्चस्व था जो मानव– मूल्यों को नकारते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य की उच्चता और निम्नता का मापदण्ड उनका जन्मना है। तमाम चीजें इसी तथ्य से संचालित होती रही हैं। यहां तक कि हिन्दी के महान से महान रचनाकार भी दलितों के लिए नकारात्मक शब्दों को इस्तेमाल करने में अपनी शान समझते थे। और पाठयक्रमों में भी ऐसी ही रचनाओं को तरजीह, दी जाती थी जो दलितों को निकृष्ट सिद्ध करे।

सबसे बड़ा उदाहरण है – प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' जो दलितों को उसी रूप में चित्रित करती है जिस रूप में हिन्दू समाज में उनके प्रति मानसिकता मौजूद है।

इसी संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर कहते हैं – 'जहां' तक संतों का प्रश्न है, तो मानना पड़ेगा कि विद्वानों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों, वे सोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला – किसी भी संत ने जाति–व्यवस्था पर कभी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जातपात की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे हैं। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिए और मरे, उसी जाति में जिसके वे थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मानव बराबर हैं। परन्तु यह शिक्षा दी कि ईश्वर की सृष्टि में सारे मानव समान है। दूसरा कारण यह था कि संत की शिक्षा प्रभावहीन रही है, क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया कि संत जाति का बंधन तोड़ सकते हैं, लेकिन आदमी नहीं तोड़ सकता। इसीलिए संत अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।'

डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष से ऊर्जा ग्रहण करके दलित रचनाकारों ने साहित्य के क्षेत्र में जब पदार्पण किया, उस समय हिन्दी में 'प्रयोगवाद' का बोलबाला था। दलित साहित्य की अनुगूंज सर्वप्रथम महाराष्ट्र में सुनाई दी थी। हिन्दी में 'तार सम्तक' चर्चा में था। अज्ञेय के संपादन में निकलने वाले 'तार सप्तक' ने हिन्दी कविता में प्रयोगवाद के स्थापित किया था। 'तार सप्तक' के कवियों का ध्यान कविता को समाज–सापेक्ष बनाने की जगह उसके शिल्पगत सौंदर्य पर ज्यादा जोर था। प्रभाकर माचवे कहते हैं–'नवोन्मेष से विस्फूर्तित और उत्सकित कल्पना की हिन्दी कविता में कमी है। उसके लिए हमें अपना अलंकार विधान आमूल बदलना होगा, उपभाव मांजने होंगे, रूप की कलाई खोलनी होगी। उत्प्रेक्षा से सचमुच भाव के उत्स से प्रेरित हैं या नहीं यह देखना होगा।'[54]

प्रयोगवाद पर टिप्पणी करने हुए मुक्तिबोध कहते हैं – 'प्रश्न यह

है कि क्या प्रयोगवाद का आज तक का विकास ऐसा है कि हमारी जनता के मुख्य लक्ष्यों को अग्रसर कर सकता है? अथवा क्या उससे आशा हो सकती है? मेरा यह मत है कि अभी तक प्रयोगवादी कवियों में यह विशाल चेतना नहीं आ पायी है जिसे हम महत्त्व देते हैं।'[55]

उस कालखण्ड में डॉ. अम्बेडकर का दलित – आंदोलन अपनी पराकाष्ठा पर था। साहित्य में एक नयी चेतना का संचार हो चुका था जिसकी जड़े सामाजिक जीवन से जुड़ी थी। समाज में आ रहे परिवर्तनों का रूप साहित्य में दिखाई देने लगा था। मराठी दलित साहित्य ने अपने पहले चरण में मनुष्य की समता, बंधुता और स्वतंत्रता की पहचान का सवाल खड़ा कर दिया था। भारतीय समाज में शोषित, प्रताड़ित और अपमानित दलित ने यह एहसास कराने में सफलता पाई थी कि हजारों साल से पशु से भी बदतर जीवन जीने वाले दलित की वेदना एक व्यक्ति की नहीं समूचे समाज की वेदना है और इस वेदना की साहित्यिक अभिव्यक्ति का स्वर आक्रोशित ही होगा। प्रभाकर मांडे कहते हैं– 'दलित साहित्य की निर्मिति सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है और सामाजिक परिर्वतन की दिशा में उन्मुक्त संवेदनात्मक मन की अभिव्यक्ति भी है।'[56]

दलित विमर्श में जाति एक प्रमुख और प्राथमिक मुद्दा है जो भारतीय जीवन में रचे बसे जातीय दृष्टिकोण के उन तमाम सिद्धांतों, चाहे वे साहित्यिक अभिव्यक्ति से संबंधित हों या शिक्षा या राजनीति, से, सभी के वर्चस्व को ध्वस्त करने के लिए प्रतिबद्ध है। क्योंकि अतीत ही नहीं आज भी गैर दलित, दलित समस्याओं पर उस गंभीरता से नहीं सोचता, जितनी गंभीर ये समस्याएं हैं। भारतीय जीवन में घटित होने वाले जातीय उत्पीड़न उसे उद्वेलित नहीं करते हैं। यहां यह भी कहना जरूरी लगता है कि तथाकथित मुख्यधारा के विद्वान, आलोचक और समीक्षक दलित साहित्य की रचनाओं को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। दलित लेखकों द्वारा रेखांकित जातीय उत्पीड़न उन्हें विश्वसनीय नहीं लगता है। उन्हें यह सब अतिरेक लगता है। उनके

लिए जातीय संदर्भ अब प्रासंगिक नहीं रह गये हैं। उन्हें दलित रचनाएं शिल्पहीन एवं कलाहीन लगती है। इस मुद्दे पर वे जोरदार दलीलें देते हैं। जबकि होना यह चाहिए था कि वे दलित की आंतरिकता से स्वयं को जोड़कर देखते, और इस नए पाठ के 'आशय' से साक्षात्कार करते। प्रसिद्ध मराठी लोकगीतकार और विद्वान प्रभाकर माण्डे ने इस संदर्भ में ऐसे विद्वानों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा है – 'दलित साहित्य का विकास केवल एक ऐतिहासिक घटना नहीं है। इसीलिए इसे केवल साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जाना चाहिए। जब तक इस साहित्यिक श्रृंखला को सामाजिक दृष्टिकोण से समाज में घटित हो रहे बदलावों की पूरी पृष्ठभूमि के मद्देनजर नहीं देखा जाएगा, इसके महत्त्व को नहीं समझा जा सकता है।'[57]

यहां यह भी रेखांकित करना जरूरी लगता है कि गांधीजी ने दलित समस्याओं को समय की जरूरत समझते हुए उनके समाधान के लिए कुछ कार्यक्रम चलाये थे। गांधीजी अछूतोद्धार के समर्थक होने हुए भी, वर्ण–व्यवस्था को हिन्दू धर्म के लिए जरूरी मानते थे। इसी तरह मार्क्सवादी आंदोलन में भी वर्गभेद की समस्या ही मुख्य थी। भारतीय समाज में रची–बसी समस्या को वे गंभीरता से नहीं ले रहे थे।

डॉ. अम्बेडकर न गांधीवाद से सहमत थे, न मार्क्सवाद से। उनकी अपनी वास्तविक धारणा यह थी कि भारतीय समाज–व्यवस्था का मूलाधार वर्ग–भेद नहीं वर्ण–भेद है। वर्ण–व्यवस्था के कारण ही आर्थिक विषमता बढ़ती जा रहीं है। हिन्दू धर्म की परिभाषा के अनुसार दलितों को अभ्युदय के अवसर एवं हक से भी वंचित रखा गया था। इतना ही नहीं 'मनुस्मृति', जिसमें चार वर्णो की आचार संहिता निहित है, ने ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को षटकर्मों के अधिकार प्रदान करने हुए, शूद्र वर्ण को उन तीन वर्णों की मात्र सेवा करने के लिए मानो नियुक्त कर रखा था। परिणामस्वरूप सदियों से शूद्र वर्ण, जिसका एक बड़ा हिस्सा अछूत समाज है, पर सामाजिक दासता लादी गयी और

अछूत समाज न केवल आर्थिक शोषण का बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण का भी शिकार बन गया था।'[58]

दलित साहित्य ने अम्बेडकर विचार–दर्शन को आधार बनाकर दलित साहित्य आंदोलन को जन आंदोलन के रूप में समाज के बीच खड़ा किया है।

दलित कविता की अंतःचेतना

मुकंद राव पाटिल लिखते हैं– 'हिन्दुस्तान एक अजीब जगह है, जिसमें हर प्रकार के सामाजिक समूह और जो विभिन्न धर्म, विचारों, प्रचलनों तथा तरह–तरह की सूझबूझ से विभाजित है, लेकिन मोटे तौर पर यदि कहें तो इन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला भाग नीची कही जाने वाली जातियों के बहुमत का है, जो शताब्दियों से अपमानित होते हैं। दूसरा थोड़े से मुठ्ठी भर लोग जो सारा आनंद प्राप्त करते हैं। अपने आपको श्रेष्ठ कहते हैं और बहुमत की कीमत पर जीते है। एक का कल्याण, दूसरे की आपदा है और यही इसका पारम्परिक सम्बन्ध है।'[59]

इसी संदर्भ में गेल ओमवेट लिखती हैं 'एक क्रांति की लहर निम्नतर वर्णों में पहुंची है जिसने विचारों की शक्ति पैदा की है। बहुत बड़ी संख्या में इन बहुमत वाली नीची जातियों में यह सवाल उठ खड़ा हुआ कि कौन और क्यों इस अन्याय को कर रहा है? हमारे अधिकार क्या है? हम कैसे इस अन्याय को उखाड़ फेंक सकते हैं?।'[60]

इस बड़े जाति विरोधी आंदोलन के मुख्य नायक ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर और ई. वी. रामास्वामी पेरियार थे। सारे भारत में इनके अतिरिक्त केरल में नारायण स्वामी गुरू, उत्तर प्रदेश में अछूतानन्द, पंजाब में मंगूराम सक्रिय थे जिनका अपना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। हर एक स्तर पर सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से कई लोग शोषण के विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे।

समाज पर साहित्य की पकड़ अत्यंत सघन होती है। देश के

विधि–विधान का समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का वास्तविक मूल्यांकन, समाज का यथार्थ चित्रण करने वाले साहित्य के अध्ययन से हो सकता है। यथार्थवाद का मूल सिद्धांत है वस्तु को उसके यर्थाथ रूप में चित्रित करना। मानवीय अस्तित्व की वस्तुगत और आत्मपरक विशेषता होती है। इसीलिए मानवीय अस्तित्व एवं जीवन के यथार्थ के सारे पहलू रचना में प्रतिबिम्बित होने चाहिए। मनुष्य की बाह्य सृष्टि का परावर्तन लेखक की अंतःसृष्टि में होता है। रचना में जब किसी रचनाकार के अनुभव का परावर्तन होता है तो उसकी अपनी अंतःसृष्टि के साथ होता है और इस अंतःसृष्टि में रचनाकार के जो निजी और सामाजिक अनुभव होते हैं, उनका प्रतिबिम्बित होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

इस संदर्भ में डॉ. गोविंद सिंह के लेख के उद्धरण से मैं अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूं। वे कहते हैं– 'आधुनिक' साहित्य और उसमें भी नयी कविता में सबसे अधिक जिस चीज पर बल दिया गया है, वह है' 'अस्मिता की खोज', 'अस्मिता की पहचान', 'अस्मिता का संकट' और 'स्वातंत्र्य बोध' जैसे मुहावरे नई कविता के सूत्र रहे हैं...आधुनिक कविता और उसमें भी विशेष रूप से नई कविता और उत्तरोत्तर समकालीन काव्य परिदृश्य में समानांतर सत्ता अथवा स्वतंत्र सत्ता के रचनात्मक संघर्ष पर आग्रह दिखाई पड़ता है। लेकिन आश्चर्य यह है कि नई कविता और प्रगतिशील कहे जाने वाले कवियों के यहां भी यह 'स्वातंत्र्य बोध', 'स्त्री अस्मिता' को अपने में नहीं समा सका। ऐसा नहीं है कि नयी कविता में स्त्री पराधीनता, उत्पीड़न और यौन शोषण तथा अन्य स्त्री मुद्दों पर सामाजिक – सांस्कृतिक दृष्टि से विचार नहीं किया गया। लेकिन ये तमाम मुद्दे कम से कम नई कविता और समकालीन कवियों का रचना स्वभाव नहीं बन सके; किसी अपवाद को छोड़कर...शमशेर ने शायद स्त्री को केंद्र में रख कर सबसे ज्यादा कविताऐं लिखी होंगी... लेकिन उनकी कविताएं पढने के बाद एक भी स्त्री अथवा कवियित्री नहीं कह सकती कि वह हमारा कवि है।'[61]

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हिन्दी के महान कवियों की रचनाओं को सामने रखकर बात की जाए तो निष्कर्ष स्वयं सामने आ जायेंगे। आधुनिक हिन्दी साहित्य के शीर्षस्थ कवियों नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध की रचनाओं में हजारों साल से इस देश की विकास यात्रा को अवरुद्ध कर देने वाली वर्ण–व्यवस्था और उससे उपजी जाति व्यवस्था का उनकी रचनाओं में कहीं मुखर विरोध सुनायी पड़ता है? इनमें से नागार्जुन की 'हरिजन गाथा' या त्रिलोचन की 'नगई महरा' जैसी इक्का–दुक्का कविताओं को अपवाद मानकर छोड़ दें, तो कहीं भी उनका स्वर दलित पीड़ा के साथ स्वयं को नहीं जोड़ पाता है। लेकिन इनकी ये अपवाद कविताएं भी आनुषांगिक सुख की तरह हैं।

हिन्दी का साहित्य जगत समय की विपरीत दिशा में चलता है। मुगलकाल में जब देश पूरी तरह मुगलों के अधीन हो चुका था, कवियों को जन चेतना के रूप में साहित्य को अपने उत्तरदायित्व के साथ सामने आना चाहिए था तब उस दौर के कवि भक्ति रस में डूबे आत्मा और परमात्मा, शैव–वैष्णव, सगुण–निर्गुण के झगड़ों में उलझे हुए थे। हमारे पुष्टिमार्गी भक्त कवि मुगलों से इनाम–इकराम ले रहे थे। जब देश की जनता अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रही थी, तब हमारे महान कवि छायावाद में डूबे प्रेम कविताएं लिख रहे थे। यानी साहित्य आधुनिकता के साथ चल ही नहीं पाया। ऐसे मुख्यधारा के साहित्य के बरक्स जब दलित साहित्य को हाशियाग्रस्त साहित्य कहकर संबोधित किया जाता है तो एक दलित को गहरी पीड़ा का एहसास होता है। क्योंकि दलित साहित्य ने दलित ही नहीं बल्कि समूचे मनुष्य मात्र की पक्षधरता का सवाल उठाया है। वह मानवीय स्वतंत्रता, बंधुता, समानता की लड़ाई लड़ने के लिए प्रतिबद्ध है। इसीलिए उसकी आधुनिकता का सीधा अर्थ मनुष्यता के साथ जुड़ा है।

स्त्री और दलित की पीड़ा तो दूर की बात है, यशपाल और भीष्म

साहनी को छोड़कर, क्योंकि वे भुक्त भोगी थे, निराला, महादेवी को भारत विभाजन की विभीषिका, नरसंहार उद्वेलित नहीं कर सका। इलाहाबाद, बनारस के किस लेखक ने इतिहास की इस घटना को अपनी अभिव्यक्ति के केंन्द्र में रखा? यदि नहीं तो क्या यह सवाल गैर जरूरी है कि हिन्दी साहित्य में इस घटना पर चुप्पी क्यों छायी रही?

मराठी साहित्यकार म. भि. चिटणीस कहते हैं– 'अस्पृश्य समाज यह कोई भारतीय गैर अस्पृश्य समाज से अनुवांशिक दृष्टि से अलग नहीं है। उसकी भाषा, संस्कृति, यह भी समान है। अन्तर इतना ही है कि, इस संस्कृति ने एक लम्बे समय से उन्हें वंचित रखा। अब इस संस्कृति के सभी स्थान सुविधाजनक हो गये हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि संस्कृति के प्रति यह दुराव न मानकर आने वाली पीढ़ी को आगे जाना होगा।'[62] चिंटणीसजी ने जिस दुराव की ओर संकेत किया है। वह दलित साहित्य में दिखाई पड़ता है।

मराठी के विख्यात साहित्यकार ('उपरा' के लेखक) लक्ष्मण माने ने कहा है, 'हमारे समाज में एक जाति के दुःख का पता, दूसरी जाति को नहीं होता। संवेदना का आदान–प्रदान यहां नहीं हुआ है। साढ़े तीन प्रतिशत लोगों द्वारा लिखे गये साहित्य में समाज के दबे–कुचले लोगों का चित्रण नहीं हुआ है।'[63]

दलित कविता के आलोचक पारंपरिक स्थापित कविता के मापदंडों पर परखने की कोशिश करते हैं। क्योंकि उनका साहित्य जांचने का प्रशिक्षण ही इसी तरह का हुआ है, जिसमें सहानुभूति और करुणा संस्कारों के साथ रची–वसी होनी चहिए। जबकि दलित कविता में आक्रोश का स्वर ज्यादा प्रभावी है। आक्रोशित स्वर में भाषा का तेवर भी अलग होता है। जिस सधे हुए स्वर को सुनने की आदत स्थापित पारंपरिक आलोचक को होती है, वह दलित कविता में भी उसी स्वर को ढूंढने की कोशिश करता है। ऐसे आलोचक दलित कविता को पढ़कर निराश होते हैं जब उन्हें वह सत्यं, शिवं, सुदंर, वाला सुरीला स्वर नहीं मिलता है।

एक जगह गालिब ने भी कहा है–
फरियाद की कोई लै नहीं है,
नालः पाबन्द–ए–नै नहीं है।

फरियाद किसी लय की मोहताज नहीं होती और आर्तनाद के लिए बांसुरी की जरूरत नहीं होती।

मैनेजर पांडेय के शब्दों में कहें– 'जो लोग फरियाद भी विशेष लय में सुनना चाहते हैं और आर्तनाद के लिए भी बांसुरी जरूरी मानते हैं, वे कला पारखी तो क्या इंसान भी नहीं हैं। प्रायः आक्रोश से उपजी कविता धूमिल के शब्दों में 'एक इन्कार भरी चीख की तरह होती है।'[64]

'दलित कविता जीवन के यथार्थ की कविता है। दलित कवि के सामने भावावेग में बहने के अनेक अवसर थे क्योंकि उसने जीवन की बड़ी घिनौनी तस्वीर देखी है, पर उसकी कविता जीवन के वस्तुगत यथार्थ को मूल आधार मानती है। अतः दलित जीवन के अनेक गर्हित तथ्यों की वह यथार्थ व्यंजना करती है, वह क्रांति का संदेश देने वाली और अधंकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाली एक प्रखर विचारधारा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।'[65]

दलित कविता की स्वानुभूति, यर्थाथ, स्वतंत्रता, समानता, बंधुता, ये मूल विशिष्टताएं हैं जो पारंपरिक साहित्य में दिखाई नहीं पड़ती हैं। दलित कविता ने दलित–संघर्ष, दलित–चेतना, पीड़ा, शोषण, उत्पीड़न, अस्पृश्यता से उपजी अमानवीय विडम्बनाओं के दंशों की अभिव्यक्ति दलित अस्मिता की पक्षधरता को व्यापकता के साथ चित्रित किया है।

दलित कविता सामाजिक बदलाव के लिए संघर्ष की कविता है जिसके मूल में दलित चेतना उस गहरी नदी के समान है, जिसके बहाव की ऊपरी सतह शांत और सपाट दिखाई देती है लेकिन उसके भीतर एक तेज करंट होता है, जो शोषण के तमाम हथकंडों को बहा ले जाने की क्षमता रखता है। जिसमें जीवन के प्रति गहरा विश्वास और जिजीविषा विद्यमान है। जो बहुआयामी है।

मोहनदास नैमिशराय की कविता ''सफदर एक बयान'' का एक अंश देखिए–

याद रखो
उनके पास शब्द नहीं है
और सम्वेदना भी

कोरी बंदूक और गोली से
कोई भी युद्ध नहीं जीता जा सकता

उनका निर्दयी इतिहास
सूखे दरख्त के समान है
तुम्हारे सामने खड़ा है
जिसे तुम
अपने शब्दों की आंच से
जला कर खाक कर सकते हो

मेरे दोस्तों
एक हो जाओ
अभी भी समय है
तुम्हें
आने वाली पीढियों के लिए
क्रांति का दस्तावेज बनना है।[66]

दलित मुक्ति के प्रति एकजुट होकर संघर्ष करने की चेतावनी और आह्वान करती यह कविता आक्रोश को ऊर्जा में बदलने का संकेत देती है। आक्रोश जब विचार में रूपांतरित होता है, परिवर्तन की सम्भावनाएं और तेज होती हैं। दलित कविता की यही अंतःधारा है जो उसे विशिष्ट बनाती है और पारंपरिक स्थापित कविता से उसे अलग

करती है। कविता की यह अंतः चेतना हिन्दी और मराठी दलित कविता में अपने पूरे ओज के साथ मौजूद है।

दलित कविता की अंतःधारा का विश्लेषण करते हुए एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय तथ्य की ओर ध्यान जाता है जिसे पाठकों ने ही नहीं आलोचकों ने भी स्वीकार किया है। साम्राज्यवाद को बेनकाब करने की हो, या फिर कल्पनाओं की कृत्रिम ऊंची उड़ान को उघाड़ने की, या अपनी पक्षधरता, प्रतिबद्धता को स्पष्ट करने की, दलित कवि कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाते हैं। दलित कवियों के अलग–अलग स्वरों ने मराठी कविता की बहुत स्पष्ट, प्रासंगिक, सम्प्रेषणीय, वैचारिक तस्वीर सामने रखी है जो अन्य भारतीय भाषाओं के काव्य परिदृश्य में उसकी विशिष्ट पहचान को स्थापित करती है। मराठी और हिन्दी दलित कविता में यह भी साफ तौर से देखा जा सकता है कि यहां ग्रामीण संवेदना, शहरी और कस्बाई सम्वेदना, मानवीय अनुभवों की मुखर अभिव्यक्ति हुई है जो कि मुख्यधारा की कविता में नहीं है। इसी लिए दलित कविता में मानवीय सरोकार ज्यादा गहरे हैं।

दलित कविता मानवीय सरोकारों को प्राथमिकता देती है। शोषण, दमन के खिलाफ उठ खड़े होने का आह्वान करती है। मराठी कवि त्र्यम्बक सपकाळे की कविता 'ज्वालामुखी' में यह भाव अभर कर आया है–

हा ज्वालामुखी जागृत होणार
धगधत्या उसळणारयां
लाव्हायाचा महापूर वाहणार जे मार्गात येईल ते स्वाह करणार।[67]

(यह ज्वालामुखी जागृत होगा,
उष्ण उफनते लावे की बाढ़ आयेगी
जो भी आये मार्ग में
उसे भस्म करेगी।)

उपरोक्त कविता में दलितों का आक्रोश जब ज्वालामुखी बनकर विस्फोटित होगा तब सब कुछ जल कर भस्म हो जाएगा। यह दलित कविता का आत्मविश्वास ही उसे विद्रोह की भूमिका में खड़ा करा रहा है। यही दलित कविता की अंतः वेदना है जो उसकी आंतरिक ऊर्जा बन कर उसे विशिष्ट बना रही है।

मराठी के प्रख्यात समीक्षक वा. ल. कुलकर्णी का मानना है– 'इन बीस वर्षों में जो अलग प्रकार का साहित्य निर्माण हुआ है, उसकी प्रकृति प्रेरणा और प्रवृत्ति अलग है। दलित समाज की जागृति का द्योतक है। अब वह बोल सकता है, उसकी इस वेदना को आज तक कोई भी नहीं समझ पाया है। इसलिए अनुभूति और प्रेरणाओं से निर्मित यह दलित साहित्य मराठी साहित्य को निश्चित ही समृद्ध बना रहा है।[68]

लोकनाथ यशवंत मराठी दलित कविता के एक ऐसे कवि हैं, जिसने दलित कविता को दलित सरोकारों के साथ–साथ मानवीय सरोकारों को स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई है। वे हर शोषित, पीड़ित की वेदना को अपनी वेदना से जोड़कर दलित कविता को एक व्यापक स्वरूप प्रदान करते हैं ताकि सामाजिक बदलाव के इस संघर्ष में कहीं मानवीय सरोकार और संवेदनाएं मुठ्ठी से फिसल न जाएं। उनकी मान्यता है कि दलित कविता की अंतःचेतना का विकास तभी सम्पूर्ण होगा जब वह मानवीय संवेदनाओं के अर्थ बोध को सम्पूर्णता के साथ वहन करेगी। उनकी कविताओं में यह विचार बेहद सूक्ष्मता के साथ गुंथा हुआ दिखाई देता है।

माझ्या एका हाकेत लाखों माणसांचा आक्रोश आहे
साध्या चालण्याही करोडों पावलांचा समूह आहे
हात पुढे करून बोट दाखविताच
शक्तिंचे युद्ध जुंपते
माझ्या संवदनांत
तमाम छोट्या मुलांची माया मिसळते

मी चुप आहे। मला अराम करू द्या।
अर्ध्या दाढीतला माझा चेहरा सौम्य असला तरी
मी मायावी नाहीं।
आता कुठे कड फेरण्याचा विचार सुरू आहे।[69]

(मेरी आवाज में लाखों लोगों की चीखें हैं
मेरे चलने में करोड़ों पांव की रफ्तार है।

ताकत आजमाईश के लिए जंग शुरू होती है
झुकी नजरें उठाकर तुम एक उंगली बता दो।

मुझ में जिन्दा है अब भी अपनी सम्वेदनायें
मिल जाती हैं मुझ में पाक बच्चों की कशिश।

खामोश हूं फिर भी जागा हुआ हूं मैं
अब करवट लेने की सोच रहा हूं।)

हजारों साल के इतिहास में दलितों की मूक वेदना उन्हें भीतर ही भीतर छिन्न–छिन्न कर रही थी। लेकिन प्रस्थापित पारंपरिक साहित्य तोते की तरह एक ही वाक्य लगातार दोहरा रहा था– 'साहित्य समाज का दर्पण होता है।' लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न थी। जिस साहित्य के संदर्भ में इस वाक्य को दोहराया जा रहा था, वह तो कभी समाज का दर्पण बना ही नहीं। वह तो एकांगी साहित्य था। उसमें समाज का एक बड़ा हिस्सा 'दलित' कहीं नहीं था। न उसकी सम्वेदना, न उसके सरोकार। उसके दुःख–सुख का कहीं जिक्र तक नहीं था। दलित साहित्य और दलित कविता ने इस तथ्य को अपनी आतंरिक चेतना का हिस्सा बनाया। यहां लोकनाथ यशवंत की कविता इस चेतना को अभिव्यक्त करने में समक्ष दिखाई देती है।

हिन्दी दलित चिंतक कंवल भारती दलित कविता की अंतःचेतना को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं– 'दलित कविता उस तरह कविता नहीं है, जैसे आमतौर पर कोई प्रेम या विरह में पागल होकर गुनगुनाने लगता है। यह वह भी नहीं है, जो पेड़–पौधों, फूलों, नदियों, झरनों और पर्वतमालाओं की चित्रकारी में लिखी जाती है। यह किसी का शोक गीत और प्रशस्तिगान भी नहीं हैं। दरअसल यह वह कविता है, जिसे शोषित, पीड़ित, दलित अपने दर्द को अभिव्यक्त करने के लिए लिखता है। यह वह कविता है जिसमें दलित कवि अपने जीवन के संघर्षों को शब्दों में उतारता है। यह दमन, अत्याचार, अपमान और शोषण के खिलाफ युद्धगान है। यह स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व–भाव की स्थापना और लोकतंत्र की प्रतिष्ठा करती है। इसीलिए इसमें समतामूलक और समाजवादी समाज की परिकल्पना है।[70]

यहां यह एक निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि – 'दलित कविता सिर्फ इसलिए दलित कविता नहीं है कि उसमें दलित जीवन के चित्रण की अभिव्यक्ति है। बल्कि उसमें दलित चेतना का जो आंतरिक प्रवाह है, जो उसे ऊर्जा देता है और जो स्थापित पारम्परिक साहित्यक मापदंड़ों के विरुद्ध खड़ी होकर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है, उसी चेतना से कविता दलित कविता बनती है।

दलित कविता की अंतःधारा में जो यातना, बेचैनी, विद्रोह, नकार, संघर्ष, आक्रोश दिखाई देता है, वह हजारों साल के इतिहास में घुटते, सिसकते दलितों की व्यथा–कथा का एक रूप है जिसे अभिव्यक्त करने में दलितों को हजारों साल लगे। वर्ण–व्यवस्था जनित जो दंश एक दलित ने अपने त्वचा पर सहे हैं, उन्हें दलित कविताओं में गहन पीड़ा के साथ अभिव्यक्त किया गया है। दलित कविता अपने इर्द–गिर्द फैली विषमताओं, सामाजिक भेदभावों, गधयाते परिवेश की कविता है। जिस सामाजिक उत्पीड़न से दलित का हर रोज सामना होता है, वह यातनाओं, संघर्षों से गुजरता है। उसी तल्खी को दलित कविता अभिव्यक्त करती है।

बाबुराव बागुल लिखते हैं :

तू जिथे दैन्यदास्य चिरंजीव करून ठेवलेस
तिथेच माझा जन्म झाला आहे
तुला वाटले असेल मीही

माझ्या पूर्वजांप्रमाणे सडून किडून मरेन।
अथवा सोबत्यांप्रमाणे वहात जाईन।

पण झाले वेगळेच
ज्याने दुःख पाहिलेले असते
त्याला मार्गदाता म्हणतात।

मी दुःख पाहिले आहे,
म्हणून मी हात उंचावून सांगतो
तुझे सर्व चिरंजीव मरणार आहेत।
प्रलय आले आहेत!

म्ला प्रलय केले आहे![71]

(तूने जहां दैन्य, दासता चिरंजीव कर के रख दिया
वहीं मेरा जन्म हुआ है

तुम्हें लगता होगा कि मैं भी
अपने पूर्वजों की तरह ही सड़–गल कर मर जाऊंगा।
या संगी–साथियों के साथ बह जाऊंगा।
पर हुआ दूसरा ही।

जिसने दुःख देखे होते हैं
उसे मार्गदाता कहते हैं
मैंने दुःख देखे हैं,

इसलिए मैं हाथ ऊंचा कर के तुझ से कहता हूं
तेरे सभी चिरंजीव मरने वाले हैं
प्रलय आ चुकी हैं।
मैं ने प्रलय की है!)

दलित कविता सिर्फ इसलिए दलित कविता नहीं है कि उसमें दलित जीवन का चित्रण है। बल्कि इसलिए है कि उसमें दलित चेतना का जो आंतरिक प्रवाह है, जो उसे ऊर्जा देता है और परंपराओं, मान्यताओं, साहित्यिक मापदण्ड़ों के विरुद्ध खड़ी होकर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है, उसी चेतना के कारण वह दलित कविता बनती है।

दलित संवेदना का एक प्रमुख रूप है नकार। यह नकार समस्त यथास्थिति के प्रति है। जिस वर्ण जाति पर आधारित हिन्दू समाज में निम्न वर्णों को भीषण यंत्रणा मिलती है, उस वर्ण जाति व्यवस्था का नकार दलित संवेदना का एक भाग है। यह नकार और भी अधिक व्यापक है। इस समाज के सवर्णों को जिन धार्मिक मान्यताओं ने सुविधाएं दी और बहुसंख्यक जातियों को गुलाम बना कर उनसे आजीवन श्रम और सेवा लेने की सुविधा प्रदान की, उन सबके प्रति प्रबल नकार। यह नकार उस कर्म विपाक सिद्धांत का है, जिसने मनुष्य कृतित्व के समस्त सूत्र अपने हाथ में लेकर अपनी लीला में सबको मनमाना जोत लिया। यह नकार उस आत्म लोक का भी हे, जिसने इहलौकिक मानवीय को महज एक गीला वस्त्र बना दिया, जो कभी भी छोड़ा जा सकता है। यह नकार उन सब भारतीय संस्कारों के प्रति है, जिन्होंने मनुष्य की इस भौतिक जीवन यात्रा को एक

काल्पनिक स्वर्ग–नरक और पाप–पुण्य के इंद्रजाल में फंसा कर शोषण और अन्याय को धार्मिक रूप देकर विद्रोह भाव को मूलतः खो दिया। यशवंत मनोहर अपनी एक लम्बी कविता में सीधे प्रहार करते हैं।

मैं पोतता हूँ उबलता कोलतार
तुम्हारे तथाकथित देवता के मुंह पर
देवताओं को खड़ा करने वालों के षड्यंत्रकारी शब्दों पर।[72]

ऐसा ही एक उदाहरण हिन्दी दलित कविता का देखें–

स्वीकार्य नहीं जाना मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में वहां भी
तुम पहचानोगे मुझे
मेरी जात से ही।[73]

कविताओं में प्राचीन परंपराओं के विरुद्ध आक्रोश है। पर साथ ही आधुनिकता का समावेश भी है। दलित कवि का कहना है कि उनका कोई देश नहीं है और उस नये सूरज के लिए कोई जगह नहीं है–

घुप अंधेरी सुरंग में से
वे राख बटोर रहे हैं
गहरे काले पानी में वे बह रहे हैं
और शर्मिंदगी को फिर से जोड़ रहे हैं
अपने पूर्वजों की
वे स्तुति गा रहे हैं
उनके विचारों की
जो फटे पुराने चीथड़े हैं

यहां कोई प्रवेश नहीं है
नये सूरज को
यह वह साम्राज्य है
जो पूर्वजों की पूजा करता है
काले पड़े संस्मरणों की
और अधिक अंधियारों की।[74]

दलित कविता केवल नकार की कविता नहीं है। नकार एक आतंरिक और भावपूर्ण उद्‌वेग की प्रतिक्रिया है। जबकि वैचारिक और दार्शनिक विरोध दलित कविता की अंतःधारा का केन्द्रीय भाव है। इसीलिए दलित कविता केवल दलितों द्वारा लिखी न रह कर एक नए समाज की संरचना के स्वप्न को सामने रख कर लिखी गई कविता है। इसीलिए दलित कविता एक क्रान्तिधर्मी कविता है।

The aspirations of contemporary Dalits are completely different from those of Dalits in traditional India. This change is due to the deference in vision perceived by the untouchable of the past and today. Vision set the agenda for both thought and action; philosophical, political or social theories are built on them. Believers in one vision will view themselves in a very different moral role from the followers of another. The ramifications of such conflicting visions extend into economic, judicial, military, philosophical and political spheres. This is made clear in the case of untouchables in the history of India.[75]

मराठी दलित कवि अरूण काले ने अपने परिवेश को चिन्हित करते हुए अपने भीतर से बाहर आती कविता को पहचानने की कोशिश की है। दलित कविता की यही पहचान विशिष्ट बनकर उभरती है जिसे जाने और समझे बगैर दलित कविता की अन्तःचेतना को पकड़ पाना एक दुष्कर कार्य है। कवि अरूण काले कहते हैं– 'मैं जिस समाज बस्ती

में बड़ा हुआ, वह अभिजात्य जनों की दृष्टि में हीन, बदनाम बस्ती या फिर उसे संवेदनशील क्षेत्र कहकर पहचाना जाता रहा है। उपेक्षा यहां का स्थायी भाव है। यहां रोज की मारामारी, लड़ाई–झगड़े, दैनिक कार्यों में आते हैं। पास के किसी क्षेत्र में होने वाले दंगे–फसाद इस संवेदनशील बस्ती के साथ जुड़ जाते हैं। गांव, राज्य, देश कहीं भी कुछ भी घटता है या घटित होने की संभावना है, हमारी इस संवेदनशील बस्ती की नाके बंदी होगी ही। सुरक्षा के जरूरी उपाय शुरू होंगे ही। बचपन से अनेक बार हमने दंगाग्रस्त होने की पीड़ा भोगी है। तब मैंने अपनी पूरी शक्ति में इन बातों का अन्वयार्थ निकालने की कोशिश की। इस चिंतन प्रक्रिया के दौरान घटित दंगों की, द्वेष की पार्श्वभूमि से मेरी कविताएं बाहर आयी है।'[76]

ऐसे घुटन भरे माहौल से जो कविता उत्पन्न होगी, वह सामान्य कविता नहीं होगी। मनुष्य की गहन वेदना से रची–बसी कविता की यह अंतःवेदना उसे दलित चेतना के एक ऐसे आयाम की ओर ले जाती है, जो भारतीय कविता के लिए एक अलग अनुभव जगत की निर्मिति करता है। जो पारंपरिक हिन्दी और मराठी ही नहीं भारतीय कविता को एक नये आस्वाद से परिचित कराता है।

यहां बुद्ध का यह सूत्र वाक्य दलित की अंतःचेतना और उसके स्वरूप को समझने में प्रासंगिक लगता है– 'य मया सामं दिट्ठं तमहं बदामि' (जैसा मैने देखा, अनुभव किया वही बोल रहा हूं)। दलित कवि की भाषा जीवन के सरोकारों और उसके यथार्थ से जुड़ी हुई है। दलित कविता में डॉ. अम्बेडकर की वाणी का ओज है, वेदना है, संघर्ष है और जीवन दृष्टि है तभी वह दलित कविता है। यह विचार दलित कवियों की कविताओं में देखा जा सकता है।

इसे और ज्यादा विस्तार देते हुए कहा जा सकता है कि दलित कवि जब यह कहता है कि 'मैने जो जीवन जिया, भोगा, और देखा वही मैंने साहित्य में व्यक्त किया' का सीधा अर्थ होता है सामाजिक उत्पीडऩ, भेदभाव से उपजी वेदना की अभिव्यक्ति यानी समूचे दलित

समाज की मुक्ति की आकांक्षा जो 'मैं' से 'हम' में परिवर्तित होती है। इसी वेदना ने दलित कवियों, लेखकों को प्रेरित किया यही दलित चेतना जो एक दलित कवि को दूसरों से अलग कर देती है।

पुन्नी सिंह का यह कथन हिन्दी साहित्य जगत के दोहरेपन और संकीर्ण सोच को खोलने की कोशिश करता है'– 'भोपाल से प्रकाशित 'साक्षात्कार' पत्रिका में जब नामदेव धसाल की कविता मराठी से अनूदित होकर प्रकाशित हुई और उसको लेकर जिस तरह से बवाल मचा, उससे साफ झलकता था कि हिन्दी जगत दलित साहित्य के प्रति ठीक वैसा ही रूढ़िवादी रवैया अपनाए रखना चाहता है, जैसा कि उसने हजारों साल से दलित वर्ग के साथ अपनाया हुआ है।'[77]

सन्दर्भ

1. वामन शिवराम आप्टे– *संस्कृत–हिन्दी शब्द कोश,* पृष्ठ 451
2. डॉ. हरदेव बाहरी– *उच्चतर हिन्दी कोश,* पृष्ठ 14
3. राम चन्द्र वर्मा– *संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, नवम संस्करण,* पृष्ठ 468
4. रामचन्द्र वर्मा–मानक *हिन्दी कोश,* तीसरा खण्ड, पृष्ठ 35
5. वही , पृष्ठ 384
6. फादर कामिल बुल्के– *अंग्रेजी–हिन्दी कोश,* एस. चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली , संस्करण– 2001 प्रथम संस्करण– 1968, पृष्ठ 194
7. R. S. McGregor- *The Oxford Hindi_ English Dictionary*, Page-6
8. करुणापति त्रिपाठी–*लघु हिन्दी शब्दसागर,* नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण–सम्वत–2021
9. डॉ. गिरीश कुमार एन. रोहित– *दलित चेतना केन्द्रित हिन्दी–गुजराती उपन्यास,* सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता विभाग, गुजरात सरकार, संस्करण–2004, पृष्ठ 5
10. Eleanor Zelliot- *From Untouchable to Dalit*, Manohar Publishers, New Delhi, 1992, reprint- 2005, Page 297
11. वही पृष्ठ 268
12. डॉ. गंगाधर पानतावणे, *कथादेश,* जुलाई, 2008, पृष्ठ 64
13. अर्जुन डांगले, ''दलित साहित्य, अतीत वर्तमान और भविष्य, जहरीली रोटियां'' *आधुनिक मराठी साहित्य,* बम्बई, ओरियंट लांगमैन, 1992, पृष्ठ 234–235,

14. बाबुराव बागुल, *दलित साहित्य आज चे क्रांति विज्ञान*, दिशा प्रकाशन, विहित गांव, नाशिक रोड, 1981, पृष्ठ 245–246
15. एस. एल. धनी–*धर्म और राजनीति में दलित चुनौती*, शिव शक्ति प्रकाशन, फरीदाबाद, 1992, पृष्ठ 12–13
16. *एस. एम. माईकल, आधुनिक भारत में दलित, दृष्टि एवं मूल्य*, सेज, रावत पब्लिकेशन्स, 2010, पृष्ठ 4
17. चन्द्रकांत बांदिवादेकर, *मराठी साहित्यः परिदृश्य*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997 पृष्ठ 186
18. वही
19. चन्द्र कुमार वरठे–''दलित साहित्य एक आन्दोलन'', *जनता साप्ताहिक*, पृष्ठ 68
20. डॉ. महीप सिंह, ''चर्चा के केन्द्र में दलित साहित्य'', *मधुमती–अप्रैल*–मई अंक, 2010 पृष्ठ 11, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, राजस्थान
21. *प्रबुद्ध भारत*, 4 मार्च, 1958
22. अर्जुन डांगले, *दलित साहित्यः एक अभ्यास*, 1978, महाराष्ट्र राज्य साहित्य–संस्कृति मण्डल मंत्रालय, मुम्बई
23. *प्रबुद्ध भारत*, 4 मार्च 1958
24. डॉ. गंगाधर पांतावणे, *कथा देश*, जुलाई, 2008, पृष्ठ 63
25. अर्जुन डांगले, *दलित साहित्य : एक अभ्यास*, पृष्ठ 41
26. ग्वेंडोलीन बुक्स, इंटरोड्कशन ब्लैक व्रर्द्स दैटा : *डोंट क्राई स्क्रीम*, डान ली
27. डॉ. गंगाधर पांतावणे, 'दलित' शब्द हीनता बोधक नहीं है, साक्षात्कार *कथादेश*, जुलाई, 2008, पृष्ठ 62
28. डॉ. महीप सिंह, ''चर्चा के केन्द्र में दलित साहित्य'', पृष्ठ 12
29. दया पवार, दलितों के आन्दोलन जब तीव्र होने लगते हैं तब जन्म लेता है दलित साहित्य–*अस्मितादर्श* लेखक–पाठक साहित्य सम्मेलन, सोला पुर, 1983
30. मैनेजर पाण्डेय, *दलित चेतना साहित्य*, नवलेखन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 4
31. मैनेजर पाण्डेय, ''हिन्दी में दलित साहित्य''– *वसुधा*, अंक–58, जुलाई–सितम्बर, 2003, पृष्ठ 324
32. मैनेजर पाण्डेय, दलित साहित्य (विशेष फीचर), *हम दलित*, सितंबर, 1996, पृष्ठ 6
33. वही

34. वीर भारत तलवार, ''दलित साहित्य की अवधारणा'' *वर्तमान साहित्य,* मई–जून, 1998, पृष्ठ 14
35. रा. भि. जोशी, ''दलित साहित्य'', *दलित साहित्य : एक अभ्यास,* सम्पादक– अर्जुन डांगले, महाराष्ट्र राज्य साहित्य–संस्कृति मण्डल, मंत्रालय, मुम्बई, 1978, पृष्ठ 88
36. वही
37. डॉ. गंगाधर पांतावणे, *कथादेश,* जुलाई 2008, पृष्ठ 63
38. बाबूराम बागुल, दलित साहित्य : उद्देश्य और वैचारिकता, *वसुधा,* अंक– 58, जुलाई–सितम्बर, 2003, पृष्ठ 39
39. शरण कुमार लिंबाले, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 पृष्ठ 39
40. विमलकीर्ति, *दलित साहित्य और अम्बेडकरवाद,* पुष्पांजलि प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृष्ठ 9
41. बाबूराम बागुल, *दलित लिटरेचर इज ह्युमन लिटरेचर, प्वायजंड ब्रेड,* ओरियंट लांगमैन, 1972, नई दिल्ली, पृष्ठ 24
42. नामवर सिंह, *आलोचना– 40,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
43. गेल ओमवेट, *दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति,* सेज, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 7
44. डॉ. चमन लाल, *दलित साहित्य के अग्रदूत : गुरू रविदास–* आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1998, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 7–8
45. रैदास, *वसुधा,* अंक–58 जुलाई, 2003, पृष्ठ 56
46. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना,* हिन्दी बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 1996, पृष्ठ 28–29
47. सदा कन्हाडे, ''मार्क्सवाद और दलित साहित्य'', *वसुधा,* अंक– 58, जुलाई, 2003, पृष्ठ 56
48. डॉ. अम्बेडकर, नागपुर में हुए ऐतिहासिक धर्मातरण का भाषण (14 अक्तूबर 1956, पुस्तिका)
49. सदा कन्हाडे, ''मार्क्सवाद और दलित साहित्य'', पृष्ठ 57
50. भालचंद्र फडके, *दलित साहित्य, वेदना व विद्रोह,* श्री विद्या प्रकाशन, पूणे, 1977, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 70
51. एलॅनोर जेलियट, *फ्राम अंटचेबल टु दलित,* मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली,1996, पृष्ठ 272
52. शरण कुमार लिम्बाले, ''परिवर्तित संदर्भ और साहित्य के निकष'', *प्रगतिशील वसुधा,* अंक– 71, अक्टूबर–दिसम्बर, 2006, पृष्ठ 400–401

53. एलिनोर जेलियट, *फ्रॉम अंटचेबल टु दलित,* पृष्ठ 268
54. प्रभाकर माचवे, *तार सप्तक,* पृष्ठ 126
55. मुत्तिबोध, *नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1971, पृष्ठ 63
56. प्रभाकर मांडे–*दलित साहित्याचे निकाळेपण,*, धारा प्रकाशन, वंशीलाल नगर औरंगाबाद, प्रथम संस्करण– 1979, पृष्ठ 64
57. वही
58. सदा कन्हाडे, मार्क्सवाद और दलित साहित्य, पृष्ठ 47
59. मुकुंद राव मित्र पाटिल, गैल ओमवेट की पुस्तक *Cultural Revolt in Colonial society, the Non-Brahaman Movement in Western India*, 1873-1930 (Pune Scientific Socialist Education Trust, 1976, Page 157, से उद्धृत
60. गैल ओमवेट– *दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति,* 2009, पृष्ठ 3–4, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली
61. डॉ. गोविन्द सिंह, समकालीन कविता में स्त्री विमर्श के स्वर – *सम्वेद,* वाराणसी, जुलाई–सितम्बर, अक्टूबर–दिसम्बर, 2008, संयुक्तांक, पृष्ठ 170
62. प्रा. म. भि. चिटणीस, ''अस्पृश्यतेचे ओझे नाहीसे करा म्हण्जे मन आणि वांड्मय स्वच्छ हाईल'', *दलित साहित्य : एक अभ्यास,* संपादक – अर्जुन डांगले, महाराष्ट्र राज्य साहित्य– संस्कृति मण्डल, मंत्रालय, मुम्बई, 1978, पृष्ठ 73
63. *वसुधा,* अंक – 58, जुलाई–सितम्बर, 2003
64. मैनेजर पाण्डेय, ''हिन्दी साहित्य में दलित लेखन'', *वसुधा,* अंक 58
65. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता की प्रवृतियां,* 1996, पृष्ठ 118
66. मोहनदास नैमिशराय, "सफदर एक बयान"
67. त्र्यंबक सपकाळे, सुरूंग (कविता–संग्रह), पृष्ठ 22
68. वा. ल. कुलकर्णी, *अस्मितादर्श,* 31 जून, 1971
69. लोकनाथ यशवंत, *ऐलान–कविता*–संग्रह, हिन्दी अनुवाद–किरन मेश्रम, पृष्ठ–15, 2006, मूल मराठी (लोकनाथ यशवंत, प्रतिनिधि, आता हाऊन जाऊ द्या, मुक्त छंद प्रकाशन, नागपुर, 1989, पृष्ठ 21)
70. कंवल भारती, *दलित कविता का संघर्ष,* स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 13
71. बाबूराम बागुल, *दलित साहित्य, आजचे क्रांतिविज्ञान,* पृष्ठ 89
72. चंद्रकांत बांदिवादेकर, *मराठी साहित्य : परिदृश्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ 189

73. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *बस्स! बहुत हो चुका* (कविता–संग्रह) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997,
74. विलास राशिनकर – ''नये सूरज का यहां प्रवेश नहीं'' (नो एंट्री फार द न्यू सन) *प्वायजंड ब्रेड*, अर्जुन डांगले, ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, 1992
75. S. M. Michael, *Dalit in Modern India : Vision and Values*, Sage Publications, New Delhi, p. 14
76. अरूण काले, *सायरनचे शहर*, सत्यजीत प्रकाशन, नाशिक, 1997 पृष्ठ 1
77. पुन्नी सिंह, *वसुधा*– 58, जुलाई–सितंबर, 2003, पृष्ठ 14

अध्याय तीन

हिन्दी एवं मराठी दलित कविता की पृष्ठभूमि

दलित कविता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य की प्रारंभिक अवस्था में दलित साहित्य नाम की कोई विधा या प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है, न किसी अन्य रूप में कोई विमर्श ही कहीं सुनाई पड़ता है। बल्कि समूचे साहित्य में वर्ण–व्यवस्था और जाति व्यवस्था को धार्मिकता के साथ जोड़कर न्यायोचित ठहराने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। हिन्दी साहित्य में जिसे कुछ विद्वान आदिकाल के नाम से रेखांकित करते हैं, कुछ विद्वान उसे वीरगाथा काल नाम देते हैं। यह वही काल है जो हिन्दी का प्रारम्भिक काल है जिसमें चारण, भाट, आदि अपने आश्रयदाता राजाओं, सामंतों के दरबार में तुकबंदियों, शौर्य गाथाओं को कवित्त का रूप देकर इनाम–इकराम पाते थे। दरबारी कवि युद्ध वर्णन में प्रशस्तिगान को जोड़कर काव्य रचनायें करते थे। स्त्रियों के प्रति भी उनका नजरिया सिर्फ नख–शिख वर्णन की रसधार बहाते रहने तक सीमित था। उस काल का साहित्य युद्ध साहित्य है जिसमें दलितों के जीवन से संबंधित सामग्री शून्य के बराबर है। दलित चेतना जैसी किसी भी चेतना का कोई अक्स तक वहां देखने को नहीं मिलता हैं। इसी काल को साहित्य में आदिकाल या वीरगाथा काल नाम से लोकप्रिय किया गया है।

कहा जाता है कि बौद्ध धर्म का वज्रयान सम्प्रदाय तंत्रयान की ओर मुड़ गया था। तंत्रयान से जुड़े बौद्ध भिक्षु 'सिद्ध' कहे जाने लगे थे। इन चौरासी 'सिद्धों' ने अपने मत को आम लोगों में फैलाने का

कार्य किया था। कहा जाता है कि इन चौरासी सिद्धों में धोबी, चमार, मछुआरे, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी तथा अन्य शूद्र कही जाने वाली जातियों से थे। नाथपंथियों की भी यही स्थिति थी। इनकी कविताओं में वर्ण–व्यवस्था का विरोध भी दिखाई देता है।

बौद्ध धर्म की ओर दलित जातियों के आकर्षण का एक कारण यह भी है कि बौद्ध धर्म ने प्रारम्भ से ही वर्ण और जाति व्यवस्था का विरोध किया था। बुद्ध जन्मना जाति के विरुद्ध थे। साथ ही ब्राह्मणवादी विचार और मान्यताओं को खारिज करते थे। इस उद्धरण को देखिए–

न जच्चा वसला होति, न जच्चा होति ब्राह्मणों।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणों।।[1]

(न जन्म से कोई वृषल (पतित) होता है, न जन्म से ब्राह्मण।
अपने कर्म से ही कोई पतित होता है, कर्म से ही होता है ब्राह्मण)

इसी तरह इन पंक्तियों के देखें–

न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणों।
यं हिसच्च च धम्मो च, सो सुची सोच ब्राह्मणों।।[2]

(कोई मनुष्य अपनी जटा या परिवार अथवा जन्म के कारण ब्राह्मण नहीं होता, जिसमें सत्य और धम्म है, वही पवित्र और ब्राह्मण है)

बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था के अन्यायों और भेदभावों का विरोध किया। वे बार–बार भिक्षुओं को समझाते हैं – 'ये जाति पुच्छी, चरणं च पूच्छ' (जन्मना जाति न पूछो, उसके आचरण के बारे में पूछो, ताकि समानता का व्यवहार किया जा सके तथा जाति से छुटकारा मिले।[3]

बुद्ध कहते हैं – बौद्ध–संघ एक महासमुद्र के समान है, जहां

पहुंचकर भिक्षु अपनी पहली पहचान उसी तरह खो देते हैं, जैसे समुद्र में पहुंचने पर नदियां।[4]

अनेक विद्वान दलित साहित्य को संत साहित्य से जोड़कर देखने की कोशिश करते हैं। उनका मानना है कि संतों ने मध्यकाल में जात–पात की भावना और अस्पृश्यता का विरोध किया था। इसीलिए दलित साहित्य का प्रारंभ संतों की रचनाओं से मानने की वकालत करते हैं। कई विद्वान तो और भी अधिक आगे बढ़ कर रैदास को दलित साहित्य का अग्रदूत तक कह देते हैं।

दलित चेतना ही साहित्य को दलित साहित्य बनाती है जिसका उदभव डॉ. अम्बेडकर के द्वारा बौध–धम्म–दीक्षा लेने के बाद ली गयी प्रतिज्ञाओं से समझा जा सकता है। जहां डॉ. अम्बेडकर सिर्फ हिन्दू धर्म से ही नहीं, बल्कि उन प्रतीकों से भी अपना नाता समाप्त करने की घोषणा करते हैं जिनमें सामाजिक असमानता और विषमता के तत्त्व विद्यमान हैं। कबीर और रैदास भक्ति और अध्यात्म के द्वारा मानव की मुक्ति का रास्ता तलाश करते दिखाई देते हैं, जबकि डॉ. अम्बेडकर का रास्ता सामाजिक संघर्ष का रास्ता है जो उनके जीवन काल में ही दलितों को संघर्षशील बनाने की प्रक्रिया तैयार करके एक परंपरा का सूत्रपात करते हैं।

बाबुराम बागुल का मानना है, 'स्त्री और गुलाम को स्थान देने के लिए आज तक किसी ने भी अधिक प्रयत्न नहीं किए। हिन्दू संतो के कार्य का आज काफी गौरव किया जाता है, परन्तु हिन्दू संतों ने भी स्त्री और शूद्रों के लिए कभी आंदोलन नहीं किया। बावजूद इसके स्त्री के बारे में उन्होंने गलत प्रचार किया। उसके सम्बन्ध में नफरत निर्मित हो, इस प्रकार का वातावरण निर्माण किया गया। अस्पृश्यों को उन्होंने अपवित्र माना। किसी ने भी अस्पृश्यता के सम्बन्ध में चिंतन नहीं किया उलटे वे अस्पृश्यता को मान्यता देते रहे। अपने सुंदर और सामर्थ्यशाली शब्दों के माध्यम से विचारों का जहर घर–घर में, मन–मन में पहुंचाया, और मानवता को तोड़ने की कोशिश की। एक भी संत ने

कर्मवाद का, पुनर्जन्म का विरोध नहीं किया। आत्मा, स्वर्ग, नर्क यह क्या है, यह कभी पूछा नहीं गया। अपने आस–पास का दुःख भगवान ने दिया है अथवा सामंती व्यवस्था के कारण मिला है, यह कभी देखा नहीं गया। वैसे तो यहां (मराठी) के संत राजसत्ता के बंधे हुए थे। यहां के संत धनसत्ता, राजसत्ता के नौकर बन कर काम करते हैं, ऐसा चित्र दिखाई देता है।'[5]

'सांस्कृतिक और साहित्यिक समझ व्यक्त करने वाले आंदोलन अचानक शुरू नहीं हो सकते। सन् 1920 से डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने महाराष्ट्र में सोच के स्तर पर जो विद्रोह एवं वैचारिक परिर्वतन दलितों में उत्पन्न किया उसी के परिणामस्वरूप दलित साहित्य का जन्म हुआ। परन्तु पिछले पन्द्रह सालों से ही (1970 के आसपास) यह आंदोलन क्यों फल–फूल रहा है? अर्थात इसके पहले कोई लिखता नहीं था, ऐसी बात नहीं हैं। पर उस लेखन को आंदोलन का स्वरूप नहीं मिला था। इस बात को कोई भी स्वीकार कर सकता है। कुछ समीक्षक मराठी साहित्य में 'मर्ढेकरी' सम्प्रदाय के आरम्भ के साथ ही दलित साहित्य का जन्म हुआ ऐसा मानते हैं; तो अभी–अभी एक प्रगतिशील कवि ने दलित साहित्य के जन्म का सम्बन्ध अण्णाभाऊ साठे एवं अमर शेख द्वारा किए गए 'लोकनाट्य कलापथक' के साथ जोड़ा। दलित आंदोलन के इतिहास की जानकारी जिन्हें नहीं हैं उनमें ही इस प्रकार की गलतफहमियां निरंतर दिखाई देती हैं।[6]

अनेक हिन्दी विद्वानों की राय है कि कबीर, रैदास ने जाति के सवाल पर तीखे प्रहार किए। पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं – 'कबीर के अनुसार निश्छल और समतापरक जीवन जीने का, 'समता सी वस्तु' की खोज का, उसके लिए संघर्ष का रूपक हैं। छुआछूत मानने वालों के सामने कबीर तिलमिला देने वाले सवाल तो रखते ही हैं, याद भी दिलाते हैं कि बुनियादी छूट माया की ही है। जो मायामुक्त हो चुका है, वही छूआ छूत, से मुक्त होने की बात करे। 'कहहीं कबीर ते छूत विविर्जित जिनके संग न माया' जैसी 'अपवित्रता' के आधार पर

छूत–छात को जायज ठहराया जाता है, उसके बारे में कबीर 'पाण्डे' को याद दिलाते हैं कि मिट्टी में शव गाड़े जाते हैं, नदियों में जलचरों का रक्त और पसीना मिलता है। जिस 'दुग्ध पान' को पाण्डे जी करते हैं, वह हड्डी और चर्बी से झर–झर कर बनता है– 'हाड झारी झारी, गुड गली गली, दूध कहां ते आया'। इसीलिए, माया जाल से मुक्ति का मतलब है – जन्म के आधार पर किसी को हीन (मद्धिम) समझाने की बीमारी से मुक्ति पाना।[7]

'मराठी संत साहित्य मात्र परमार्थिक है। वेदांत धर्म की पताका ज्ञानेश्वर ने फहराई। तुकाराम, चोखामेला ने सामाजिक प्रश्नों को सुलझाया नहीं। वैयक्तिक और ईश्वर विषयक विचार ही उन्होंने व्यक्त किए। एकनाथ द्वारा महार जाति के एक बच्चे को गोद लेने से समूचे समाज की उन्नति हुई, ऐसा नहीं। महानुभाव साहित्य यदि अवैदिक भी हो, जाति को न मानने वाला भी हो, तो भी वह सामाजिक जीवन में परिवर्तन नहीं ला सका। बल्कि वह खुद एक जाति बन कर रह गया। रामदास ने स्पष्ट रूप से ब्राह्मण धर्म का जयगान किया– 'ब्राह्मण वेद मूर्तिमंता, ब्राह्मण तोधि भगवंत' (ब्राह्मण वेद मूर्तिमान, ब्राह्मण ही भगवान) अर्थात ब्राह्मण पूजन से ही सही गति प्राप्त होती है। ऐसा उन्होंने कहा– 'जरी ब्राह्मण मूढमती। तरी तो जगदवन्ध्य। (यदि ब्राह्मण मूढ़मति है तो भी वह विश्ववन्ध्य है।)'[8]

हिन्दी में तुलसीदास भी इसी तरह की बात कहते हैं– पूजहिं विप्र ग्यान गुण हीना। न पूजहिं सुद्र ग्यान प्रविणा।[9]

हिन्दी साहित्य में संतों की जो विशिष्ट भूमिका दिखाई देती है, जहां एक और कबीर, रैदास और अन्य संत वर्ण–व्यवस्था, धार्मिक कट्टरवाद का विरोध करते दिखाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर स्त्री के प्रति उनकी सोच और मानसिकता का जो अंतर्विरोध दिखाई देता है, वह ध्यान आकर्षित करता है। एक ओर नारी निदा का संस्कार और दूसरी ओर कबीर स्वंय नारी का रूप धारण करते हैं। 'स्त्री निंदा के संस्कार और स्त्री रूप के बीच के अंतर्विरोध को भी कबीर के

संवेदनशील पाठक श्रोता लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकते। अपनी कामवासना को नियंत्रित करना ही यदि स्त्री मात्र की निंदा का प्रेरक तत्व मान लिया तो सवाल उठता है कि दूसरे 'जेन्डर' की ऐसी निंदा करने की जरूरत मीरा, महादेवी, अक्का और आंडाल को क्यों नहीं पड़ती? उन्हें क्यों जरूरी नहीं लगता कि पुरुष मात्र को नरक का द्वार निरुपित किया जाए?[10]

यहां यह तथ्य भी सामने आता है कि 'अक्सर साधना के धरातल पर स्वयं स्त्री बनने वाले भी सामाजिक वास्तविकता के धरातल पर स्त्री की स्थिति के प्रति संवेदनशीलता का परिचय नहीं देते। वर्ण–व्यवस्था और जातिवाद के तर्क को सिरे से खारिज करने वाले कबीर के लिए नारी मात्र 'कुण्ड नरक का' और भक्ति, मुक्ति और ज्ञान के तीनों सुखों का नाश करने वाली बन जाती है। पति को सर्वस्व मानने वाली एकनिष्ठा नारी उनकी भक्ति का रूपक बनती है और कबीर उनके प्रति प्रशंसा–भाव रखते दिखते हैं। जातिवाद का तर्क कहीं भी, किसी भी रूप में कबीर के प्रशंसा–भाव का पात्र नहीं बनता इसीलिए सती प्रथा का यह महिमा मंडन और भी गौर तलब हो जाता है।'[11]

ढोल दमामा बाजिया, सबद सुण सब कोई।
जो सल देखि सती भजै, तौ दुहु कुल हांसी होई।[12]

(यह साखी एकनिष्ठा का रूपक रचने वाली कल्पना का चिन्ताजनक रूप प्रस्तुत करती है। सती की जा रही स्त्री के मन में चिंता को देखकर उपजने वाले आतंक से सहानुभूति और उस स्त्री की नियति के प्रति करुणा के स्थान पर कवि की चिंता यह है कि दोनो कुलों की हंसी न हो।)

स्त्री के प्रति कबीर की सोच दर्शाती ये साखियां भी ध्यान आकर्षित करती हैं–

कबीर नारी कुण्ड नरक का, बिरला थंमै बाग।
कोई साधु जन ऊबरै, जब जब मुवा लाग। [13]

नारी नसावै तीन सुख, जा नर पासैं होई।
भगति, मुकति निज ज्ञान नैं, पैसि सकेन कोई।[14]

इसलिए दलित साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते समय कबीर, रैदास या अन्य कवियों की रचनाओं की गहन पड़ताल जरूरी हो जाती है। इन तथ्यों को अनदेखा करके हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते हैं। यही स्थिति मराठी के संत कवि चोखा मेला के साथ भी है। वहां भी हमें इसी तरह की अनेक विसंगतियां दिखाई देती है। इसीलिए अनेक मराठी दलित कवियों ने चोखा मेला और अन्य संतों की भूमिका पर अनके सवाल उठाये हैं जिनकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

लेकिन सिद्ध कवि सरहपाद ब्राह्मणवाद और उसके आडंबरों को खुली चनौती देते हैं।

ब्राह्मणेही म जाणन्त भेउ।
एवौ पढि अउ एच्छउ वेउ।
मट्टी, पाणी, कुस, लइ पढ़ंत।
धरहिं वहसी आग्नि हुनंत।

(ब्राह्मण ही क्यों हाथ में कुश – जल लेकर हवन कराते हैं? यदि आग में घी ड़ाल देने से मोक्ष मिलता है तो क्यों नहीं सब अंत्यजों को आग में घी डाल कर यज्ञ और हवन करने देते।)

सरहपाद द्वारा ब्राह्मणवादी व्यवस्था को दी गई यह चुनौती दलित चेतना की पूर्व पीठिका कही जा सकती है।

नाथ, सिद्ध, और संत कवियों की परंपरा

आठवीं शताब्दी भारत के इतिहास मे राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से विशिष्ट है। इसी काल में बौद्धों का सबसे ज्यादा कत्लेआम हुआ। यही वह समय था जब बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान सम्प्रदाय अपने उत्कर्ष पर थे। हीनयान (स्थिवरवाद) शील, सदाचार और वैयक्तिक निर्वाण के स्थान पर जोर देता था। महायान शील, सदाचार को महत्त्व तो देते थे, लेकिन वैयक्तिक निर्वाण के स्थान पर मानवमात्र के निर्वाण को अपना लक्ष्य मानते थे। राहुल सांकृत्यायन 'सरह' के 'दोहाकोश' में लिखते हैं– 'महायान की एक शाखा व्रजयान थी। यह चार बातों को मानते थे– मद्य, मुद्रा, मंत्र तथा हठयोग। इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य 'लुईपा' थे। इन्होंने बिखरे हुए बौद्ध अनुयायियों को एकत्र कर संगठित किया। 'लुईपा', के बाद सिद्ध आचार्यों में ही 'लीलापा', 'डोम्मीपा' और 'शबरीपा' हुए।[15]

लूईपा, जिन्हें लूहिपा के नाम से भी जाना जाता है उनके बारे में अनेक वृतांत मिलते हैं। कहा जाता है कि 'मछली की आंत खाते हुए साधना करते रहने से उनका नाम लूहिपा पड़ा।[16]

लूहिपा के अनेक शिष्य हुए। कहा जाता है कि आठवी शताब्दी के मध्यकाल में सहजयान के आचार्य 'सरहपा' हुए। राहुल सांकृत्यायन इन्हें इस संप्रदाय का प्रथम आचार्य मानते हैं और 'लुईपा' को इनका शिष्य। 'सरहपाद' ने गुरु को महत्त्व देते हुए बुद्ध के त्रिशरण में 'गुरु शरणं गच्छामि' जोड़ दिया। कहा जाता है कि सरहपाद ने सिद्ध सम्प्रदाय में और भी अनेक परिवर्तन किये। वे सरल जीवन के पक्षपाती थे। भक्ष्य–अभक्ष्य, गम्य–अगम्य की पुरानी धारणाओं पर सीधी चोट की। नालंदा से बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। इसीलिए महायानियों पर इनका प्रभाव पड़ा।

सरहपाद ने जन भाषा अपभ्रंश को अपनी रचनाओं के लिए

अपनाया। इनकी पुस्तक 'सरह' के दोहा को अपभ्रंश की प्रथम कृति माना जाता है।

'हिन्दी काव्य रचना के बीज आठवीं शताब्दी में बज्रयानी योगी सरहप्पा के अपभ्रंश के छंदों में 'चाण्डाल' और भेद–भाव शब्द मिलते हैं। आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय के संस्थापक गोरखनाथ की रचनाओं में भी 'शूद्र' शब्द का प्रयोग किया गया है और वर्ण–व्यवस्था का खण्डन किया है। शूद्रों की पूर्व से चली आ रही दयनीय स्थिति को 'नकारा' है।'[17]

सिद्ध कवि सरहपाद का यह पद, जिसमें ब्राह्मणवाद व उसके आडम्बरों को खुली चुनौती दी गयी है, ध्यान आकर्षित करता है–

यदि कहऊ तोहि कह न जात ई
अथवा कहऊ जन के मन पथमन जागरई
यदि प्रमोद विधिवस मूढ लहेऊ भेद
यदि चण्डाल घरे भुजई तऊ न लगे लेप
वर्ण अचार प्रमाणरहित अच्छर भेद अनंत
को पूजै कहं पूजयई जासु आदि न अंत

चौरासी सिद्धों की परंपरा में सबसे क्रांतिकारी कवि सरह्पाद थे जिन्होंने अपने जीवन में भी रूढ़ियों को तोड़ा। उस काल में ब्राह्मण होते हुए भी सरहपाद ने एक अस्पृश्य कन्या से विवाह किया। वैचारिक स्तर पर भी उन्होंने ब्राह्मणवादी मान्यताओं पर प्रहार किए। उनका कहना था– 'ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से पैदा हुए थे; जब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं, वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहां? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चांडाल को भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाये, यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है तो क्यों नहीं चांडालों को भी वेद पढ़ा कर ब्राह्मण हो जाने देते? सच पूछो तो शूद्र भी तो

व्याकरणादि पढ़ते ही हैं और इन व्याकरणादि में भी तो वेद के शब्द हैं, फिर शूद्रों का तो वेद पढ़ना ही हो गया और यदि आग में घी देने से मुक्ति होती है तो सबको क्यों नहीं यह अधिकार देते ताकि सब मुक्त हो जायें? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, धुआं लगने से आंखों को कष्ट जरूर होता है।'[18]

सरहपाद द्वारा ब्राह्मण व्यवस्था को दी गयी यह चुनौती दलित चेतना की पूर्व पीठिका कही जा सकती है। लेकिन एक लम्बे कालखंण्ड में यह चेतना दबकर रह गई और इसका हश्र भी संत साहित्य की तरह ही रहा।

यहां हिन्दी दलित चिन्तक कंवल भारती का यह कथन भी ध्यान आकर्षित करता है– 'हमें सिद्ध साहित्य से ही संस्कृति के रूप को देखना होगा। सिद्ध साहित्य में ब्राह्मणों के सक्रिय हस्तक्षेप के बावजूद हमें दो चीजें नहीं भूलनी चाहिए – पहली यह कि सिद्ध साहित्य में संस्कृति के मूल्य बुद्ध की परम्परा से आते हैं जिन्होंने मूल निवासियों या शूद्रों को सर्वाधिक प्रभावित किया। दूसरी यह कि सिद्धों में तीन दर्जन से भी ज्यादा सिद्ध शूद्र और निम्न जातियों से आये हैं। सिद्धों के साहित्य में हम श्रम की संस्कृति के मूल तत्व के रूप में देखते हैं। अधिकांश सिद्ध किसी न किसी श्रम से जुड़े है। श्रम की स्वीकृति का मुख्य कारण भी यह सांस्कृतिक समानता ही प्रतीत होती है।[19]

'कबीर से पहले, अश्वघोष से लेकर सरहपा तक की वाणी वर्णाश्रमवाद का प्रखर विरोध करती है। कबीर और उनके समकालीन संतों को विरोध की इस परम्परा का बल विरासत में मिला था। साथ ही जन्मगत भेदभाव धर्म सत्ता के एक और रूप इस्लाम से भी उनका पाला पड़ा। इन लोगों ने एक तरह के नहीं, हर तरह के मानवाधिकार विरोधी तर्क का प्रतिवाद किया। जन्म आधारित भेदभाव के किसी भी रूप को कोई रणनैतिक कंसेशन कबीर जैसे विचारक नहीं देते।' जो तू बांमन बांमनी जाया, तो आन बाट काहे नहीं आया।' जिस पंक्ति में कहते हैं, उसकी अगली पंक्ति में कबीर कहते हैं– ' जो तू तुरक

तुरकनी जाया, भीतर खतना क्यूं न कराया।' बात, कबीर के अनुसार यही है कि मनुष्य न हिन्दू होने के कारण हीन है, न मुसलमान होने के कारण हीन है। (कबीर का शब्द– 'मद्धिम') यदि कोई है तो नैतिक कारणों से।[20]

अनेक विद्वानों का मत है कि भक्तिकालीन साहित्य मुस्लिम काल के संघर्ष से पलायन का साहित्य है। हिन्दू धर्म से इस्लाम में धर्म परिवर्तन से जनता को रोकने का काम संतों ने बखूबी किया है। हिन्दू संतों के अधःपतन और मुस्लिम संतों के उभार के इस काल में समाज के विभिन्न वर्णों, शूद्रों, अंत्यजों, अतिशूद्रों, स्त्रियों के प्रवक्ता भी उभरने लगे थे। हिन्दू धर्म–सत्ता के दमन चक्र पर इस्लामिक आक्रमण ने भी अंकुश लगाया था। इसीलिए शूद्रों, अतिशूद्रों के प्रवक्ता, कलाकार, कवि, बुद्धिजीवी परिदृश्य पर उभर सके। इस थोड़े से काल में ही समाज की सृजनात्मकता सामने आ गई थी। इसीलिए भक्तिकालीन साहित्य को संक्रमणकालीन साहित्य भी कहना अनुचित न होगा। यह युद्धकालीन साहित्य है। यहां यह भी प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस साहित्य को जैसा होना चाहिए था क्या वह ऐसा बन पाया या सिर्फ बना पाया या सिर्फ पलायनवादी बन कर रह गया?

इसी संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर कहते हैं– 'जहां तक संतों का प्रश्न है, तो मानना पड़ेगा कि विद्वानों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों, वे सोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला–किसी भी संत ने जाति–व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जातपांत की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे हैं। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिए और मरे, उसी जाति में जिसके वे थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मानव बराबर हैं। परन्तु यह शिक्षा दी कि ईश्वर की सृष्टि में सारे मानव समान हैं। दूसरा कारण यह था कि संत की शिक्षा प्रभावहीन रही है, क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया कि संत जाति का बंधन तोड़ सकते हैं, लेकिन आदमी नहीं तोड़ सकता। इसीलिए संत

अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।'

'संत साहित्य की ओर डॉ. अम्बेडकर ने कभी भी संप्रदाय की दृष्टि से नहीं देखा। संत साहित्य पर विचार करते समय वह प्रखर बौद्धिकता की दृष्टि को अपनाते हैं। भाव विह्वल होकर वे नहीं लिखते। संतों की नैतिक शिक्षा का वे बार–बार उल्लेख करते हैं। संत साहित्य के संदर्भ में वे 'विद्रोह' और 'क्रांति' इन दो शब्दों की सूत्रमय व्याख्या करते हैं। वे लिखते हैं कि संत साहित्य 'विद्रोही साहित्य' है, 'क्रांतिकारी' नहीं। विद्रोह कभी भी समाज–व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन नहीं कर पाता। विद्रोह समाज–व्यवस्था में हलचल पैदा कर देता है। वह उस पर आघात करता है, परंतु परिवर्तन नहीं। क्रांति अलबत्ता परिवर्तन की भाषा ही नहीं पैदा करती, वह परिवर्तन को साकार करती है। और इसी कारण विद्रोह हमेशा असफल होता है, पराजित हो जाता है। क्रान्ति मूल्यों का निर्माण करती है। वह पुराने मूल्यों को ध्वंस कर देती है। और नये मूल्यों को प्रस्थापित करती जाती है'। इस दृष्टि से देखें तो संतों का विद्रोह था, क्रांति नहीं, वास्तव में संत साहित्य का आंदोलन 'ब्राह्मण–श्रेष्ठ' अथवा 'भक्त–श्रेष्ठ' इस पर केंद्रित था।[21]

'ब्राह्मण–मनुष्य–श्रेष्ठ' अथवा 'शूद्र–मनुष्य–श्रेष्ठ' इस प्रश्न से जूझने का कभी भी संतों ने प्रयत्न नहीं किया है। यह सही है कि इस आंदोलन में साधु–संत विजयी हुए। भक्तों की श्रेष्ठता को ब्राह्मणों ने स्वीकार किया। बावजूद इसके चातुर्वण्य विध्वंस की दृष्टि से इसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता।[22]

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे लिखते हैं– 'संतों ने वर्ण व्यवस्था पर कहीं आघात नहीं किया। अर्थात यहां यह आशय मराठी संतों से है। हिन्दी में कबीर ने वर्ण–व्यवस्था पर जमकर प्रहार किये हैं। और कबीर तो बाबा साहेब के प्रेरणा स्रोत ही रहे हैं। संतों की व्यक्तिगत उपलब्धियां बहुत हैं। परन्तु सामुदायिक सामाजिक उपलब्धियों से समाज को क्या फायदा हुआ?'[23]

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे की भी मान्यता है कि हिन्दी संतों में कबीर, रैदास आदि ने खुलकर जात–पात और वर्ण–व्यवस्था का विरोध किया था। लेकिन मराठी संतों में यह विरोध दिखाई नहीं देता है।

कबीर कहते हैं–

काहे कौ कीजै पांडे छोति विचारा।
छोतिहिं ते उपजा संसारा।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारैं कैसे दूध।
तुम्ह कैसे बांम्हण हम कैसे सूद।[24]

अथवा

एकै पवन एक ही पांणी, करी रसोई न्यारी जांनी।
माटी सूं माटी लै पोती, लागी कहौ कहां धूं छोती।[25]

मराठी के सुप्रसिद्ध दलित लेखक बाबुराम बागूल लिखते हैं– 'युद्धकाल में जन्मा संत साहित्य पूर्ण रूपेण वर्ण–व्यवथा द्वारा स्थापित वैचारिकता और साहित्यिक आदर्शों में बंध कर रह गया है। संस्कृत साहित्य द्वारा स्थापित संकल्पन, सिद्धांत व नायक और शोषण, दमन के तत्त्वों को संत साहित्य ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया और अभिव्यक्त किया। शोषण व्यवस्था, वर्ण–व्यवस्था इससे और अधिक मजबूत हुई। जाति व्यवस्था और उससे उपजी मानसिकता को इस्लाम ने भी स्वीकार कर लिया था। संतों की भक्ति समाज में समता भाव स्थापित करने में असमर्थ रही है। उनके द्वारा की गयी व्याख्याएं आदर्श रूप बन कर समाज में अपना प्रभाव नहीं जमा पाई। भक्तिमार्ग सर्वत्र फैला, लेकिन भक्तगणों का समूह जाति–व्यवस्था में ही फंसा रहा। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, आत्मवाद, देववाद आदि मान्यतायें और अधिक गहराती गई जिससे यथास्थितिवाद को बढ़ावा मिला। 'जो भी होता है, ईश्वर की मर्जी से होता है', की भावना ज्यों की त्यों बनी रही। हिन्दू

सामंतवाद की वैचारिक और सामाजिक व्यवस्था भारतीय समाज में जैसी थी वैसी ही बनी रही।'[26]

अर्जुन डांगले बौद्ध काल, चौहदवीं सदी के संत चोखा मेला और उन्नीसवीं सदी के जोतिबा फुले को दलित साहित्य का जनक नहीं मानते हैं। उनकी मान्यता है कि बुद्ध और फुले ने अन्यायपूर्ण जातीय संरचना के विरुद्ध विद्रोह किया और आज भी उनके विचार प्रासंगिक और प्रेरणा दायक हैं। परन्तु तथ्यों की वस्तुपरक जांच पड़ताल से यह सिद्ध होता है कि डॉ. अम्बेडकर ही हैं, जिनके विचारों, और मुक्ति–संघर्ष ने दलित साहित्य को विकसित होने के लिए जमीन तैयार की।

रतनलाल सोनग्रा का मानना है, 'मराठी साहित्य के सम्मान के पहले अधिकारी संत कवि हैं। चक्रधर, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम इन संत कवियों की परंपरा वंदनीय है। पर आगे चलकर उनका साहित्य कण्ठस्थ करने का, पूजा और संप्रदाय का साहित्य बनकर रह गया। ज्ञानेश्वरी कण्ठस्थ करना और उसके पदों का अलग–अलग अर्थ लगाना, यही चिंतकों का काम बन गया। कीर्तनियों को सुविधा हुई। संत साहित्य ने शोषित, पीड़ित, सताये हुए, ठगे गये समाज को आध्यात्मिक राहत दी और भक्तों को प्रत्येक जाति के लिए एक–एक संत बांट कर दिया। संतों ने जाति व्यवस्था नष्ट करने का प्रयास किया, लेकिन भक्तों ने अपने–अपने संतों को अपना लिया। दर्जियों ने नामदेव को लिया, सुनारों ने नरहरि को अपनाया, मालियों ने सावता माली को तो चमारों ने रैदास को अपनाया। इतने सारे संतों के होते हुए भी जातिवाद बढ़ता ही रहा। पद दलित संतों ने अपने आर्त्त उद्‌गार अपनी भाषा में व्यक्त किये। संत चोखा मेळा, सतं बंका, कर्ममेळा, सोयरा, रैदास, तिरुवल्लूर, नंदगार, सक्कलनैर और क्रान्ति दूत कबीर आदि ने समता का दर्शन करवाया।'[27]

यहां यह ऐतिहासिक तथ्य भी ध्यान आकर्षित करता है कि संतों का आर्विभाव मुस्लिम काल में ही क्यों सम्भव हुआ। इन तथ्यों की पड़ताल करते हुए कहा जा सकता है कि भारत पर इस्लामी आक्रमणों

और इस्लामी सत्ता की स्थापना और हिन्दू–सत्ता के पराभव के संक्रमण काल में ही संत साहित्य का उदय हुआ। बिखरती हिन्दू सत्ता व वर्ण–व्यवस्था को संभालने और इस्लाम के प्रभाव को रोकने का काम संत साहित्य ने किया है। जिससे वर्ण–व्यवस्था कमजोर पड़ने के बजाय उसे और ज्यादा मजबूत करने और उसका व्यापक प्रचार, प्रसार करने में संत साहित्य की भूमिका रही है। इससे वर्ण–व्यवस्था की वैचारिकता को बल मिला।

लालजी पेण्डसे का मानना है कि 'वैचारिक आधार पर संत साहित्य का वर्गीकरण करने पर दो स्पष्ट भाग हो जाते हैं। एक भाग में हरिनाम संकीर्तन की महिमा गाकर अध्यात्म विचार प्रस्तुत किया गया है और संत का विचार करने वाले लेखकों ने इसी भाग पर पूरा जोर दिया है। दूसरे भाग में ब्राह्मण और क्षत्रिय कर्म–भ्रष्टता संबंधी धधकती शिकायत की गई है। नानक, कबीर, चंडीदास व चैतन्य, गोरक्ष, विवृत्ति, ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, चोखा, महालिंग दातोपंत और नरसी मेहता, अरवा भगत, तुकाराम, इन सबका साहित्य इस धर्मच्युति के खिलाफ–वर्ण–धर्म–भ्रष्टता के खिलाफ प्रखर, टीका–टिप्पणी से भरा–पूरा है।'[28]

इस्लाम के साथ रिश्ते के अलावा भारतीय समाज का वर्ण–व्यवस्थागत, परंपरागत आंतरिक द्वंद्व भी भक्तिकाव्य में व्यक्त हुआ है, जो वैचारिक रूप से निर्गुण–सगुण विवाद में दिखाई पड़ता है। इस प्रसंग में दोनों प्रवृत्तियों के सामाजिक आधारों की स्पष्ट पहचान न करते हुए भी लेखक ने कबीर की उक्ति 'दसरथ सुत तिहूं लोक बखाना, राम नाम का मरम न जाना 'पर तुलसी द्वारा गाली–गलौज की भाषा में किये गये प्रहार का उल्लेख करने के बाद जो टिप्पणी की है, उससे तसवीर काफी साफ हो जाती है– 'तुलसी जिस वैदिक और पौराणिक परंपरा की रक्षा के लिए निर्गुण की आलोचना करते हैं, उसमें विराधी विचारों के साथ ऐसा व्यवहार बहुत पहले से होता आया है। उस व्यवहार के अनुसार किसी विरोधी विचार का पहले पूर्ण विरोध

किया जाता है। यदि विरोध से वह नष्ट नहीं होता तो उसे विकृत किया जाता है। अगर वह विरोध और विकृति की प्रक्रिया को झेलते हुए भी जीवित रहता है, तो उसके विद्रोही स्वर को दबाकर उसे आत्मसात का लिया जाता है। निगुर्ण मत से पहले बौद्ध दर्शन और लोकायत दर्शन विरोध, विकृति और समाहार की इसी पद्धति के शिकार हो चुके हैं।[29]

1. दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना
   रामनाम का मरम न जाना।[30]

2. तुम्ह जो कह राम काउ आना
   जेहि श्रुति गाव धर्हिं मुनि ध्याना
   कहहिं सुनहिं अस अधम नर,
   ग्रसे जे मोह इसाच।
   पाषंडी हरिपद विमुख,
   जान्हिं झूठ न सांच। [31]

कबीर के तर्क पर तुलसी की यह भाषा ध्यान आकर्षित करती है। जिसमें एक तिलमिलाहट, गाली–गलौज की भाषा है। यहां तुलसी ने कबीर को लक्ष्य कर जिन कुवाच्यों का प्रयोग किया है, वह भाववादी वेदांतियों की पारंपरिक भाषा है। जिसका प्रयोग वे चार्वाकों, लोकायतों, आजीविकों और बौद्धों के लिए करते आये हैं। अकाट्य तर्कों से निरूत्तर होने की स्थिति में प्राय लोग गाली–गलौज की भाषा पर उतर आते हैं।

दलित साहित्य आंदोलन को भी इस विरोध, विकृति और समाहार की प्रवृत्ति से गुजरना पड़ा है। हिन्दी ही नहीं मराठी दलित साहित्य को भी इस तरह के रास्तों से निकलते हुए अपनी राह पुख्ता करनी पड़ी है। साहित्य में इसे यदि घातक प्रवृत्ति कहा जाये तो

अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि दलित साहित्य की अंतःचेतना डॉ. अम्बेडकर का मुक्ति संघर्ष है जिसकी ऊर्जा से दलित साहित्य एक विस्फोट की तरह सामने आया। लेकिन हिन्दी साहित्य में इसका जिस तरह विरोध हुआ और फिर इसे विकृत करने की मुहिम शुरू हुई, लेकिन दलित साहित्य ने अपनी राह नहीं छोड़ी। आज अनेक विद्वान दलित साहित्य को डॉ. अम्बेडकर विचार–दर्शन से न जोड़कर इन संतों से जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसा करने से इसके जो विद्रोही स्वर है वह संतों की रिरियाहट में बदल कर अपना स्वरूप ही बदल लेते हैं। और भारतीय परम्परा से जोड़कर इसे भी लोकायत के हश्र तक पहुंचा दिया जाएगा।

संदर्भ के लिए देखें डॉ. चमन लाल की पुस्तक– 'दलित साहित्य के अग्रदूत' : गुरू रविदास' जिसमें वे दलित साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन कबीर और रविदास से करने की बात करते हैं।[32] डॉ. चमन लाल यह तर्क दे रहे हैं क्योंकि परंपराओं की अपनी मान्यतायें हैं। अपनी कसौटियां हैं। उससे अलग सब त्याज्य है। चाहे साहित्य हो या दार्शनिक विचार। भक्तिकालीन साहित्य की भी अपनी कसौटियां हैं। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तुलसीदास के लोक धर्म की कसौटी पर दूसरे भक्त कवियों को परखते हैं। इसीलिए उन्हें 'निगुर्ण धारा के संतों की बानी में लोक धर्म की अवेहलना छिपी हुई दिखायी देती है। 'तात्पर्य यह है कि जो पहले से चली आती हुई सामाजिक व्यवस्था और मर्यादा को बदलने की प्रेरणा देगा, वह तुलसीदास और शुक्लजी के लोकधर्म को विरोधी होगा। सवाल यह है कि कैसे समाज और कैसी मर्यादा के लिए संतों की बानी खतरा बन रही थी, इसमें संदेह नहीं है कि सामाजिक समानता और जाति–पांति के भेदभाव पर टिकी हुई समाज व्यवस्था और उसकी रक्षा करने वाली मर्यादाओं का विरोध निर्गुण संतों के काव्य में हैं। वही तुलसीदास को असह्य लगता है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को लोक विरोधी। शुक्ल का लोक धर्म मूलतः ऐसा समाज–दर्शन है जिसमें पहले से स्थापित और स्थिर

सामाजिक सम्बधों को यथावत बनाये रखने का आग्रह है।'[33]

भक्ति काल में जहां वर्ण–व्यवस्था, ब्राह्मणवादी मान्यताओं, और इन आदर्शों को स्थापित करने वाले ग्रंथों के विरुद्ध कुछ भी दिखाई देता है तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भौंहे तन जाती हैं।

यहां लालजी पेंडसे का यह कथन भी, उस काल की वस्तुस्थिति का, एक चित्र प्रस्तुत करता है। उनका मानना है कि 'हिन्दू सरदारों के आपसी युद्धों में उफान था। एकनाथ से तुकाराम तक के कालखण्ड में तो यह परिस्थिति अधिक विकराल रूप ले चुकी थी। सैकड़ों बड़े–बड़े हिन्दू सरदार इस्लाम धर्म को स्वीकार कर राज्य विस्तार और 'क्षेत्र–वित्त–द्वारहरण' की मुहिम चला रहे थे। ब्रह्मकर्म को छोड़कर ब्राह्मण मलेच्छ सेवा में रत हो गये थे। कुल धर्म, कुलाचार डूब गये थे। एकनाथ अपनी 'ओवियों' और 'अभंग', 'जोहार' (बन्दगी), 'भारूड' में भयानक स्थिति का हृदय विदाकर चित्र उपस्थित करा रहे थे। इन सारी विपत्तियों का कारण कुलधर्मक्षय बताया है। तुकाराम ने भी कितने ही अभंग इसी तरह शिकायतों में लिखे हैं। इन सभी आलोचनाओं में संतों ने वर्ण–धर्म के ह्रास पर अधिक जोर दिया है। प्रकृति का कोप भी इसी ह्रास के कारण माना जाने लगा। इन प्रकारों से व्याकुल होकर तुकाराम अशांत होकर उद्‌गार व्यक्त करते हैं– 'क्या करूं भगवन ऐसी नहीं शक्ति। डंडे के सामने हुए बरबाद'। संत साहित्य का सच्चा मर्म इस आलोचना में और वर्ण–धर्म की पुनर्स्थापना करने के लिए उनके मन के झुकाव में हैं।[34]

तुकाराम ने कहीं–कहीं ऊंच–नीच की भावना पर भी टीका–टिप्पणी की, लेकिन वह भी उसी अंदाज में झिझक और संशय के साथ जबकि गृहस्थ जीवन पर उनकी अभिव्यक्ति में झुंझलाहट स्पष्ट दिखाई देती है। तुकाराम और एकनाथ के बीच का यह अंतर उन दोनों की परिस्थितियों के अंतर का द्योतक है। चातुर्वर्ण्य की पुनर्स्थापना का कार्य रामदास ने अपने हाथ में लिया था। और उसमें रामदास सफल भी हुए। और इसी बिंदु से संत साहित्य लोकविमुख और प्रतिगामी

होकर निष्क्रियता की ओर बढ़ा। जनता के बीच उसका जो महत्त्व उभरा था, वह समाप्त हो गया। हिन्दी में भी उसका प्रभाव रीतिकाल की स्थापना के रूप में देखने के मिलता है जहां दरबारी और नायिका भेद में हिन्दी कविता उलझ कर अपनी प्रासंगिकता खो देती है।

मराठी में संतों की एक लम्बी परम्परा रही है जिसकी शुरूआत 13वीं सदी से मानी जाती है। इस काल में दो संप्रदाय प्रमुख थे। महानुभाव सम्प्रदाय तथा वारकरी संप्रदाय। इन दोनों में काफी अंतर्विरोध थे। एक दूसरे के विरोधी माने जाते थे। महानुभाव संप्रदाय ने हिन्दू धर्म की चातुर्वण्य समाज व्यवस्था का विरोध किया था। चक्रधर स्वामी 'लीला चरित्र' में अस्पृश्यता का विरोध करते हुए कहते हैं

उत्तम म्हण्जे ब्राह्मण। आन अधम म्हणजे मातंग ऐसे म्हणे।
परि तोही मनुष्य देही आन निष्पत्तिकारकची असे।
परि वृथा कल्पना करी।

लेकिन महानुभाव पंथ 'महाराष्ट्र में ज्यादा लोकप्रिय नहीं हुआ। वारकरी पंथ ने भक्ति और निष्ठा के कारण समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया, इस पंथ में अनेक संत दलित और शूद्र थे जिन्हें मंदिर प्रवेश का प्रतिबंध झेलना पड़ा। अस्पृश्य होने के कारण उन्हें अवेहलना, प्रताड़ना सहनी पड़ी। संत चोखामेला के इस अभंग में उनकी वेदना स्पष्ट सुनायी पड़ती है

हीन याती माझी देवा। कैसी घडेल तुझी सेवा।
मज दूर दूर हो म्हणती। तुज भेटु कवण्या रीति।

माझा लागतची कर। सिंतोडा घेताती करार।
माझ्या गोविन्दा गोपाला। करूणा भाकी चोखा मेला।।[35]

(हे ईश्वर तूने जाति को हीन ठहराया है, तब तेरी सेवा मैं कैसे करूं? मुझे सब दूर दूर रहने को कहते हैं। ऐसे में मैं तुझे कैसे मिलूंगा। मेरा स्पर्श होते ही सब पुनः स्नान करते हैं। हे मेरे गोविंद, गोपाल, तेरी दया की मैं भीख मांगता हूं।)

चोखामेला की इन पंक्तियों में अस्पृश्यता की भावना के प्रति कवि के मन में गहरी वेदना है। लेकिन विरोध का जो स्वर है वह दबा–दबा सा है। जन्मना जाति का हीनता बोध बहुत गहरे तक विद्यमान है जिसे नियति मान लिया गया था। क्योंकि धर्म की मान्यता थी कि पूर्व जन्म के पतित कर्मों का यह फल है जो हीन जाति में जन्म लिया। चातुर्वण्य–व्यवस्था को दोषी न मानकर स्वयं को ही ये संत कवि दोषी मान रहे थे। चोखामेला ने अनेक अभंग रचे जिनमें वे अपनी वेदना को अभिव्यक्त करते हैं।

चोखामेला के इस अभंग में जो गिड़गिड़ाहट है, शिकायती लहजा भी नहीं है, इसे आज की दलित कविता की परम्परा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि दलित कविता में जो नकार और विरोध का स्वर है वह उसकी अंतः ऊर्जा है। सामाजिक और धार्मिक प्रतिबंध इतने सख्त और कड़े थे कि एक संत को भी ईश्वर आराधना के लिए गिड़गिड़ाना पड़ रहा है। संतों ने उन तमाम धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार कर लिया था, जो अस्पृश्यों के दमन और शोषण में सहायक थी। चोखामेला का यह अभंग भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।

शुद्ध चोखामेला। करी नामाचा सोहळा।
याती हीन मी महार। पूर्वी निळाचा अवतार।

कृष्ण निंदा घडली होती। म्हाणोनी महार जन्म प्राप्ति।
चोखा म्हणे विटाळ। आम्हा पूर्वीचे फल।[36]

(शुद्ध चोखामळा। करे नाम घोष जाति हीन मैं महार, पूर्व जन्म में नील

का अवतार, कृष्ण निंदा के कारण महार बन कर जन्म लिया। चोखा कहे हुआ बहिष्कार, पूर्व जनम का यह फल।)

इस अभंग में चोखा मेला अस्पृश्य जाति में जन्म का कारण पूर्व जन्म के कर्म फल को ही स्वीकृति दे रहे हैं। उनकी अंतर्वेदना साफ दिखाई देती है। धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध उनकी रचनाओं में कोई विरोध दिखाई नहीं देता है। अपनी जाति को लेकर भी उनमें गहरा हीनता बोध झलकता है।

'महाराष्ट्र के दलितों में चोखामेला के लिए अब कम से कम रुचि रह गयी है। विद्वानों द्वारा, उनकी ओर कुछ ध्यान दिया जाता है, वह भी इसलिए कि छः शताब्दी पूर्व महारों में कुछ रचनाधर्मिता थी, जो गौरव की बात है। लेकिन पंढर पुर के लिए कोई 'दिंडी' नहीं जाती है। केवल पारंपरिक पुजारी मंदिर के द्वारा के पांव में चोखामेला की मूर्ति की ओर ध्यान देते हैं। चोखा हिन्दू परंपरा का हिस्सा है, जिसे महारों ने समतावादी बुद्ध की एवज में खारिज कर दिया हैः चोखा ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि उनका जन्म इस अस्पृश्य जाति में पूर्व जन्मों के पाप के कारण हुआ, इस विश्वास को आज महार मानने के लिए तैयार नहीं हैं।'[37]

इसके ठीक विपरीत हिन्दी संतों में विशेष रूप से रैदास और कबीर में विरोध का भाव साफ है। रैदास साफ तौर पर कहते हैं–

नागर जन मेरी जाति विखिआत चमार
मेरी जाति कुटबांढला ढोर ढोवता नितहि बानारसी आसा पासा

मेरी जाति कमीनी पाति कमीनी ओछा जनमु हमारा
कहि रैदास खलास चमारा।'[38]

कबीर भी जाति को लेकर मुखर शब्दों में विरोध करते दिखाई देते हैं। जहां रैदास में अपनी जाति को लेकर किसी भी प्रकार का हीनता

बोध नहीं है, बल्कि स्वयं अपने पेशेगत कार्य की चर्चा करते हैं वहीं यह भी दर्शाने की कोशिश करते हैं कि सामाजिक मान्यतायें क्या हैं।

इसी प्रकार कबीर साफ शब्दों में कहते हैं–

तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद्र। हम कत लोहू तुम कत दूध।
कहू कबीर जो ब्रह्म विचारै। सो ब्राह्मण कहियत हमारे।।

एक बूंद, एक मल मूत्तर, एक चाम, एक गुदा।
एक जाति थे सब उतपना, कौन ब्राह्मण, कौन सूदा।।

जो पै करता वरण विचार, तो जनमत तीनि डांडि किन सारै।
उतपति व्यंद कहां थै आया, जो घर अरू लागी माया।

नहीं को उंचा नहीं को नीचा, ज्याका प्यंड ताही का सींचा।
जो तू बामन बामनी का जाया, तो आन बाट ह्वै काहे न आया।।[39]

कबीर और रैदास दोनों ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के विरोधी रहे हैं। दोनों ने ऊंच–नीच के भेदभाव का खुलकर विरोध किया है। रैदास की इन पंक्तियों को देखें–

रैदास जन्म के कारणै होइ न कोई नीच।
नर को नीच करि डारि हैं, औछे करम की कीच।।[40]

चोखामेला के पुत्र कर्ममेला ने भी जाति के प्रश्न अपने अभंगों में उठाये हैं। लेकिन उनका लहजा भी शिकायती ही है–

आमुची केली हीन जाती। तुज का न कळे श्रीपती।

जन्म गेला उष्टे खाता। लाज न ये तुझ्या चित्ता।
आमचे घरी भात दही। खवोनी कैसी म्हणसी नाहीं।
म्हणे चोखियाचा कर्ममेळा। कास या जन्म दिला मला।[41]

(हमारी की जातिजाति तु क्यों न समझता श्रीपति। जन् गंवाया जूठन खाते क्यों न लाज तुम्हें नहीं आती। हमारे घर का दही भात, खाओ, कहते हो नहीं। कर्म मेळा कहे चोखा से क्यों मुझे जन्म दिया।)

उपरोक्त अभंग में जाति–व्यवस्था और अस्पृश्यता की भावना के विरुद्ध गहरी वेदना है। लेकिन यह विरोध में नहीं बदलती है। इसीलिए इन संतों का योगदान सीमित होकर रह गया।

भालचन्द्र फड़के कहते हैं कि, 'दलितों के साहित्य में युग–युग की चिर वेदना व्यक्त होती है, जिसका आदि रूप संत चोखोबा के अभंगों में हमें देखने को मिलता है। चोखोबा की यह वेदना व्यक्तिगत नहीं थी, वह उसके समाज की वेदना थी, जिसे अधिक तीव्र और उत्कृष्ट रूप में व्यक्त किया है, उनके शब्द–शब्द में प्रकट होने वाला दुःख अंतःकरण को विदीर्ण कर देता है।'[42]

संत तुकाराम भी इसी तरह की वेदना व्यक्त करते हैं–

शूद्र वंशी जन्मलो
महणूनि दंभे मुकलो
च्होकाया अक्षर
भजना ही अधिकार
सर्व भवे दीन
तुका म्हणे याति हीन [43]

(शूद्र वंश में जन्म लिया। इसीलिए दंभ से मुक्त हूं। शास्त्रों के शब्द उच्चारण करने का मेरा अधिकार नहीं है। सभी ओर से दीन हूं। तुका कहे मेरी जाति हीन।)

इसी कड़ी में रैदास की कुछ रचनाओं को देखा जा सकता है, जिसमें रैदास अपनी रचनाओं में ईश्वर को इतनी महत्ता देते हैं।

हरि सा साहिब छाडिकै, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाइहि सत भाषै रैदास।।

अंतर गति रांचे नहीं, बाहरि कथै उजास।
ते नर नरकहिं जाहिगे, सत भाषै रैदास।।

अब कैसे छूटे नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चन्दन, हम पानी,
जाकी अंग अंग बास समानी।
प्रभुजी तुम धन वन हम मोरा,
जैसे चितवत चंद चकोरा।।
प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती,
जाकी जोतिजारे दिन राती।।
प्रभुजी तुम मोती, हम धागा,
जैसे सोनहि मिलत सोहागा।।
प्रभुजी तुम स्वामी, हम दासा।
ऐसी भागती करे रैदासा।।[44]

मुक्तिबोध भक्तिकालीन रचनाओं को ऊंची कही जाने वाली जातियों के खिलाफ निम्न जातियों के संघर्ष के रूप में देखते हैं। लेकिन वे 'वर्ण' की जगह वर्ग की बात करते हैं। 'उच्चवर्गीयों और निम्न वर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निःसंदेह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। सिद्धों और नाथ संप्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति आंदोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना

किसी अन्य आंदोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये, अपना साहित्य और गीत सृजित किये।'[45]

मुक्तिबोध अपने निबंध 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' में एक विशिष्ट तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हैं। 'क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्ण भक्ति शाखा के अन्तर्गत रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर आते रहते हैं। किन्तु रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? जबकि एक स्वतः सिद्ध बात है कि निर्गुण शाखा के अन्तर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।'[46]

मुक्तिबोध यह भी मानते हैं कि किसी भी साहित्य का ठीक–ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उसे उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक–ठीक न जान लें।[47]

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर जो तथ्य उभकर आते हैं, वे हैं कि नाथों, संतों और सिद्धों की रचनाओं में जहां एक ओर धार्मिक रूढ़ियों, समाज–व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना दिखाई देती है, वहीं स्त्री विरोध भी मुखरता से दिखाई देता है। जहां हिन्दी संत कबीर और रैदास वर्ण–व्यवस्था और जाति–भेद का मुखरता से विरोध करते दिखाई देते हैं, वहीं मराठी संत उसे कर्मवाद, पुनर्जन्म–फल आदि जैसे विचारों से जोड़कर देखते हैं और दबे स्वर में ही विरोध करते दिखाई देते हैं। रैदास और कबीर ने धार्मिक और सामाजिक, वर्ण–व्यवस्था का खुलकर विरोध किया। लेकिन उनका 'निर्गुण' यथास्थिति को ही स्थापित करने में सफल रहा जो दलित साहित्य के लिए उर्वरक भूमि तैयार नहीं कर पाया। शायद यही वजह है कि वर्तमान दलित साहित्य और संत साहित्य के बीच छः सौ साल का शून्य दिखाई देता है। जहां यह स्वर किसी भी रूप में साहित्य में नहीं उभरा।

उपर्युक्त संदर्भों में विवेक कुमार के विचार भी यहां देखना जरूरी है। उनका कहना है, 'कबीर, रैदास, चोखा आदि भक्तिकाल के कवियों ने हिन्दू सामाजिक–व्यवस्था में दलितों के शोषण एवं उत्पीड़न की निंदा एवं जातिवाद की भर्त्सना की। इन कवियों की कृतियों को आज बहुत से साहित्यकार दलित साहित्य का उद्‌गम मानते हैं। समाज–सुधार के संदेश से भरे इन कवियों के दोहों, रचनाओं में यद्यपि 'मानव मानव एक समान' की गुहार थी, परन्तु यह हिन्दू असमान व्यवस्था के पोषकों पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल पाई। दलितोत्थान हेतु भक्ति आंदोलन की विफलता की शिनाख्त करते हुए गुप्ता लिखते हैं– 'ब्रिटिश शासन के पहले भक्ति आंदालन के संतों ने जाति–व्यवस्था, मूर्ति उपासना, हिन्दू धर्म में व्याप्त रूढ़ियों एवं सामाजिक विसंगतियों पर बहस चलाई, परन्तु वे समाज सुधार करने में सफल नहीं हुए, क्योंकि आंदोलन मुख्यतः धार्मिक परिक्षेत्र में ही समानता की बात कर रहा था, न कि धर्म–निरपेक्ष सांसारिक क्षेत्र में। भारतीय समाज में सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्गठन का कोई नवीन वैकल्पिक कार्यक्रम भी नहीं प्रस्तावित किया। ...आंदोलन ने किसी भी संस्था का गठन नहीं किया, जो सकारात्मक सामाजिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित कर सके। वास्तविकता में आंदोलन सामूहिक नहीं परन्तु निजी विरोध तक ही सीमित हो गया था।'[48]

स्वतंत्रता पूर्व के दलित कवियों की कविता

इस्लाम के बाद ब्रिटिश शासन के दौर में जो औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात भारत में हुआ, भारतीय उत्पादन में भी बदलाव के संकेत दिखाई दिये। यूरोप–अमेरिका की वैचारिक, सामाजिक, धार्मिक मान्यतायें भी साथ में आयी, जिसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा और आधुनिक साहित्य का उद्‌भव हुआ। आरंभिक दौर में हिन्दी में आध्यात्मिक, पारलौकिक, धार्मिक विषयों के साथ सामाजिक विषय भी शब्दबद्ध हुए।

'लेकिन जो पहले सामंतवादी, ब्राह्मणवादी गठजोड़ से निर्मित' धर्म–दण्ड' सत्ता' के समाज में अग्रिम पंक्ति में थे, अर्थसत्ता, धर्मसत्ता, दंडसत्ता उनके ही हाथ में थी, वे ही उच्चवर्णीय अपने पारिवारिक प्रश्न लेकर सामाजिक आंदोलन में जैसे पहले थे, वैसे ही लेखन, कवि के रूप में आते गये। मंचों पर सभागोष्ठियों में उनके पारिवारिक प्रश्न चर्चा में बने रहे। इस चर्चा में हिन्दू धर्म की समीक्षा होती रही। सैकड़ों साल से यह समीक्षा हो रही है। इसमें यदि सुधार की कोई संभावनायें पैदा होती तो निःसंदेह मानसिक प्रगति जरूर होती। लेकिन साहित्य की इस मुख्यधारा में कलावादी, सौंदर्यवादी, यथास्थितिवादियों का वर्चस्व बना रहा है। इसीलिए दुःख, दारिद्रय, दासता, विषमता, भेदभाव, सामाजिक विद्वेष, उनकी शब्द सामर्थ्य की अभिव्यक्ति से बाहर होता ही रहा। यह मुख्यधारा अपने यथार्थ में दलित, स्त्री के लिए कोई सहानुभूति, संवेदनशीलता नहीं दिखा पाई। उनके जीवन के प्रति संवेदनात्मक अभिव्यक्ति से परहेज किया गया। इसीलिए दलित और स्त्री उनके लिए अपवित्र ही बने रहे। पांव की जूती या फिर जन्मना असभ्य, असंस्कृत।'[49]

'साहित्य में उन्नीस सौ से उन्नीस सौ अठारह तक का काल जागरण सुधार काल माना जाता है। पर इस काल के कवि न दलित रचनाशीलता से परिचित नजर आते हैं और न उनकी कविता में दलित प्रश्न दिखाई पड़ते हैं। बेहद आश्चर्य होता है कि इन कवियों की भूमिका नगण्य है जबकि इसी कालखण्ड में हीरा डोम महत्त्वपूर्ण दलित प्रश्न उठा रहे थे और अछूतानंद की कविताएं दलितों में नवजागरण कर रही थी।'[50]

हो गृहहीन फिर मैं वन–वन, फिर जब बस्ती में आया।
कह 'अछूत दूर–दूर हट' जालिम, तूने मुझको ठुकराया।
कड़े–कड़े कानून बनाए, बस्ती बाहर ठौर दिया।
बदल गया अब सब कुछ भाई! पर तेरा बदला न हिया।।[51]

अछूतानंद 'आदि–हिन्दू' आंदोलन के प्रवर्तक थे। उन्हीं दिनों पंजाब में भी मंगूरामजी का आंदोलन 'आदि–धर्म' नाम से चल रहा था। इन दोनों आंदोलनों की सबसे बड़ी देन रही है दलित जातियों को एकजुट करना जिनका प्रभाव समाज में दिखाई दिया। उत्तर भारत के राजनीतिक और सामाजिक संदर्भों में इनकी भूमिका उल्लेखनीय रही है। लेकिन साहित्यिक स्तर पर इनका ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा।

'असंख्य अवतार हुए, संत आये, परन्तु शूद्र, अतिशूद्र व स्त्रियों के दुःख किसी को दिखायी नहीं दिये। देव, संत और धर्म, जब गरीब, कमजोर लोगों के प्रति शत्रुता और तुच्छता भाव प्रकट करते हैं, तब हिन्दू पौराणिकता और संस्कारों में शूद्रों के प्रति कैसे विचार होंगे? यानी समाज के मन में कहां जगह होगी? हिन्दू वर्ण–व्यवस्था में करुणा, प्रेम, भ्रातृत्व नहीं होने के कारण शूद्र, अतिशूद्र के लिए समाज और साहित्य में स्थान नहीं था, उनके उद्धार के लिए कोई रास्ता किसी ने नहीं सोचा। किसी ने उनके बीच जाकर उन्हें स्वीकार नहीं किया।'[52]

पटना के हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' 'सरस्वती' पत्रिका के सितम्बर 1914 के अंक में छपी थी। यह कविता भोजपुरी में लिखी गई है। कवि की यही एक मात्र कविता है। इसके अलावा कवि हीरा डोम के विषय में कोई जानकारी भी उपलब्ध नहीं हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, हीरा डोम का जन्म काल सन् 1885–1886 के आसपास मानते हैं। हीरा डोम ने लिखा है– 'कहवां सुतल बाढ़े सुनत न बाटे अब। डोम जानि हमनि के छुए से डेरइले। इसका अर्थ बिल्कुल साफ है कि हीरा डोम वस्तुतः डोम थे।[53]

'उनकी यह कविता 'अछूत की शिकायत' अपने संरचना – शिल्प के कारण याद की जाएगी। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह हीरा डोम की पहली रचना नहीं रही होगी। भाव, संरचना – शिल्म और प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह कविता अत्यंत बेजोड़ है। इसलिए कहा जा सकता है कि यह कविता किसी सधे हुए हाथों की

रचना है और हाथ तभी सधते हैं, जब कोई रचनाकार इसका पूर्वाभ्यास करता है। कहना न होगा कि 'अछूत की शिकायत' के पहले और बाद में भी हीरा डोम ने अपनी कई रचनाएं प्रस्तुत की होगी। परन्तु समय के साथ–साथ उनकी सभी रचनाएं इतिहास के नीचे दफन हो गई। यदि 'अछूत की शिकायत' भी 'सरस्वती' जैसी तथाकथित प्रतिष्ठित पत्रिका में नहीं प्रकाशित होती तो यह भी इतिहास के नीचे दफन हो जाती।'[54]

सन् 1914 में 'सरस्वती' में छपी कविता का मूल पाठ प्रस्तुत है–

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि
हमनी के दुख भगवनवों न देखता जे
हमनी के कब ले कलेसवा उठा इबि
पदरी सहेब के कचहरी में जाइबि जा
बेधरम होके रंगरेज बनी जाइबि
हाय राम! धरम न छोड त बंता बाजे
बेधरम होके कइसे मुंहवा देखाइबि।।1।।

खंभवा के फार पहलाद के बंचवले जे
ग्राह के मुंह से गजराज के बंचवले
धोती जुरजोधना के भइया छोरत रहे
परगट होके तहां कपड़ा बढवले
मरले रबनवा के पतले भभिखना के
कानी अंगुरीपे ढके पथरा उठवले
कहवां सुतल बाटे सुनत न बाटे अब
डोम जानि हमनी के छुऐ से डेरइले।।2।।

हमनी के राति दिन मेहनत करीले जा
दुइयां रूपयवा दरमहा में पाइबि

ठकुरे जे सुख से त घर में सुतल बानी
हमनी के जोति–जोति खेतियां कमाइबि
हकिमें के लसकरि उतरल बानी जे
त अइयो बेगरिया में पकरल जाइबि
मुंह वान्हि ऐसन नोकरिया करत बानी जे
ई कुलि खबरि सरकार के सुनाइबि।।3।।

बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबा जा
ठकुरे के लेखे नहिं लउरी चलाइबि
सहुआ के लेखे नहिं डांडी हम मारब जा
अहिरा के लेखे नहीं गड्या चोराइबि
भंटऊके लेखे न कवित हम जोरब जा
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि
अपना पसीनावा के पइसा कमाइबि जा
घर भर मिली–जुली बांटी खाइबि।।4।।

हड़बा मसुइया के देहियां हमनी के
ओकरे के देही बमनओ के बानी
ओकरा के घरे–घरे पुजवा होखतबा जे
सारे झलकवा भड़ले जजमानी
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जा
पांके में से भरी–भरी पिअ तानी पानी
पनही से पिटी–पिटी हाथ गोड तुडि दे लें
हमनी के एतनी काही हलकानी।।5।।

हीरा डोम की इस कविता का स्वर शिकायती है जिसके बारे में मैनेजर पाण्डेय का कहना है। ''इसमें हिन्दू समाज की जाति–व्यवस्था के भीतर दलितों की यातना की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति है। पूरी कविता में

जाति–व्यवस्था तथा उसकी परिणितियों के बारे में तरह–तरह के सवाल पूछ गए हैं। हिन्दू समाज की जाति–व्यवस्था का प्रसार संस्कृति और धर्म में भी दिखाई देता है। इसलिए यहां ईश्वर भी सवर्ण ही होता है। इसीलिए हीरा डोम कहते हैं कि 'हमनि के दुख भगवनवो न देखता जे।' क्योंकि संभव है कि सवर्ण भगवान 'डोम जानि हमनी के छुए से डेर इले'।[55]

पदरी सहेब के कचरी में जाइबिजां,
बेधर्म होके रन्ग्रेज बनि जाइबि
हाय राम, धरम न छोडत बनत बाजे
बेधर्म होके कैसे मुंहवा देखाइबि

इन पंक्तियों में हीरा डोम उस धर्म से जुड़े रहने में अपनी प्रतिष्ठा मान रहे हैं, जहां उन्हें इन्सानी दर्जा भी नहीं मिला। जबकि वे स्वयं ही कह रहे हैं–

हमनी के रात दिन दुखवा भोगत बानी
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाईबि
हमनी के दुख भगनओं न देख ता जे
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि

यानी इतनी तकलीफों, यातनाओं और दुर्दशा के बाद भी कवि उस धर्म से बाहर आने में शर्म महसूस कर रहा है। यानी कवि में चेतना की कमी है। इसीलिए यह कविता दलित चेतना की कविता नहीं है, यह मान लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। जबकि वे स्वयं महसूस कर रहे हैं कि इस धर्म में उनके लिए कोई भी मानवीय अधिकार नहीं है फिर भी उसे त्यागने और उससे मुक्ति का कोई विकल्प उनके पास नहीं हैं। उनकी इस कविता की अंतिम पंक्तियां शोषण

और दमन की पराकाष्ठा का बयान बन जाती हैं–

हडवा मसुइया कै देहियां है हमनी कै
ओकरै के देहियां बभनों कै बानीं
ओकरा कै घरे–घरे पुजवा होखत बाजे
सगरै इलकवा भैलै जजमानी
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जां
पांके में से भरि–भरि पिअतानी पानी
पनहीं से पिटि–पिटि हाथ गोड तुरि दैलें
हमनी के इतनी काही के हलकानी।

जो हाड–मांस की देह हम मेहनत करने वाले लोगों की है, वही हाड–मांस की देह ब्राह्मणों की भी है, फिर वे क्यों उच्च माने जाते हैं? उनकी घर–घर पूजा क्यों हो रही है और सारा इलाका उनकी जजमानी में है? और क्यों हमारी यह स्थिति है कि हमें कुएं के पास तक नहीं जाने दिया जाता हैं। हमें कीचड़ में से पानी लेकर पीना पड़ता है। जूते से पीट–पीट कर हमारे हाथ–पैर तोड़ दिए जाते हैं। हमें क्यों इतना कष्ट दिया जाता है।

हीरा डोम की इस कविता में आज की कविता वाला तेवर नहीं है। शिकायती लहजे में प्रश्न जरूर उठाये गये हैं। लेकिन एक सीमा के भीतर रहते हुए। लेकिन आधुनिक दलित कवियों द्वारा उठाये गये सवालों में जो आक्रोश दिखाई देता है, उसकी कमी वहां दिखाई देती है। तमाम दुख सहते हुए भी उसी धर्म से चिपके रहने की कौन–सी मजबूरी थी हीरा डोम जैसे जागरूक कवि के लिए? शायद धार्मिक संस्कार जो उन्हें मिले वही रोक रहे थे जबकि दलित चेतना से संपन्न कवि पूरे आक्रोश के साथ आज की दलित कविता में प्रश्न उठाता है–

विफलता की कालिख में वह

झंझोरती थी खुद के ही बाल
नियमित जहर पीकर मैं बेचैन अख्तर
कांपती हुई नाभी में उंगली घुसेड
उसके जख्मों मे भड़भड़ा उलटता काला रक्त
''ऐ मां बता मेरा धरम। कौन हूं मैं? क्या हूं मैं?[56]

हीरा डोम की यह कविता हिन्दू समाज में व्याप्त जाति–प्रथा पर सीधे चोट करती है। समाज का एक तबका आराम से बैठकर खा रहा है और दूसरा तबका काफी श्रम करने के बावजूद भी दाने–दाने के लिए मोहताज है। कवि हीरा डोम ने अपने अछूत जीवन की सम्पूर्ण वेदना को इस कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं– 'हम लोग रात दिन कष्ट भोग रहे हैं। और यह विनती अपने साहब को सुनाना है। कारण कि हम लोगों का दुःख ईश्वर भी नहीं देख रहा है। तब आखिर हम लोग कब तक यह कष्ट भोगते रहेंगे। मेरा मन तो यह कहता है कि पादरी साहब की कचहरी में उपस्थित होकर अपना धर्म परिवर्तन कर लें। परन्तु दूसरा मन धर्म परिवर्तन से रोकता है कि आखिर तुम ऐसा करके बेधर्म होकर समाज के समक्ष कैसे मुंह दिखाओगे? दूसरे छंद में कवि पौराणिक प्रसंगों को याद करता है और कहता है कि तुमने कभी खम्बे को फाड़कर भक्त प्रहलाद की जान बचाई है, और कभी ग्राह के मुंह से गजराज की रक्षा की है। इतना ही नहीं, तुमने तो चीर हरण के वक्त दुर्योधन के खिलाफ द्रौपदी की रक्षा भी की है। तुम्हारे रक्षात्मक कार्यों की एक लम्बी सूची है। तुमने रावण को मारकर विभीषण का पालन किया है। कृष्णावतार में तुमने अपनी उंगली पर गोवर्धन पर्वत उठाया है। पर मेरी विपत्ति के समय तुम कहां सो गए हो कि सुनते ही नहीं हो। क्या तुम मुझे डोम समझ कर छूने से डर रहे हो? तीसरे छंद में कवि ने अपने कठोर श्रम का वर्णन किया है। जिसके बदले में दो रूपया प्रतिमाह वेतन है। भूस्वामी सुख से अपने घर में सोए रहते हैं। और हम लोग खेत जोत–जोत

कर कमाते हैं। हाकिम की जब फौज आती है, तब वह भी बेगार करवाती है। हम तो एक सफाईकर्मी हैं, जो मुंह बांध कर अपनी सेवा देते हैं। सफाईकर्मी अपना मुंह बांध कर सफाई किया करते हैं, ताकि गंदगी की दुर्गंध और कीड़ों से बचा जा सके। (इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हीरा डोम सफाईकर्मी ही थे।) मुझे यह खबरें सरकार को सुनानी हैं। हम तो ब्राह्मणों की तरह भीख नहीं मांग सकते हैं। हम तो क्षत्रियों की तरह लाठी भी नहीं चला सकते हैं। हम तो साहुओं की तरह डंडी भी नहीं मार सकते हैं। हम तो अहीरों जैसे गाय भी नहीं चुरा सकते हैं। हम तो भाटों की तरह मनगढ़त प्रशस्तिमूलक कविताएं भी नहीं रच सकते हैं। हम तो पगड़ी बांधकर कचहरी में भी नहीं जा सकते हैं। ये सभी कर्म हम लोगों की आत्मा के खिलाफ हैं। और समाज इसकी छूट भी हमें नहीं देता है। हम लोग तो सिर्फ पसीना बहाकर कमाने वाले जीव हैं। पुनः उस पसीने की कमाई हम लोग आपस में बांट कर खाते हैं। अंतिम छंद में हीरा डोम ने जातिगत आधार पर ऊंच नीच की बात को तार्किक ढंग से खारिज किया है कि शूद्र और ब्राह्मण दोनों का शरीर एक जैसे हाडमांस से बना हुआ है। पर ब्राह्मणों की पूजा क्यों घर–घर में की जाती है? यहां तक कि उसकी यजमानी पूरे इलाके में चलती है। दूसरी तरफ उसी हाडमांस से बने डोमों को क्यों कुएं के पास पानी भरने नहीं जाने दिया जाता? हम लोग तो कीचड़ से पानी निकाल कर पीने के लिए विवश है। इतना ही नहीं, यदि हम लोगों से किसी सवर्ण की चीजें छूने से नापाक हो जाती हैं, जो हमें जूतों से पीटा जाता है। आखिर हम लोगों को इतना परेशान क्यों किया जाता है?[57]

श्यौराज सिंह बेचैन का भी मानना है, 'यह विचारणीय प्रश्न है कि हीरा डोम भगवान को चुनौती देते हैं, जबकि अछूतानन्द ईश्वरवादी हैं और मुक्ति के लिए ईश्वर से अपीलें कराते हैं, पर, एक अछूत का ईश्वर सछूत जैसा होगा, यह नहीं कहा जा सकता है। निसंदेह यह उस दलित चेतना का प्रभाव ही है, जिसे कबीर–रैदास आदि संतों ने

स्थापित किया था। उपरोक्त के सिवाय स्वामी अछूतानन्द की अन्य रचनाएं भी उपलब्ध हैं। 'आदि हिन्दू आल्हा', 'मायानन्द बलिदान', 'आदिवंश का डंका', इत्यादि उनकी काव्य रचनाएं दलित वर्ग में पढ़ी जाती हैं। वे सभी संगीत शैली की रचनाएं हैं। हीरा डोम की कविता भी इसी लोक गीत शैली में हैं। ध्यान रहे कि इनके साहित्य और दलित साहित्य में संगीत और कविता दो भिन्न चीजें नहीं हैं। स्वामीजी की अन्य काव्य रचनाएं भी इतिहास बोध और चिंतन की अभिव्यक्तियां है। जबकि हीरा डोम की एक मात्र उपलब्ध रचना 'अछूत की शिकायत' लोक शैली की रचना होकर भी एक सशक्त दलित कविता के सभी गुणों से भरी–पूरी है। उसमें एक अछूत की सदियों संताप की आत्मकथा सन्निहित है, जो एक धधकती आग के समान है, जो समाज को बदलने की ऊष्मा भरती है। निःसंदेह दलित चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति के लिए स्वामी अछूतानन्द या हीरा डोम में से किसी एक को प्रथम कवि का स्थान नहीं दिया जा सकता । किन्तु काल की दृष्टि से हीरा डोम का स्थान स्वामीजी से परवर्ती ठहरता है।'[58]

मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं, 'हीरा डोम को पहला दलित कवि माना जाता है। भोजपुरी भाषा में एक गीत सरस्वती (सितंबर, 1914) पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। हीरा डोम के इस गीत में निःसंदेह अछूत जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति है।[59]

कंवल भारती 'हीरा डोम' पर अपनी टिप्पणी में कहते हैं, 'दलित कविता के प्रतिमानों' की दृष्टि से यह गीत वास्तव में सशक्त है। संभवतः 1914 के काल में भगवान की सत्ता को ऐसी चुनौती किसी कवि ने नहीं दी थी। हीरा डोम ने अछूतों की पीड़ा और अस्मिता के संदर्भ से जिस तरह ईश्वर की दयालु और रक्षक छवि को तोड़ा है, वह ईश्वर की महिमा गाने वाले पौराणिक आख्यानों की प्रमाणिकता पर ही प्रश्न चिन्ह नहीं लगाता है, वरन ईश्वर की सत्ता का भी खण्डन करता है।'[60]

यहां अछूतानन्द की कविता पर हम किसी निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करते हैं, तो दो मुख्य बिन्दुओं पर ध्यान जाता है– एक–वे 'आदि हिन्दू' धर्म पर जोर देते हैं, दूसरे वे ईश्वरवादी है। श्यौराज सिंह बेचैन की जो मान्यता बनी है, उसमें एक विरोधाभास दिखाई देता है। आज के दलित साहित्य की जो अवधारणा स्थापित हो चुकी है वह ईश्वरवाद, पुनर्जन्म, आत्मा–परमात्मा आदि में विश्वास नहीं करता है। इसीलिए अछूतानन्द की रचनात्मक वैचारिकता आज के दलित साहित्य से अलग परंपरा की ओर ले जाती है, जो कबीर–रैदास संतों से तो जुड़ती है, लेकिन आधुनिक दलित साहित्य, जो कि 1958 के बाद उभरा है, उसमें वैचारिक स्तर पर मेल नहीं खाती है। इसीलिए दलित कविता के प्रथम कवि का निर्धारण करने से पूर्व इन तथ्यों को भी सामने रख कर ही किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। क्योंकि जो विचार डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष से उपजे हैं, और उनसे ही ऊर्जा लेकर दलित साहित्य परिदृश्य पर उभरा है, वहां स्वामी अछूतानन्द की वैचारिकता दलित साहित्य को आगे ले जाने के बजाए उल्टी दिशा की ओर मोड़ती है। जिसमें सामाजिक उद्‌बोधन तो है, लेकिन दलित चेतना जो डॉ. अम्बेडकर से दलित समाज को मिली है, उसका अभाव दिखाई देता है।

यही स्थिति बिहारी लाल हरित जी की भी है। वे भी परंपरावादी रुझान के कवि हैं। वे हिन्दू समाज में सुधार की अपेक्षा करते हैं। हिन्दू विचारधारा पर उन्होंने अधिक लिखा है। उनके लेखन पर फुले, अम्बेडकर के समाज परिवर्तनकारी विचारों का असर कम ही पड़ा है। 'भीमायण' जैसा महाकाव्य भी परंपरागत रुझान से ही लिखा गया है। आज के दलित कवियों के जैसे विद्रोही स्वर उनमें दिखाई नहीं पड़ते हैं। बल्कि कंवल भारती के शब्दों में कहें तो 'एक ओर कवि के धार्मिक मन पर कर्मवाद और अवतारवाद का गहरा संस्कार था, तो दूसरे ओर कांग्रेस की वैचारिकी उनकी चेतना बन चुकी थी। इसी समय डॉ. अम्बेडकर एक बार फिर उनकी स्मृति में आए। लेकिन इस बदलाव में

उनके लिए शंबूक 'हरिजन' था और रविदास ने डॉ. अम्बेडकर के रूप मे अवतार ले लिया था।'[61]

अछूतानन्द हरिहर ने अपना प्रारंभिक जीवन आर्य समाज के रूप में शुरू किया था। लेकिन 1912 में आर्य समाज छोड़कर उन्होंने 'अखिल भारतीय अछूत महासभा' की स्थापना की। सन् 1922 में एक बड़ा अछूत जाटव सम्मेलन किया जिसमें अछूतों के लिए 'आदि हिन्दू' शब्द की घोषणा की और उनका पूरा ध्यान इस 'आदि हिन्दू' पर लग गया। उनकी कविताओं का संकलन भी इसी शब्द के साथ जुड़ा हुआ है– 'आदिवंश का डंका' जिसमें 21 कविताएं हैं। उनकी कविताओं में आवाहन की उद्घोषणा दिखाई देती है–

सभ्य सबसे हिन्द के प्राचीन हकदार हम
था बनाया शूद्र हमको, थे कभी सरदार हम
अब नहीं है वह जमाना, जुल्म 'हरिहर' मत सहो
तोड दो जंजीर जकड़े क्यों गुलामी में रहो[62]

गीत, गजल, भजन, रसिया, जैसी विधाओं में उनकी रचनायें उपलब्ध हैं। शोषण और दमन पर भी उनकी कविताएं उस काल खण्ड में अपना प्रभाव छोड़ रही थी।

हमको बिना मजूरी, बैलों के साथ जोतें
गाली व मार उस पर हमको दिला रही
लेते बेगार, खाना तक पेटभर न देते
बच्चे तड़पते भूखों, क्या जुल्म ढा रही।[63]

अछूतानन्द 'हरिहर' की एक बेहद लोकप्रिय रचना है, जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी अपने समय में थी। यह कविता गांधीजी को संबोधित करके लिखी गयी थी। इस कविता के कुछ अंश–

कियौ हरिजन– पद हमै प्रदान।
अंत्यज, पतित, बहिष्कृत, पादज, पंचम, शूद्र महान।
संकर बरन और वर्णाधम पद अछूत–उपनाम।
थे पद रचे बहुत ऋषियन ने हमरे हित धरि ध्यान।
फिर 'हरिजन' पद दियौ हमें क्यों हे गांधी भगवान।

हरिजन, हरिदासी, देवदासी, रामजनी–समभाव।
वेश्या–सुत सब जानत सब जन, वैसोई है सनमान।
हम हरिजन तौ तुमहू हरिजन, कस न कहौ श्रीमान।
कि तुम हो उनके जन, जिन को जगत कहत शैतान।
हम निसर्ग से भारत–स्वामि, यहू हमरो उद्यान।
'हरिजन' कहि 'हरिहर' हमरौ तुम, काहे करत अपमान। [64]

जहां अछूतानन्द ने दलितों में स्वाभिमान और स्वतंत्रता की भावना जगाई थी, वहीं जीवन से प्रेरित जन्मना दलित कवि स्वर्ग, नरक, पूजा–पाठ, हवन, आर्य समाजी परंपराओं से बाहर नहीं आ पाये। मौजी लाल मौर्य, शंकरानंद आदि ऐसे ही रचनाकार थे। अछूतानन्द 'हरिहर' की परंपरा प्रभावहीन होकर रह गई। लेकिन केवलानंद जैसे कवियों ने इस परंपरा का निर्वाह करने का किसी हद तक काम किया। केवलानंद, जिसने वर्ण–व्यस्था के विरोध में कविता लिखी। उनकी एक कविता का अंश देखें–

ब्राह्मण कहते मुख से पैदा मुख फार फिर आये क्यों ना?
क्षत्री कहते भुजा से पैदा भुजा फार फिर आये क्यों ना।
बनिया कहते उदर से पैदा टूंडी में भिल्ल बनाये क्यों ना।
चारो वर्न भग द्वारे ही आये कहने में शरमाये क्यों ना।[65]

कंवल भारती लिखते हैं कि – 'हिन्दी में दलित कविता की धारा

लगभग तभी से मौजूद है, जब से भद्र कविता की धारा चली। किन्तु, दोनों की भाव–भूमि अलग–अलग रही। दोनों समानांतर चली और दोनों का ही विकास हुआ। दलित कविता के केन्द्र में सदैव दलित और शोषित पर आधारित व्यवस्था रही। वह भूखे–नंगे, अछूत और पीड़ित जनता की कविता थी। इसलिए समाज और संसार से वह हमेशा जुड़ी रही।'[66]

बिहारी लाल हरित की कविताओं में भी दलित पीड़ा का रूप दिखाई देता है–

करके खुदी को दूर खुद मजबूत बन के देख।
दो चार दिन के वास्ते अछूत बन के देख।
सिर पर जरा रख टोकरा मैले का टपकता।
गन्दगी में बढ़ जरा मल मूत बन के देख।[67]

फकीर चंद नाहर की एक कविता देखिए। इस कविता में कवि अछूतों के हिन्दूकरण किये जाने का विरोध करता है–

रहने दो हमें अछूत, हिन्दू हमें बनाव न।
कुंवे से हमें निकालो न, खाई में गिराव न।[68]

उस कालखण्ड में एक और राजनीतिक और साहित्यिक परिदृश्य पर गांधी जी का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। स्वाधीनता आंदोलन के साथ उनके हरिजन उद्धार कार्यक्रमों पर हिन्दी कवि अपनी लेखनी चला रहे थे। लेकिन उसी दौर में डॉ. अम्बेडकर ने गोलमेज सम्मेलन और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप गांधीजी की भूख हड़ताल, गांधीजी और अम्बेडकर के बीच उठे विवाद का समापन पूना–पैक्ट के नाम से जाना गया। अम्बेडकर ने जो दलित–मुक्ति के सवाल उठाये उसने न सिर्फ राजनीतिक परिदृश्य को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि साहित्य को

भी प्रभावित किया। दलितों के सार्वजनिक जल स्रोत से पानी लेने के अधिकार के लिए डॉ. अम्बेडकर का 'महाड तालाब' एक ऐतिहासिक घटना थी। 1925 से लेकर 1935 तक के कालखण्ड मे राष्ट्रीय आंदोलन के साथ–साथ डॉ. अम्बेडकर के दलित–मुक्ति आंदोलन ने व्यापक संघर्ष का रूप ले लिया था जिससे प्रभावित होकर प्रेमचंद जैसे हिन्दी के महान कथाकार ने 'ठाकुर का कुआं', 'मन्दिर' जैसी महत्त्वपूर्ण कहानियां लिखी। इस आंदोलन से दलित रचनाकार भी मुखर हुए और अनेक कवि सामने आये।

सत्यमित्र 'विद्यालंकार' कविता में अतीत और धर्म के विरुद्ध अपनी आवाज उठा रहे थे। उनकी एक कविता का अंश देखें–

टिकट न दें पोप स्वर्ग का, नरक हम चले जायेंगे।
पर अपनी गाढ़ी पूंजी गैरों को नहीं खिलायेंगे।
मंदिर रक्खें बन्द किसी महमूद गजनवी की खातिर–
निज रक्षा जो कर न सके, किस काम हमारे आयेंगे?
सड़ा–गला अपना न 'सनातन–धर्म' भले ही वे छोड़ें
पर मानव होकर मानव के स्वत्वों को हरना छोड़ें।[69]

यह वह समय था जब पूरे देश में जाति–विरोधी आंदोलन समाज–व्यवस्था पर प्रहार कर रहे थे। इस बड़े जाति विरोधी आंदोलन के मुख्य नायक ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर और ई.वी. रामास्वामी पेरियार थे। सारे भारत में इनके अतिरिक्त केरल में नारायण स्वामी गुरु, उत्तर प्रदेश में अछूतानन्द, पंजाब में मंगूराम हर स्तर पर सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से कई लोग शोषण की व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे।

अंग्रेजी शासनकाल में सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण एक नई चेतना का प्रार्दुभाव हुआ। चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था के विरोध का स्वर तेज होने लगा। सन् 1818 से सन् 1860 के वर्षों में महाराष्ट्र में

इस दिशा में अनेक प्रयास हुए। 'हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की इस महाभंयकर प्रथा के बीज कहां हैं, इसकी खोज के प्रयत्न कुछ समाज सुधारकों और प्रगतिशील सोच के विचारकों द्वारा किया गया। 'दर्पण' नाम से प्रसिद्ध होने वाली बालशास्त्री जांभेकर द्वारा संपादित पत्रिका के प्रथम अंक (16 मार्च 1932) में यह चर्चा शुरू हुई कि सम्पूर्ण मानव जाति एक होते हुए भी उनमें जाति के नाम पर भेद क्यों है? 'प्रभाकर' नाम की पत्रिका में एक नेटिव ने यह प्रश्न उठाया था कि अगर अंग्रेज अस्पृश्यों को अपने घर में नौकर रख सकते हैं और छुआछूत न मानकर वे उन्हें स्पर्श करते हैं तो सवर्ण हिन्दुओं को ही अस्पृश्यों से नफरत क्यों है?'[70]

पत्रिकाओं के साथ–साथ, महाराष्ट्र में सामाजिक प्रबोधन के कार्यों में अनेक विद्वान, समाज सेवी, लेखक जुट गये थे। ज्योतिबा फुले के प्रयत्नों से महाराष्ट्र में शिक्षा के अवसर दलितों को मिलने लगे थे। उनमें आत्मसम्मान की भावना का निर्माण होने लगा था। सत्यशोधक आन्दोलन से प्रभावित होकर गोपाल बुवा कृष्ण बलंगकर ने 1896 में 'अनार्य दोष परिहार' नाम की संस्था बनायी थी। साथ ही 'विटाल विध्वसंक' (अस्पृश्यता विध्वंसक) नाम की पत्रिका का प्रकाशन भी शुरू किया था। शिवराम जानबा कांबले की पत्रिका 'सोमवंशी मित्र' ने भी अपने स्तर पर महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्माण किया था। ये तमाम आन्दोलन मराठी दलित कविता और दलित साहित्य की पूर्वपीठिका बने।

हिन्दी में ऐसे अनेक कवि आजादी के बाद परिदृश्य पर उभरे जो जन्मना दलित थे, लेकिन वे स्वयं को डॉ. अम्बेडकर के जीवन–संघर्ष और जीवन–दर्शन से जोड़ने में असमर्थ रहे। महाशय रूपचंन्द, आर्य समाज से प्रभावित थे और उन्हीं आदर्शों की कविताएं लिख रहे थे।

कंवल भारती का भी कहना है– 'हिन्दुत्व से विद्रोह और सांस्कृतिक मूल्यांकन का युग अभी दलित कविता में शुरू नहीं हुआ था। दलित (जन्मना) कवि आर्य समाज और गांधीवाद से प्रभावित थे।

इसीलिए ईश्वरवाद की हिन्दूवादी अवधारणाओं में उनकी आस्था थी। वेद पुराण में भी उनकी श्रद्धा थी।[71]

ऐसे और भी अनेक कवि हिन्दी में सृजनरत रहे हैं जो जन्मना तो दलित हैं लेकिन उनकी रचनाओं में गांधीवाद, आर्यसमाजी प्रभाव, सांस्कृतिक गुलामी, हिन्दूवादी नायकों का प्रशस्तिगान आदि तत्वों की भरमार थी। ऐसे ही कवि थे बिहारी लाल हरित जी जो अपने समय के चर्चित कवि हैं। हिन्दी में दलित चेतना के उभार से वे भी प्रभावित दिखाई देते हैं, लेकिन यह उनका केन्द्रीय भाव नहीं था। उनकी कविता 'करके खुदीको,,,' में यह भाव देखा जा सकता है। लेकिन उनका ज्यादा कवि कर्म गांधीवाद, हिन्दू नायकों के इर्द ही रहा है। उनमें राजनीतिक नायक भी रहे हैं। इसीलिए उन्हें दलित कवि कहना उचित नहीं लगता।

सत्तर के दशक में हिन्दी में एक ऐसा दौर आया जब डॉ. अम्बेडकर की प्रशस्ति में अनेक कविता– संग्रह प्रकाशित हुए– 'नई चेतना नये राग', 'भीम वन्दना', 'भीम कीर्तन', 'भगवान अम्बेडकर', 'ललकार', 'भीम चरित मानस', आदि जिनका लोक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जिनके द्वारा डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा को ग्रामीण जनता तक पहुंचने में मदद मिली। इसीलिए एक विशेष कालखण्ड में इन कविताओं की अपनी भूमिका रही है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से उनकी प्रस्तुति एवं अभिव्यक्ति भावात्मक थी। साथ ही इन पर हिन्दुत्ववादी आध्यात्मिक शैली का भी प्रभाव था, जिसमें डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष के प्रति दलित कृतज्ञता भाव प्रदर्शित कर रहा था, और दलितों को एकजुट होने के लिए भी प्रेरित कर रहा था।

कंवल भारती लिखते हैं– 'डॉ. अम्बेडकर ऐसे व्यक्ति थे जो अछूत जाति में जन्मे थे। और अछूतों के उद्धार के लिए कृत–संकल्प थे। उन्होंने अछूत बना दी गयी जातियों की मुक्ति की लड़ाई लड़ी जो भारत के ज्ञात इतिहास में किसी हिन्दू ने नहीं लड़ी थी। इसीलिए

उनका जो महत्त्व दलितों के लिए था, वह अन्य लोगों के लिए सचमुच नहीं हो सकता था। उनके प्रति जो कृतज्ञता दलित दिखा सकता था, वैसी कृतज्ञता कोई गैर दलित नहीं दिखा सकता था। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में डॉ. अम्बेडकर के सम्बन्ध में किसी द्विज लेखक की कोई रचना नहीं मिलती है। जबकि गांधीजी की प्रशंसा में उन्होंने कविताओं से लेकर महाकाव्य तक और कहानियों से लेकर उपन्यास तक लिख डाले। अतः वे दलित कवि ही थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं में डॉ. अम्बेडकर को जीवित रखा।[72]

ऐसे प्रमुख कवि हैं– कंवल भारती, लालचन्द 'राही', शंकरानंद, रणजीत सिंह, मोती लाल संत, मनोहरलाल 'प्रेमी', अनेग सिंह दास, गोकरन लाल 'करूणाकरण', अमर सिंह राही, नत्थू सिंह पथिक, बुद्ध संघ प्रेमी , लक्ष्मी नारायण सुधाकर, आदि।

मराठी साहित्य में भी आलोचकों ने केशव सुत की 'अन्त्यज के पूत्र का पहला प्रश्न' (1988) को दलित कविता के रूप में मान्यता देने की मुहिम चलायी थी। इस कविता में मां बेटे के बीच एक लम्बा संवाद है। बेटा मां से प्रश्न करता है–

जरी त्यावरी सावली माझी गेली
तरी काय बाधा असे ठेव ले ली
मां उत्तर देती है–
आम्ही नीच बा, आणि ते लोक थोर
त्या पाहता होइ ने नित्य दूर।[73]

(अगर उस पर छाया मेरी पड़ी है, तो इससे कौन सी विपदा खड़ी हुई। उस पर मां अपनी स्थिति का लाचारी के साथ बयान करती हुई कहती है– बेटा! हम हैं नीच, वे लोग ऊंचे हैं। उन्हें देखते ही नित्य हो जाओ दूर।)

मराठी दलित कविता के सुविख्यात कवि यशवंत मनोहर ने

'केशव सुत' (केशव सुत आधुनिक मराठी कविता के कुलगुरु) शीर्षक से कविता लिखी थी–

धधकती जंगल की आग की तरह
तूने झगड़ा मोल लिया यहां के अंधेरे के साथ
जो हाथ आया उसे दे मार कर
उसकी मग्रूरी को तून तड़पा दिया
तूने रोशनी के बांध की दीवारें तोड़ दी
अरे ईश्वर के थोबड़े को जूते से पीटने वाला तू
आदमी के लिए शब्द तेरा मां बन गया
और मन–मन में बसे मनु के हेतु
तू सनीति फौलाद का पांव बन गया
तूने तोड़ दिया तख्त परम्पराओं का
आर्य प्रथा पुत्रों की लातों तले मरने वाली प्रजा के हेतु
अकेल जलते हुए प्रतिभा को जलाता
तेरे उस विद्रोह के तालाब पर
अपनी नतमस्तकों की नम्रता को लिख कर
हम उरेहने लगे हैं तेरे स्वप्नों के शिल्प को
है केशव सुत, हम ज्वालामुखी बन गये हैं
यहां के अंधेरे के साथ
हम तेरी दाहकता से झगडने लगे हैं।[74]

लेकिन यहां एक तथ्य पर भी ध्यान जाता है। मराठी चिंतक ग, बा, सरदार लिखते हैं– 'किसी कवि की वाणी प्रासादिक है, यह जब हम कहते हैं, तब वह ईश्वरी इच्छा का व आदेश का वाहन है और उसका काव्य यह परमात्मा का निश्वित, ऐसी ही अपनी भावना होती है। मैं निमित्त मात्र हूं। सारे कृतत्व परब्रह्म स्वरूप निवृत्तिनाथ के हैं, ऐसे अर्थों का उल्लेख ज्ञानेश्वर के साहित्य में बार–बार आता है– क्या मैं

तुच्छ जानू अर्थ भेद। कहते गोविन्द वही कहूं – तुकाराम यह जोर देकर कहते हैं। संत साहित्यकारों की ऐसी श्रद्धा होना स्वाभाविक थी। परन्तु उन्नीसवीं सदी के केशसवसुत और तिलक की दृष्टि भी कुछ अलग नहीं थी– प्रतिभा 'अत्यंत गूढ शक्ति' है– ऐसा केशवसुत कहते हैं। और मेरा काव्य मेरा अपना नहीं है। शारदा ने जो मंत्र दिया कानों में! वैसा काव्य उसके सम्मानों में' कुछ ऐसा ही स्पष्टीकरण देते है।'[75]

केशवसुत की यह मान्यता दलित साहित्य की अंतःचेतना से मेल नहीं खाती है। इसलिए केशवसुत को आधुनिक मराठी का कवि कुलगुरु कहना उचित नहीं जान पड़ता है। न मराठी के प्रगतिशील, वामपंथी या फिर दलित साहित्य के लिए।

मराठी के कवि अण्णा भाऊ साठे, बाबा बलंगकर, किशन फागुजी बनसोड स्वतंत्रता पूर्व के जाने पहचाने जन्मना दलित कवि थे जो सामाजिक भेदभाव, शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध अपनी आवाज उठा रहे थे। किशन फागुजी बनसोड एक लोकप्रिय लोक गीतकार थे जिनकी कविताएं महाराष्ट्र के कोने–कोने में अपनी पहचान बना चुकी थी।

विश्व में कहीं नहीं
वैसा भेद यहां देखो जन्म
से ही वर्ण निश्चित होता
यह हिन्द देश मेरा
ऊंचा पद मिले भटों को
अन्य सभी नीच बतायें
धर्म के नाम पर लड़ें आपस में
यह हिन्द देश मेरा
मनुष्य को पशु से हीन इन्होंने बनाया
क्या यही आर्यवृत कहलाता
यह हिन्द देश मेरा।[76]

उनकी ही एक और कविता देखें–

ठीक नहीं बेगारी
यह तो गुलामगिरि है
इसके कारण हम बने भिखारी
करो विचार मन में
जनता समझती है इन्सानियत को तुम्हारी।[77]

मैनेजर पांडेय स्वीकार करते हैं– 'हिन्दी नवजागरण में जातिप्रथा के विरोध की चेतना अत्यन्त कमजोर रही है। क्योंकि यहां जातिप्रथा के विरुद्ध न कोई प्रभावशाली आन्दोलन चला है, न उसके विरोध में वैचारिक संघर्ष की शक्तिशाली परम्परा ही बनी।'[78]

इस विश्लेषण और चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि डॉ. अम्बेडकर का मुक्ति–संघर्ष ही दलित कविता को एक ऐसी ऊर्जा दे सका जिसने सिर्फ साहित्य को ही नहीं समाज को भी उद्वेलित किया। एक नये विचार और दार्शनिकता का सूत्रपात किया, जिसका प्रभाव पूरे भारतीय साहित्य पर पड़ा। आज सिर्फ मराठी ही नहीं, बल्कि हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, तेलूगु, कन्नड, तमिल, मलयालम, बंगला आदि भाषाओं में दलित साहित्य उभरकर आया है, उसने अपनी एक नई पहचान बनायी है और भारत की सीमाओं से निकल कर विश्वस्तर पर अपनी मानवीय पक्षधरता, स्वतंत्रता, बंधुता की भावना को स्थापित किया है। आज सही अर्थों मे देखा जाये तो सिर्फ दलित साहित्य ही है, जिसे भारतीय साहित्य कहा जा सकता है। क्योंकि समूचे दलित साहित्य में एक ही भावना और एक ही उद्देश्य परिलक्षित हो रहा है जो शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित मनुष्य की अस्मिता की पहचान बना है।

अम्बेडकर विचार–दर्शन और दलित कविता

दलित कविता का जन्म दलित आंदोलन की ऊर्जा से हुआ है। डॉ. अम्बेडकर के धर्मांतरण और उनके महापरिनिर्वाण के बाद समूचा कालखण्ड दलित साहित्य से प्रभावित हुआ। विशेष रूप से मराठी कविता में डॉ. अम्बेडकर प्रणीत आंदोलन के स्वर अभिव्यक्त होने लगे थे। चवदार तालाब का सत्याग्रह, मनुस्मृति दहन, कालाराम मन्दिर प्रवेश, रिपब्लिकन और दलित पैंथर आंदोलन का गहरा प्रभाव दलित कविता पर पड़ा। दलित कविताओं में लोकतंत्र, समता, बंधुता, स्वाधीनता, मुक्ति–संघर्ष आदि का जिक्र बार–बार आता है। साथ ही जीवन मूल्यों की पक्षधरता का ऐलान, दलित कवि ऊंची आवाज में करता है। महाराष्ट्र में दो बड़े आन्दोलन 'धर्मांतरण' और 'नामांतर' जिन्होंने समूचे दलित समाज को आंदोलनमय बना दिया। आरक्षण, शिक्षा, संघर्ष, संगठन, अंतर्जातीय विवाह आदि विषयों पर दलित कवियों ने अनेक कविताएं लिखी। दलितों और स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों, शोषण और दमन के विरुद्ध दलित कविता ने अपनी आवाज बुलंद की। हिन्दू–देवी–देवताओं और जाति–व्यवस्था के विरोध में अपना गुस्सा जाहिर किया। इसीलिए दलित कविता में जीवन के अलग अनुभव अभिव्यक्त हुए। प्रारम्भ में दलित कविता का स्वर आक्रोश से भरा अधिकारों की मांग करने वाला, करुणा उत्पन्न करने वाला था। आगे चलकर यह वेदना के साथ नकार, निषेध के स्वर में बदल गया। उन्हें लगने लगा कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था, भेदभाव, विनम्र भाषा से बदलने वाले नहीं हैं। इसीलिए दलित कवियों ने समाज व्यवस्था को नकारना शुरू किया। यही कारण था कि दलित कविता का विद्रोही स्वर ज्यादा प्रभावशाली बनने लगा।

'मराठी दलित साहित्य की एक विशेषता यह है कि विविध आंदोलनों के साथ दलित साहित्य के अंतःस्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। 'दलित–मुक्ति आन्दोलन' का प्रारम्भ 1927 में हुआ। इस आन्दोलन के माध्यम से दलित समाज प्रबोधित होता रहा। डॉ.

अम्बेडकर ने अपने समाज का स्वाभिमान, स्वावलम्बन और स्वोद्धार की प्रेरणा देते हुए शिक्षा, संगठन और संघर्ष का मार्ग दिखाया। वे निर्धारपूर्वक कहा करते थे कि– ''गुलामों को बारबार उनकी दासता की याद दिलाने से ही वे दासता के विरुद्ध बगावत करने उठते हैं।'' इसी विचार का लेकर 1927 से 1956 तक की कालावधि में कविता–कहानियां लिखी जा रही थी, जिनका प्रमुख उद्देश्य यही था, कि डॉ. अम्बेडकर के क्रांतिकारी विचारों के प्रसारण के द्वारा दलित समाज को जागृत करना। हिन्दू धर्म में सुधार करने एवं जाति व्यवस्था का निर्मूलन करने के सारे प्रयास विफल होते हुए देखने की हताशा के परिणामस्वरूप अपने पूर्व घोषित निर्णय के मुताबिक डॉ. अम्बेडकर ने अपने अनुयायियों के साथ 1965 में बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। यह एक ऐसी घटना रही जिसके कारण 'दलित–मुक्ति आंदोलन' ने एक नया मोड़ लिया। हिन्दू समाज व्यवस्था की दासता से दलित समाज मुक्त हो चुका। बौद्ध धर्म में जाति भेद न होने के कारण मात्र बंधुता का ही संदेश है, और बंधुता का ही दूसरा नाम मानव धर्म है। डॉ. अम्बेडकर की यही धारणा थी।'[79]

'डॉ. अम्बेडकर जहां पूंजीवाद के विरोध में कार्ल मार्क्स के साथ खड़े हैं, वहीं ब्राह्मणवाद विरोधी अभियान मे बुद्ध के साथ। इसमें दो राय नहीं कि दलित समुदाय के लिए वर्ग–भेद की अपेक्षा छूआछूत की चरम सीमा तक फैली वर्ण–भेद की समस्या कहीं ज्यादा घातक और अपमानजनक रही हैं। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक मुक्ति को प्राथमिकता देते हुए, दलित समुदाय के अधिक अनुकूल होने के कारण बुद्ध के चिंतन से प्रेरणा ग्रहण की और उनके समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के त्रिसूत्र को अपनी वैचारिकी का आधार बनाया। यही कारण है कि हिन्दी दलित साहित्य में पूंजीवाद की अपेक्षा ब्राह्मणवाद ही मुख्य निशाने पर है, और आक्रोश भरा प्रतिरोध का स्वर ही उनका मुख्य स्वर है। फिर भी ऐसे दलित रचनाकारों का अभाव नहीं है जो अम्बेडकरवाद के प्रति पूरी प्रतिबद्धता के बावजूद मार्क्स के चिन्तन को

भी महत्वपूर्ण मानते हैं, और उनकी कविताएं दलित–मुक्ति के माध्यम से–मुक्ति का संदेश देती है।'[80]

डॉ. अम्बेडकर की इस धारणा को और दलित–मुक्ति आंदोलन को आधार मानकर मराठी दलित कविता ने दलित अभिव्यक्ति को एक नया स्वरूप दिया एवं उसे सामाजिक यथार्थ से जोड़ा और दलित–मुक्ति आंदोलन को नई आकांक्षाओं की ओर ले जाने की कोशिश की। नामदेव ढसाल की कविता– 'अब–अब' में इस विचार की सशक्त अभिव्यक्ति स्पष्ट दीख पड़ती है–

सूरज की ओर पीठ किये, वे शताब्दियों तक यात्रा करते रहे।
अब–अब, अंधियारे की ओर यह यात्रा हमें बन्द करनी चाहिए।
और यह कि इस अंधेरे को ढ़ोते–ढ़ोते हमारे पिता अब झुक गये हैं।

अब–अब , हमें उस बोझ को उनकी पीठ से हटाना होगा।
इस वैभवशाली शहर को बनाने में हमारा खून बहा है।
इसके बदले में हमें केवल पत्थर खाने को मिले हैं।
अब–अब, इस गगनचुम्बी इमारत को हमें उड़ाना होगा।

हजारों सालों के बाद हमें एक सूरजमुखी फूल देने वाला फकीर मिला है।
अब–अब, सूरजमुखी के फूल की तरह हमें अपना चेहरा सूरज की ओर कर लेना चाहिए।[81]

'नामदेव ढसाल की कविता आज के भारत में दलितों के आक्रोश तथा आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है। इस भावना के साथ कि दलित सदियों से शोषित रहे हैं, दमित रहे हैं, महान भारतीय सभ्यता के निर्माता रहे हैं और अब समय आ गया है कि सदियों पुराने इस अधंकार से बाहर

निकला जाये, 'अब–अब' कविता इस अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करती है। इस कविता के केन्द्र में डॉ. अम्बेडकर हैं जो दलित आन्दोलन के अदभुत नायक थे और भारत के एक आधुनिक व्यक्तित्व। यह कविता आशाओं को जीवंत करने वाली है, एक नया सूर्य, एक चेतावनी, कि वह जो महज संतुष्टि नहीं देता, अब उड़ा दिया जाएगा।'[82]

मराठी दलित कविताओं में दमन, शोषण, अंधियारापन, प्रकाश, विद्रोह, संरचना का विध्वंश जैसे चित्र, सभी जगह दिखाई पड़ते हैं।

हिन्दी कवि कंवल भारती, डॉ. अम्बेडकर के आन्दोलन से अपनी प्रतिबद्धता जाहिर करते हुए कहते हैं–

जो मुक्ति संग्राम लड़ा था तुमने
जारी रहेगा उस समय तक
जब तक कि हमारे
मुर्झाये पौधों के हिस्से का
सूरज उग नहीं आता है।[83]

कंवल भारती की यह कविता सीधे–सीधे डॉ. अम्बेडकर को सम्बोधित करते हुए पूरे दलित समाज के संकल्प को दोहराती है।

अर्जुन डांगले का कहना है कि डॉ. अम्बेडकर ने 'दलितों की सोयी हुई आत्मा को जगाया। और यह मनुष्य अपने सामर्थ्य के साथ और साहित्य के साथ इस आंदोलन में शामिल हुआ। दलित कविता में अभिव्यक्त होने वाले जीवन अनुभव और प्रेरणा डॉ. अम्बेडकर का मुक्ति–संघर्ष है। जिसकी महत्ता उस वक्त और ज्यादा बढ़ गई जब डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध–धर्म की दीक्षा लेकर दलितों को एक नया मुक्ति–पथ दिखाया। दीक्षा के बाद उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा था– 'विषमता और जुल्मों पर आधारित पुराणपंथी धर्म त्याग करने से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे मैंने नरक तुल्य जीवन से छुटकारा पा लिया हैं। और मेरा एक नया जन्म हुआ है।'[84]

अरुण काळे की एक कविता है 'त्याच्या हाकेला ओ देऊन' इस आशय पूर्ण कविता में कहता है–

त्याच्या हाकेला ओ देऊन
पिंपळाने बाहरे काढली काषाय वस्त्रे
मनत ठेवलेल
झटकले अंग आणि
पळून गेला मुंज्या
उडून गेली वटवाघुळ
गळून पडली वडाची साल
पिम्पळाला लाव्लेली।[85]

इस कविता पर अपनी समीक्षात्मक टिप्पणी में बाबूराम बागुल लिखते हैं–'कवि अरुण काले ने 'त्याच्या हाकेला आ देऊन' कविता में प्रतिमान की भाषा में अत्यंत समुचित वर्णन किया है। पीपल के पेड़ के नीचे भारतीय विज्ञान का जन्म हुआ, पीपल के पेड़ के नीचे ही विज्ञानवाद का जन्म हुआ, पीपल के पेड़ के नीचे ही प्रतित्यसमुत्पाद सिद्धांत यानि कार्यकारण भाव का जन्म हुआ, पीपल के पेड़ नीचे ही ईश्वरशाही का अंत करने वाले क्षणवाद का जन्म भी हुआ, और यही रास्ता बाबा साहेब को दिशानिर्देश देने वाली उठी हुई उगंली ने हमें निर्देशित किया, अपने दीपक स्वंय बनो, जीवन के इस तत्त्वज्ञान से परिचित कराया। कवि अरुण काळे कहते हैं–

जखमांना खत पाणी घालणारे दुःख, दैन्य, दास्य
लादणारे प्रदेश सोडून
मुळासकट सर्व जखमा घेऊन
आलोय मी
बोधीवष्क्षाच्या निर्जतूक सावलीत।[86]

देश के दूर दराज, दुर्गम स्थानों, गांव–देहात, बडे महानगरों, कस्बों, राजधानी तक बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की दिशा निर्देश देने वाली उठी हुई उंगली दलित समाज को प्रेरित कर रही है। यह बहुत बड़ी घटना है। क्योंकि हजारों साल से मूक बने करोड़ों लोगों को डॉ. अम्बेडकर ने मुखर किया है। यह दलित आंदोलन की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

साहित्यकारों को संबोधित करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा था, 'उदात्त जीवन मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों को अपने साहित्य में स्थान देना चाहिए। साहित्यकार का उद्देश्य संकुचित न होकर विस्तृत एवं व्यापक हो। वे अपनी कलम को अपने तक ही सीमित न रखें, बल्कि उनका प्रखर प्रकाश देहाती जीवन के अज्ञान का अंधकार दूर करने में हो। दलित उपेक्षितों का बड़ा वर्ग इस देश में है। इस बात को सदा याद रखें। उनका सुख–दुख एवं उनकी समस्याएं समझ लेने की कोशिश करें। साहित्य के द्वारा उनका जीवन उन्नत करने के लिए प्रयत्नरत रहें। यही सच्ची मानवता है।'[87]

मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पु. ल. देशपांडे कहते हैं, 'हम जिसे दलित साहित्य कहते हैं उसका अधिष्ठान भी मानवी जीवन में प्रज्ञा और करुणा को सर्वश्रेष्ठ मानने वाला होना चाहिए। बाबा साहेब ने दलित जीवन को यह अधिष्ठान दिया। इसी कारण मैं अक्सर कहता आया हूं कि यह बाबा साहेब की प्रेरणा है। उन्होंने प्रज्ञा को प्रधानता दी, इसीलिए इस साहित्य को निर्भयता का तेज प्राप्त हुआ। इस साहित्यिक प्रकटन के सत्य को विलक्षण प्रकाश प्राप्त हुआ। इस प्रकाश से पाठकों को दलित जीवन का जो विदारक दर्शन हुआ उस विद्रोह की कविताओं से सशक्त वृंदगान सुनाई देने लगा। इससे साहित्य, कला, सौंदर्य, जीवन, समाज इन सभी रूढ़ियों को धक्का पहुंचने लगा। उसके चलते परम्परा से चली आई साहित्य समीक्षा की कल्पना को पुनः एक बार परखने की आवश्यकता महसूस होने लगी। शब्दों के तराशे, सुखकर नाद माधुर्य की जगह एक तांडव ने ली। एक

ताकतवर सेना खड़ी हो और सेना की पहली पंक्ति प्रतिपक्ष पर शरवृष्टि करे, ऐसा युद्ध शुरू हुआ–

धर्म परम्परा और ग्रंथ
समूल बदल जाए
उबलने वाला कोलतार और मिट्टी डालकर
सूर्य पर घुमाया जाये रोड रोलर
उसे घने अंधकार में
न दिखाई दे मंदिर
न दिख पाए धर्मग्रन्थों के अक्षर
मनुष्य का ही फैल जाए उज्जवल प्रकाश
और मनुष्य ही मनुष्य के गले मिले'[88]

आगे वे कहते हैं, 'जिस कण्ठ से यह सुर फूटा वह कवि मनुष्यता को नकारने वाली दुनिया का संतप्त निवासी था। उसके सुर से उतना ही प्रखर सम्वाद करने वाली ध्वनि निकली–

फूलों से खेलने की उम्र में अंगारों से खेला हूं
इस जहरीली हवा को पीकर मैं तूफान बना हूं,
क्या आपको यह रास आएगा?[89]

दलित कविता को डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष और जीवन दर्शन से सीधे जोड़ते हुए मराठी के चर्चित कवि रोहन नागदिवे की यह व्याख्या दलित कविता की अन्तःधारा को समझने में मदद करती है। रोहन नागदिवे लिखते हैं– 'कविता के रूप में मैंने जो कुछ लिखा वह कवि यानि जागरूक होना भर नहीं है, उससे भी आगे इस संसार और जीवन को और अधिक सुन्दर बनाने के लिए, यह निश्चित ही मेरा उद्देश्य है। इसीलिए कलाकार का मुखौटा पहने बगैर भी मैं लिख

सकता हूं। छंद जैसा मैंने कुछ भी नहीं लिखा। क्रान्ति और शांति के अपूर्व समन्वय के लिए मुझे यह शस्त्र महत्त्वपूर्ण लगता है। अपनी कविता को मैं कला के मापदंडों तक ला पाया, यह कहने की मुझे जरूरत नहीं है। यह मुझे महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। लेकिन मेरी कविता मानवीय मूल्यों से दूर न जाये, यह मैंने कोशिश जरूर की है। डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर की जीवन–दृष्टि से मेरी जीवन दृष्टि विकसित हुई हैं। सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य ही इस जीवन दृष्टि का केन्द्र बिन्दु है। मनुष्य के जीवन में कुरूपता, विरूपता, विषमता समाप्त होनी चाहिए और जीवन में नैसर्गिक सुन्दरता आये। व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकार न छीने जाएं। व्यक्ति को सम्मान मिले, भय–मुक्त, बंधन–मुक्त मनुष्य का समाज निर्मित हो, इसीलिए यह जीवन–दृष्टि सामने खड़ी है। इसी जीवन दृष्टि को मैंने कविता में उतारने की कोशिश की है।'[90]

'सभी दलित लेखक एक ही प्रेरणा से लिख रहे हैं। उनकी सभी साहित्यिक कृतियों में जीवन मूल्य व्यक्त हुए हैं, केवल इन्हीं कारणों से दलित–साहित्यिक कृतियों को सुन्दर नहीं ठहराया जा सकेगा। कलाकार का कलाकृति में सन्निहित विचार पाठक के मन को कितना और कैसे प्रभावित करता है, इस पर उस साहित्यिक कृति का स्तर निर्भर करता है। जो दलित साहित्यिक कृति पाठक की, आस्वाद की चेतना अधिकाधिक जागृत कर सकती है, वही साहित्यिक कृति सुन्दर और परिणामतः स्तरीय सिद्ध होगी। इसका अर्थ यह है कि दलित–लेखकों को यह तय करना होगा कि उनके साहित्य में अम्बेडकर–विचार कैसे व्यक्त हों, जिससे वह प्रभावशाली हो सके। जो रचना–कृति अधिकाधिक 'दलित–चेतना' जागृत करेगी। वह उतनी श्रेष्ठ व महान होगी।[91]

डॉ. अम्बेडकर के महाड आंदोलन ने दलित कवियों को हमेशा उद्वेलित किया है क्योंकि डॉ. अम्बेडकर के इस आंदोलन ने दलितों मे एक गहरे आत्मविश्वास की ऊर्जा भर दी थी। मराठी दलित कवि सुखराम हिरावले की कविता में इसी आंदोलन की गूंज सुनाई पडती है।

कोटि–कोटि ओंजली भरून आपल्या महाड चव्दार तळयाचा
पाण्याने
तृप्त झालीं युगा युगाच्या बंदिवानाची तहानलेली तहान
एक महान युद्ध घ्डले महाडच्या रणक्षेत्रावर।[92]

(कोटि–कोटि अंजुलि भर–भर के लाए महाड चवदार तालाब का
पानी।
तृप्त हुई युग–युग बंदियों की प्यासी प्यास। महाड रणक्षेत्र पर
एक महान युद्ध ही लड़ा गया)

हिन्दी दलित कवि स्वयं को डॉ. अम्बेडकर के संघर्ष और वैचारिकता के करीब पाता है–

मैं उस अतीत को बहुत करीब पाता हूं
जिसे जिया था तुमने अपने संघर्ष में
तुम्हारे विचारों में
मुखर होता है
एक रचनात्मक विप्लव जो समाता है
मेरे रोम–रोम में
बाबा तुम मरे नहीं हो
जीवित हो हमारी चेतना में
हमारे संघर्ष में
जो मुक्ति संग्राम लड़ा था तुमने
वह जारी रहेगा उस समय तक
जब तक कि हमारे
मुर्झाये पौधों के हिस्से का सूरज
उग नहीं जाता हैं।[93]

प्रहलाद चेंद्वणकर मराठी के सशक्त कवि हैं। उनकी एक बेहद

चर्चित कविता है– 'आडिट' जिसमें ज्योतिबा फुले और डॉ. अम्बेडकर के कार्यों की महत्ता को प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादित किया गया है–

महात्मा फुले अम्बेडकरानी
तुमचे अकाऊण्ट्स आडिट केलेत
ग्रंथा ग्रंथाच्या पानंवचे फ्राड्स
सगळे डिटेक्ट केलेत;[94]

(महात्मा फुले, अम्बेडकर ने
तुम्हारे अकाऊंटस आडिट किये हैं
ग्रंथ–ग्रंथ के पन्ने–दर पन्ने के फ्राड्स
सभी डिटेक्ट कर लिए हैं)

पिछली सदी के सातवें दशक में जब मराठी दलित कविता अपनी विशिष्ट पहचान निर्मित कर चुकी थी, हिन्दी में स्थिति कुछ भिन्न थी। जबकि स्वतन्त्रता पूर्व से ही जन्मना दलित कवि कविताएं लिख रहे थे। कंवल भारती का कथन है– 'ये दलित कवि जिस अध्यात्म और आस्तिकता के हिन्दूवादी वातावरण में पले थे, उसी से उनकी सौंदर्य दृष्टियां और कल्पनाएं निर्मित हुई थी। उसमें भावना का मुख्य स्थान था, तर्क के लिए गुंजाईश नहीं थी। वे अम्बेडकर मिशन से प्रभावित होकर अपनी ईश्वरवादी अवधारणाओं से अम्बेडकर पर कविताएं लिख रहे थे।[95]

कंवल भारती आगे यह भी लिखते हैं– 'ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविताओं का संग्रह 'सदियों का संताप (1989) पूर्ण रूप से दलित चेतना की कविताओं का संग्रह है और यह पहला संग्रह है, जिसने मुख्यधारा के इतिहास में सबसे ज्यादा हलचल मचा दी थी। ये कविताएं भावुकता से मुक्त हैं। उनमें गंभीर दलित चिंतन और विमर्श है। भाषा और शिल्प के स्तर पर ये कविताएं, हिन्दी की मुख्यधारा की

कविताओं को चुनौतियां दे रही थी। इन कविताओं ने मुख्यधारा की कविताओं पर हथौड़े बजा दिये। संकलन की पहली ही कविता 'ठाकुर का कुआं' में ओम प्रकाश वाल्मीकि ने यह सवाल उठाकर सवर्ण चेतना को झकझोर दिया[96]–

चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का

भूख रोटी की
रोटी बाजरे की
बाजरा खेत का
खेत ठाकुर का

बैल ठाकुर का
हल ठाकुर का
हल की मूठ पर हथेली अपनी
फसल ठाकुर की

कुंआ ठाकुर का
पानी ठाकुर का
खेत–खलिहान ठाकुर के
फिर अपना क्या

गांव?
शहर?
देश?[97]

ज्योतिबा राव फुले और डॉ. अम्बेडकर ने जो काम शुरू किया था, वह आज भी जारी है। डॉ. अम्बेडकर के आने से जो विचार और मुक्ति–संघर्ष शुरू हुआ, उसने समाज रचना, आर्थिक, राजनीतिक जीवन के नये आदर्श दिये।

यहां डॉ. विवेक कुमार की मान्यता भी ध्यान आकर्षित करती है। उनका मानना है, 'बाबा साहेब के परिनिर्वाण के बाद वर्तमान में दलित लेखन तथा साहित्य की विचारधारा मूलतः अम्बेडकरवादी है। यद्यपि स्थानीय स्तर पर दलितों में उत्पन्न हुए विभिन्न समूह अपनी सोच एवं आवश्यकतानुसार कुछ घटा–बढ़ा लेते हैं। अतः प्रश्न उठता है कि अम्बेडकरवाद क्या है? इसे परिभाषित करना सुगम नहीं है। फिर भी समाजशास्त्री एम.एस. गोरे ने इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार,' वर्तमान असमान सामाजिक व्यवस्था का विरोध एवं उसमें पूर्व परिवर्तन हेतु आंदोलनात्मक विचारधारा ही अम्बेडकरवाद है। यह विचारधारा सामाजिक व्यवस्था में दलितों की अपमानजनक स्थिति तथा उनको भौतिक संसाधनों से वंचित रखने की प्रकिया को रेखांकित एवं चिन्हित करती है। साथ ही उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक मुक्ति के उपाय बताती हैं।' (गोरे, 1993). प्रो. नंदूराम कहते हैं– 'राष्ट्र निर्माण एवं सामाजिक परिवर्तन हेतु समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व एवं सामाजिक न्याय जैसे मूल्यों की स्थापना ही अम्बेडकरवाद है।' (प्रो. नंदूराम, 1995) परन्तु ये दोनों ही परिभाषाएं अम्बेडकर के बौद्ध दर्शन के प्रति समपर्ण का संज्ञान नहीं लेती हैं। अतः उपर्युक्त तथ्यों के साथ–साथ अम्बेडकरवाद 'अप्प दीपो भव' तथा करुणा, शील और मैत्री के आधार पर व्यक्तिगत और राष्ट्र निर्माण ही नहीं, पूरे विश्व के नव निर्माण का सूत्रपात करता है। इसीलिए शायद आज के दलित लेखन में जहां दलितों की मुक्ति की गुहार है, वहीं राष्ट्र और विश्व निर्माण की छटपटाहट भी नजर आने लगी है।[98]

संदर्भ

1. वासेट्ठ सुत्त, *सुत्त निपात्त*
2. खुद्दक निकाय, *धम्मपद*
3. सुत्त निपात्त III 4, 60
4. *विनय पिटिक*, भाग–5, पृष्ठ 239
5. बाबुराव बागुल यहां जिन्होंने विद्रोह करना चाहिए था, उन्होंने नहीं किया, भाषण, बौद्ध साहित्य सम्मेलन, महाड, 1971, संकलित–*दलित साहित्यः वेदना और विद्रोह*, सम्पादक–शरण कुमार लिम्बाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2010, पृष्ठ 144
6. दया पवार ''दलितों के आन्दोलन जब तीव्र होने लगते हैं तब जन्म लेता है दलित साहित्य,'' अस्मितादर्श लेखक–पाठक सम्मेलन, सोलापुर, 1993, संकलित– *दलित सांहित्यः वेदना और विद्रोह*, पृष्ठ 194
7. पुरुषोत्तम अग्रवाल – *अकथ कथा प्रेम की*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 353–354
8. म. न. वानखेडे, ''साहित्यिकों को विद्रोही बनाना होगा!'' *दलित साहित्य, वेदना और विद्रोह,*
9. *रामचरितमानस,* अरण्यकांड
10. पुरूषोत्तम अग्रवाल, *अकथ कथा प्रेम की*, पृष्ठ 372
11. वही
12. *कबीर ग्रन्थावली*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं,– 2037 विक्रमी, पृष्ठ– 55
13. *कबीर ग्रंथावली,* कांमी नरकौ अंग, साखी, 15, पृष्ठ 68
14. *वही* पृष्ठ 67
15. माता प्रसाद–*हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1993, पृष्ठ 335–36
16. आचार्य अभयदत्त *चौरासी सिद्धों का वृतांत*–आचार्य अनुवादक– प्रो. सेम्पा दोरजी, सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ हायर तिबतन स्टडीज, सारनाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण–1979, पृष्ठ 1
17. माता प्रसाद–*हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा*, पृष्ठ 34
18. हजारी प्रसाद द्विवेदी– *हिन्दी साहित्य की भूमिका*, पृष्ठ 41, 1. ब्राह्मणो स्य मुखासीद बाहू राजन्यः कृत। उद्रोतदस्य यद्वैशः पदभ्यां शूद्रो अजायत। ऋग्वेद 10/90/12, 2. जन्मना जायते शूद्र; संस्कारातंद्विज उच्यते। वेद पाठात भवेत

विप्रोः जानातिब्राह्मणः। जडा भरताग प्रश्नावली, संस्करण– 2004, सम्पादक प्रणति घोषाल, पृष्ठ 34 पर उद्धृत।

19. संपादक जयप्रकाश कर्दम, *दलित साहित्य वार्षिकी,* 2001, पृष्ठ 15
20. पुरूषोत्तम अग्रवाल, *अकथ कथा प्रेम की,* पृष्ठ 353
21. डॉ. अम्बेडकर – None of the saints ever attacked the caste system. On the contrary, they were staunch believer in the system of castes. Most of them, lived and died as of caste which they respectively belonged. The saints have never according to my study carried in a compaign against castes and untouchablity. They were concerned with the relation between man and God. They did not preach that all men were equal. They preached that all men were equal in the eyes of God. A very different and very innocuous proposition which nobody can find difficult to preach or dangerous to believe in. A saint therefore never became an example to follow. He always remained a pious man to be honored, staunch believers in caste and untouchablity, shows that pious lives and noble sermons of the saints have had no effect on their life and conduct as in the teaching of the shastras.
22. डॉ. गंगाधर पांतावणे – *पत्रकार डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर,* पृष्ठ 234
23. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, 'डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी और हिन्दी अस्मितावादी साहित्य', *दलित अस्मिता* (त्रैमासिक), अंक– 1 अक्तूबर–दिसम्बर, 2010, सम्पादक–विमल थोरात, नई दिल्ली, पृष्ठ 35
24. डॉ. श्याम सुन्दर दास, *कबीर ग्रंथावली,* पद– 41, पाद टिप्पणी– पृष्ठ 79
25. *वही,* चौपदी रमैनी, पृष्ठ 186
26. बाबूराव बागुल, *दलित साहित्य आजचे क्रांतिविज्ञान,* दिशा प्रकाशन, नाशिक, 1981 दूसरा संस्करण, 2004, पृष्ठ 11
27. रतनलाल सोनग्रा–''क्या मराठी साहित्य में क्रांति का सामर्थ्य है''? भाषण, बौद्ध साहित्य सम्मेलन, बेलगांव, 1969, संकलित–*दलित साहित्यः वेदना और विद्रोह,* पृष्ठ 133
28. लालजी पेंडसे–''संत साहित्य की सामाजिक बुनियाद'', *प्रगतिशील वसुधा–* 71 अक्टूबर–दिसम्बर, 2006, पृष्ठ 33
29. के.एम. सिंह ''प्रतिरोध की परम्परा में आलोचना'', *परख,* अंक–अप्रैल–सितम्बर, 2003, पृष्ठ 83
30. कबीर, *बीजक,* पारख प्रकाशक, कबीर संस्थान, इलाहाबाद, शबद– 109, पृष्ठ 15
31. तुलसी दास, *रामचरित मानस,* बालकाण्ड, दोहा 114
32. डॉ. चमन लाल, *दलित साहित्य के अग्रदूतः गुरु रविदास–* आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1998, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 7–8

33. के. एम. सिंह ''प्रतिरोध की परम्परा में आलोचना'', पृष्ठ 83,
34. लालजी पेंडसे, ''*संत साहित्य की सामाजिक बुनियाद*', पृष्ठ 33
35. श्री स. भा. कदम द्वारा सम्पादित ''*चोखामेळा महाराज की अभंगगाथा*''
36. वही
37. एलिनार जेलियट– *अंटचेबल सेंट, एन इण्डियन फिनोमिनन*, मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 36
38. डॉ. एन. सिंह, *रैदास ग्रंथावली*– साहित्य सस्थान, गाजियाबाद, 36
39. श्याम सुन्दर दास, *कबीर ग्रन्थावली*, पृष्ठ 90
40. डॉ. एन. सिंह, *रैदास ग्रन्थावली*
41. श्री स. भा. कदम द्वारा सम्पादित *चोखामेळा महाराज की अभंगगाथा*
42. भाल चन्द्र फडके–*दलित साहित्य, वेदना आणि विद्रोह*, पृष्ठ 34
43. संत तुकाराम, *अभंगवाणी*
44. *रैदास वाणी*, राज्य संदर्भ केन्द्र, राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर, 1988 पृष्ठ 7
45. मुक्तिबोध, *रचनावली*, पांच, पृष्ठ 292
46. वही, पृष्ठ 289
47. वही
48. विवेक कुमार, ''दलित साहित्य का समाजशास्त्र''–*साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र,* संपादक–देवेन्द्र चौबे, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 152–153
49. बाबूराम बागुल–*दलित साहित्य आजचे क्रातिविज्ञान*, पृष्ठ 13
50. कंवल भारती, दलित *निर्वाचित कविताएं,* इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006, पृष्ठ 13
51. अछूतानंद, *खरी–खरी फटकार, आदि–वंश का डंका*, बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ, 1983
52. बाबूराम बागुल–*दलित साहित्य आजचे क्रांतिविज्ञान*, पृष्ठ 13
53. जय प्रकाश कर्दम, सम्पादक, *दलित साहित्य,* 2012, पृष्ठ 26
54. वही
55. डॉ. मैनेजर पांडेय, हिन्दी "साहित्य में दलित लेखन", *वसुधा*, अंक–58, जुलाई–सितम्बर, 2003, पृष्ठ 322
56. प्रकाश जाधव, *दादर पुल के नीचे* (मराठी कविता)
57. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, *दलित साहित्य,* 2012, पृष्ठ 28
58. श्यौराज सिंह बैचेन– ''हिन्दी साहित्य : एक पृष्ठभूमि'', *साहित्य का नया सौन्दर्यशास्त्र*, पृष्ठ 141–142

59. मोहन दास नैमिशराय, *हिन्दी दलित साहित्य,* साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 37–38
60. कंवल भारती, दलित निर्वाचित कविताएं, पृष्ठ 13
61. वही
62. अछूतानंद, 'हरिहर', *आदिवंश का डंका,* बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ, 11वां संस्करण 1983 पृष्ठ 14
63. चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, *श्री 108 स्वामी अछूतानंद जी 'हरिहर',* बहुजन कल्याण, लखनऊ, 1960, पृष्ठ 97–98
64. वही, पृष्ठ 95–96
65. केवलानंद की कविता
66. कंवल भारती, ''दलित कविता की भूमिका'', *दलित विमर्श और हिन्दी दलित काव्य,* न्यू रायल कम्पनी, लखनऊ, 2008,
67. माता प्रसाद, *हिन्दी काव्य के दलित काव्य धारा,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1993 पृष्ठ 103
68. फकीर चन्द नाहर– *अछूत गजर,* पत्रिका
69. कंवल भारती, *दलित कविता का संघर्ष, स्वराज* प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 82
70. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता में और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना,* हिन्दी बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 1996 प्रथम संस्करण, पृष्ठ 34
71. कंवल भारती, *दलित कविता का संघर्ष, पृष्ठ 131–132*
72. चन्द्रकांत पाटिल, संपादक, अनुवाद निशिकांत ठकार, समकालीन माराठी साहित्य, साहित्य मण्डार, इलाहबाद, 2006, पृष्ठ 215
73. यशवंत मनोहर, *केशव सुत*
74. वही
75. गं.बा. सरदास, 'साहित्य की सामाजिकता, प्रगतिशील वसुधा, अंक 71, अक्तूबर–दिसम्बर, 2006, पृष्ठ 50
76. किशन फागुजी बनसोड़, विमल थोरात, *मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना,* पृष्ठ 16
77. वही
78. मैनेजर पांडेय, *अनभै सांचा,* 2002 पृष्ठ
79. सदा कन्हाडे, ''मार्क्सवाद और दलित साहित्य,' 8 *वसुधा,* अंक 58, जुलाई–सितम्बर, 2003, पृष्ठ 55

80. चौथीराम यादव, 'दलित चिन्तन की प्रतिपरंपरा और कबीर,' *दलित अस्मिता* (त्रैमासिक), अंक– 1 अक्तूबर–दिसम्बर, 2010, पृष्ठ 20
81. ''नामदेव ढसाल ,"अब–अब'', *एन एंथोलाजी ऑफ दलित लिटरेचर*, संपादक–मुल्कराज आनन्द ,एलीनर जिलेट, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1992, पृष्ठ 53
82. गेल ओमवेट, *दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति*, सेज नई दिल्ली, रावत पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, 2009
83. कंवल भारती
84. डॉ. अम्बेडकर, नागपुर में हुए ऐतिहासिक धर्मान्तरण के बाद का भाषण (पुस्तिका–14 अक्टूबर, 1956)
85. अरूण काळे, *राक गार्डन*, कविता संग्रह
86. वही
87. डॉ. अम्बेडकर का भाषण, विदर्भ साहित्य संघ नागपुर
88. पु. ल. देशपांडे, ''शब्द जब हथियार बनते है,'' दलित साहित्य सम्मेलन, चंद्रपुर, 1989, भाषण, संकलन–दलित *साहित्यःवेदना और विद्रोह*, पश्ष्ठ 103
89. वही
90. श्रोहन नागदिवे, *स्थितिचा ओला कोलाज*, कविता–संग्रह की भूमिका–आवश्यक, तरी ही, यथार्थ प्रकाशन, मरावती, महाराष्ट्र, 2007, पृष्ठ 7
91. शरण कुमार लिम्बाले, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* पृष्ठ 113
92. सुख राम हिरावले, *निकाय,* मासिक पत्रिका, मार्च–अप्रैल, 1997
93. कंवल भारती, *मुक्ति संग्राम जारी है, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होगी*, पृष्ठ–33
94. प्रहलाद चेंदवणकर, 'आडिट', *दलित काव्य दर्शन*, संपादक–नारायण सुर्वे, लोक वाड्मय गृह, मुम्बई, 1992, पृष्ठ 33
95. कंवल भारती, *दलित कविता का संघर्ष,* स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012 पृष्ठ 132
96. वही पृष्ठ 172
97. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *सदियों का संताप,* फिलहाल प्रकाशन देहरादून, 1989, पृष्ठ 3
98. विवेक कुमार, *'दलित साहित्य का समाजशास्त्र'*– साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र, पृष्ठ 160

अध्याय चार

हिन्दी और मराठी दलित कविता की प्रवृत्ति

सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण का विरोध

मराठी साहित्य में कवि केशव सुत (1988) से दलित कविता का प्रारंभ माना जाता है। जिसमें एक अस्पृश्य बेटा अपनी मां से प्रश्न करता है।

जरी त्यावरी सावली माझी गेली
तरी काय बाधा असे ठेवलेली
(उस पर छाया अगर मेरी पड़ी, तो इससे कौन सी विपदा खड़ी हो जाएगी।)

मां उत्तर देती है–

आम्ही नीच बा, आणि ते लाक थोर
तया पाहता होइ जे नित्य दूर।
(बेटा हम नीच हैं, वे लोग ऊंचे हैं, उन्हें देखते ही नित्य हो जाओ दूर।)

लेकिन इस कविता में भी वही संत परंपरा की लाचारी अभिव्यक्ति का हिस्सा बनी हुई हैं, जिसकी छाया चोखा मेळा के अभंगो में दिखाई देती है। आक्रोश की तीव्रता जो 1960 के बाद की दलित कविता में दिखाई पड़ती है वह वहां नहीं है। आज का कवि मुक्ति–संघर्ष के

लिए पूरी तरह तैयार खड़ा है। सामाजिक शोषण के विरोध में खड़ी दलित कविता ने साहित्य के परिदृश्य को ही बदल दिया है। लेकिन साथ ही वह अपनी परंपराओं के प्रति भी संवेदनशील है। मराठी के चर्चित कवि यशवंत मनोहर अपनी कविता 'केशव सुत' के माध्यम से दलित कविता की सामाजिक जिम्मेदारी और अपनी प्रतिबद्धता को मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त करते हैं–

धधकती जंगल की आग की तरह
तूने झगड़ा मोल लिया यहां के अंधेरे के साथ
जो हाथ आया उसे दे मार कर
उनकी मगरूरी को तूने तड़पा दिया
तूने रोशनी के बांध की दीवारें तोड़ दी
अरे, ईश्वर के थोबड़े को जूते से पीटने वाला तू
आदमी के लिए शब्द तेरा मां बन गया
और मन–मन में बसे मनु के हेतु
तू सनीति फौलाद का पांव बन गया
तूने तोड़ दिया तख्त परम्पराओं का
और प्रथा पुत्रों की लातों तले मरने वाली प्रजा के हेतु
अकेले जलते हुए प्रतिभा को जलाता
तेरे उस विद्रोह के तालाब पर
अपने नतमस्तकों की नम्रता को लिख कर
हम उकेरने लगे हैं तेरे स्वप्नों के शिल्प को
हे केशव पुत्र, हम ज्वालामुखी बन गये हैं
यहां के अंधेरे के साथ
हम तेरी दाहकता से झगड़ने लगे हैं।[1]

दलित कविता का नायक व्यक्ति नहीं है। बल्कि समाज है। यशवंत मनोहर की इस कविता में केशव सुत जिसे वे आधुनिक मराठी कविता

का कुलगुरू कहकर संदर्भ के साथ जोड़कर अपनी कविता की अभिव्यक्ति में 'मैं' के स्थान पर 'हम' को प्रयोग कर रहे हैं क्योंकि हम यानी समाज लेकिन यहां एक तथ्य पर भी ध्यान जाता है। मराठी चिंतक ग. बा. सरदार लिखते हैं– 'किसी कवि की वाणी प्रासादिक है, यह जब हम कहते हैं, तब वह ईश्वरी इच्छा का व आदेश का वाहन है और उसका काव्य यह परमात्मा का निश्वित, ऐसी ही अपनी भावना होती है। मैं निमित्तमात्र हूं। सारे कृतत्व परब्रह्मस्वरूप निवृत्तिनाथ के हैं, ऐसे अर्थों का उल्लेख ज्ञानेश्वर के साहित्य में बार–बार आता है– क्या मैं तुच्छ जानूं अर्थ भेद। कहते गोविंद वही कहूं– तुकाराम यह जोर देकर कहते हैं। संत साहित्यकारों की ऐसी श्रद्धा होना स्वाभाविक थी। परन्तु उन्नीसवी सदी के केशवसुत और तिलक की दृष्टि भी कुछ अलग नहीं थी– प्रतिभा 'अत्यन्त गूढ़ शक्ति' है– ऐसा केशवसुत कहते हैं। और मेरा काव्य मेरा अपना नहीं है। शारदा ने जो मंत्र दिया कानों में! वैसा काव्य उसके सम्मानों में कुछ ऐसा ही स्पष्टीकरण देते हैं।'[2]

केशव सुत की यह मान्यता दलित साहित्य की अंतःचेतना से मेल नहीं खाती है। इसलिए केशवसुत को आधुनिक मराठी साहित्य का कवि कुलगुरु कहना उचित नहीं जान पड़ता है। न मराठी के प्रगतिशील, वामपंथी या फिर दलित साहित्य के लिए।

दलित कवि कल्पना लोक में विचरण करने वाला या दुनिया से दूर एंकात में बैठ कर हवाई शब्द जाल बुनने वाला कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं है। वह तो जीवन की विसंगतियों, उत्पीड़न, शोषण के विरुद्ध एक संघर्षशील कार्यकर्ता है जिसने सामाजिक बदलाव के लिए स्वयं को मुक्ति–संघर्ष के साथ जोड़ा है। इसीलिए वह लेखन को ईश्वरीय देन नहीं मानता है। आनंद और मोक्ष के लिए साहित्य–कर्म से जुड़ने वाला, वह न तो 'सरस्वती पुत्र' है, न ही 'कला का पुजारी' है। यहां मराठी दलित कवि दया पवार का यह कथन इस तथ्य को पुष्ट करता है– 'आकाश से नहीं आती हैं कल्पनाएं मेरे पास। न कोई फरिश्ता मेरा हाथ पकड़ कर लिखता है। इन बेकार की बातों पर मुझे भरोसा नहीं।

दलित रचनाकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ रचनाकर्म से जुड़कर साहित्य की सृजनात्मकता में मानवीय सरोकारों, संवेदनाओं और स्वतंत्रता, भाईचारे की भावनाओं को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति और उसकी पीड़ा, उसके सुख–दुःख महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें दलित हो या स्त्री उसके प्रति रागात्मक तादात्मय स्थापित करना दलित साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है।

दलित लेखक अपने जीवन अनुभवों और प्रेरणा को ही महत्त्व देता है। और यह प्रेरणा उसे डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष से मिली है। उन तथाकथित सरस्वती–पुत्रों का इस प्रेरणा से कोई सरोकार नहीं है।

डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष से प्रेरणा लेकर दलित कवि समूची समाज व्यवस्था को बदलने के लिए तत्पर है। मराठी दलित कविता के कीर्तिस्तंभ नामदेव ढसाल समाज से गैर बराबरी की सोच और मानसिकता को समाप्त कर नये समाज की निर्मित्ति का स्वप्न देखते हैं।

रक्तात पेटलेल्या अगणित सूर्यानो
किती दिवस सोसयची ही घनघोर नाके बंदी?
मरे पर्यत राह्यचे का असेच युद्ध कैदी?
ती पाहा रे ती पाहा, मातीची अस्मिता अभाळभर झालीय
माझ्याही आत्म्याने झिंदाबादची गर्जना केलीय

रक्तात पेटलेल्या अगणित सूर्यानों
आता या शहरा शहराला आग लावीत चला।[3]

(मेरे लहू में प्रज्वलित असंख्य सूर्य
कितने दिन सहोगे यह घनघोर बंदीवास?
क्या बने रहोगे इस तरह युद्ध कैदी?

वह देखो रे देखो मिट्टी की अस्मिता
आकाश भर में फैल गयी
मेरी आत्मा भी जिंदाबाद की घोषणा कर बैठी
मेरे रक्त मे प्रज्वलित असंख्य सूर्य
अब इन नगरों नगरों को आग लगाते चलो)

दलित साहित्य की प्रेरणा ही जनतांत्रिक एवं कानूनी मार्ग से संघर्ष करते हुए सामाजिक न्याय एवं विकास के समान अवसर पाने के लिए, जो हमारे अधिकार हैं, उन्हें हम अपने सामर्थ्य पर, बल पर प्राप्त करवा लेंगे। इसके लिए अपेक्षित साहस का निर्माण करना है। अपना अधिकार जताने के लिए, इसके लिए हिम्मत जुटाने के लिए अस्मिता का निर्माण होना चाहिए। वही अस्मिता, वही साहस साहित्य में बार–बार अभिव्यक्त हो रहा है।

इसी अस्मिता से मुर्दों में जान आयी
आज सारे शमशान जी उठे हैं
पत्थर की छाती पर उकेरते हुये
कल का इतिहास।[4]

कवि नवनिर्माण के लिए जर्जर हुई व्यवस्था को जला कर राख कर देना चाहता है। जिस व्यवस्था ने समाज में अस्पृश्यता, जातीयता, धार्मिक विषमता को प्रस्थापित किया है, उसे समाप्त करके एक नयी व्यवस्था जो समता और बंधुता पर आधारित होगी, को कवि स्थापित करना चाहता है।

दलित कविता का विद्रोह सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था से है जिसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने वर्चस्व को स्थापित करके दलितों के जीवन को नरक से बदतर बनाने में अहम भूमिका निभाई है, यहां तक कि अस्पृश्यता का एक ऐसा कुचक्र पैदा

किया कि दलित बूंद–बूंद पानी को तरस गए। यहां तक कि प्रकृति निर्मित नदी, नालों, जलाशयों के पानी भर भी उनका एकाधिकार था जहां जानवर पानी पी सकते थे, लेकिन दलित नहीं। इसी अन्याय के विरुद्ध डॉ. अम्बेडकर ने 1927 में मुक्ति–संघर्ष का पहला कदम उठाया था। महाड के चवदार तालाब के लिए दलितों का आंदोलन डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ था। दलित–आंदोलन का यह एक महत्त्वपूर्ण आयाम था जिसने दलितों के सोये हुए स्वाभिमान को जगाया था। दलित कवियों ने इस स्मृति को अपनी कविताओं में संजोकर रखा है जो आने वाली पीढ़ियों को प्रेरणा देती रहेगी। त्रयम्बक सपकाले की कविता में इस क्रांति की अनुगूंज सुनाई देती है–

महाडच्या चवदार तळयाचे पाणी।
गावकुसाबाहेरील कोठारात पडले।
आणि सुरूंगाचा मोठा स्फोट झाला।
शिडी नस्लेली चिरे बंदी चार मजली।
उन्नत गढी ढासळू लागली।[5]

(महाड के चवदार तालाब का पानी बहिष्कृत बस्ती पर पड़ते ही बारूद भरे दिलों में विस्फोट हुआ। बगैर सीढ़ियों की चार मंजिला (वर्ण–व्यवस्था) उन्नत हवेली ढहने लगी।)

महाड मुक्ति–संघर्ष ने दलित आंदोलन को एक नई ऊर्जा दी थी। हजारों वर्ष के अंधकार से बाहर आने की उम्मीद दिखाई दे रही थी। सामाजिक उत्पीड़न के अतीत का संताप इतना गहरा था कि उनके शब्द जैसे आक्रोश की भट्टी से तप कर निकल रहे थे। नामदेव ढसाल की कविताओं में हिन्दू संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था के प्रति यह आक्रोश मुखर हो रहा था।

हे वाद्या! तू माणसा लाच असे हीन केलेस

तुला वेशी बहेरता आक्रोश ऐकू आला नाहीं का?
पेटलेला माणूस दिसला नाही का?
उदासीनतेचा विराटपणा तुला स्पर्शला नहीं का?
विजेचा लोक वेशीची तटबंदी फोडून आत येतोय रे
सांग का देत नाहीस त्याला कडकडून मायेचे आलिंगन?[6]

ओ वादी! तूने मनुष्य को ही हीन बना दिया
तुझे सीमा से बाहर का आक्रोश नहीं सुनाई दिया?
अंगार भरा इन्सान नहीं दिखाई दिया?
उदासीनता की विराटता का स्पर्श तुझे नहीं हुआ?
बिजली शलाका सीमा की तटबंदी तोड़कर आ रही है
बता, क्यों नहीं देता उसे ममता भरा आलिंगन?

यह समाज व्यवस्था ही थी जिसके कारण दलितों को गांव, शहर से बाहर रहने को बाध्य किया गया। दलित कवि ने समाज के सामने ज्वलंत सवाल उठाकर संस्कृति के महान मठाधीशों को कठघरे में खड़ा किया। मराठी कवि अर्जुन डांगले की इन पंक्तियों में दलित की पीड़ा और वेदना की अभिव्यक्ति के साथ मानवीय संवेदनाओं का चित्रण कविता की गहनता का परिचय देता है, जहां आक्रोश ऊर्जा में परिवर्तित होता दिखाई देता है।

अठ्ठावन कोटीची गर्दी असलेल्या या भू प्रदेशात भला असेच
जगावे लागणार हया गर्दित कोण कुणाच्या व्यथा, एकणार,
मला हवेय जगणे ज्यात स्वत्व असेल
मला हवीय माती
जी माती लागताय डोळ्यातले पाहिजे पाणी।[7]

(अठ्ठावन करोड़ की भीड़ भरे इस देश में

ऐसे ही जीना होगा भीड़ में कौन किसकी व्यथा सुनता है
मैं चाहता हूं जीऊं ऐसा जीवन जिसमें अपनापन हो
मुझे ऐसी मिट्टी चाहिए
जिसे माथे से लगाते ही आंखों में आंसू आ जाए)

अर्जुन डांगले की इस कविता में अस्पृश्यता से उत्पन्न पीड़ा की वेदना की अभिव्यक्ति है जो भीतर तक आहत करती है। सामाजिक वेदना का यह स्वर दलित कविता की आंतरिक वेदना है जिसे दया पवार की कविता में भी अनुभव किया जा सकता है :

हे महान देशा,
किसी दिवस चालणार! तुझा हा पंक्ति प्रपंच
आम्ही गावाबाहेर राहतो
यात आमचा दोष काय;
देशाबाहेर तर राहात नाहीना
आमची पंगत नेहमीच उशीरा बसते
तो ही उकिरडयारवर
वैष्णव जन तो तेने कहिये
जो पीर पराई जाने रे।[8]

(ऐ मेरे महान देश!
कब तक चलेगा यह तेरा छुआछूत का खेल
हम रहते हैं गांव के बाहर
इसमें हमारा क्या दोष?
देश के बाहर तो नहीं रहते?
सब से अंत में दिया जाता है अन्न हमें
वह भी घूरे के ठौर
वैष्णव जन तो तेने कहिये
जो पीर पराई जाने रे)

भारतीय ग्रामीण जीवन की सामाजिक स्थितियों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अपनी पकड़ मजबूती के साथ बनायी है। लोकनाथ यशवंत की कविता 'समाजशास्त्र' ऐसी ही मान्यताओं की ओर ध्यान खींचती है, जो आपसी रिश्तों को भी अपनी गिरफ्त में जकड़ लेती है–

गरिबाची बायको असते
गावाची वहिनी
श्रीमंताची बायको होऊन जाते ताई

अशी दडून असते सुप्त मनात
एकानामीची जांगडगुंताई।[9]

(गरीब की जोरू
पूरे गांव की भौजाई
श्रीमंत की बीवी हो जाती है सब की बहन

ऐसे ही छुपे बैठी है सुप्त मन में
योजनाबद्ध इकोनोमिक्स)

हिन्दी में भी सामाजिक शोषण के विरोध के स्वर कविता के माध्यम से उठ रहे थे। अनेक कवि लगातार अपनी रचनाओं में इस स्वर को मुखर कर रहे थे। जयप्रकाश कर्दम की कविता का यह अंश देखें–

मेरे ऊपर होने लगे
जुल्म और ज्याद्तियों का जोर
गवाह है इतिहास की रौंदता रहा है,
हमेशा से अहिंसा को
हिंसा का अट्टहास
लेकिन अब फड़कने लगी हैं मेरी भुजाएं

और कुलबुलाने लगे हैं

फावड़ा, कुल्हाड़ी और हथौड़ा पकड़े मेरे हाथ,
काट फेंकने को
उन हाथों को जिन्होंने बरसाये हैं
अनगिनत कोड़े मेरी नंगी पीठ पर।[10]

हिन्दी दलित कविता में सामाजिक व्यवस्था के प्रति गहरा आक्रोश दिखाई देता है जो अपने विरोध को तीखे शब्दों में अभिव्यक्त करती है। सी.बी. भारती की इन पंक्तियों में व्यवस्था के प्रति जो गहन वितृष्णा है, उसे महसूस किया जा सकता है।

यह लाजिमी है कि थूकें
उस प्रथा पर

करती हो जो, मनुष्य का विरोध
जो तोड़ती हो
मनुष्यता के रिश्ते को।[11]

सुशीला टाकभौरे ने हिन्दी दलित कविता में जहां एक ओर स्त्री विमर्श को एक नया आयाम दिया, वहीं सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान स्त्री विरोधी शास्त्रों पर भी तीखे शब्दों में विरोध दर्ज किया। उनकी कविता का एक अंश देखे–

अगर बन जाऊं मैं
सनातन परम्परा को तोड़ने हेतु
तुम्हारे लिए अभिशाप

गहरे कूँएं तक पहुंचा दूं
तुम्हारे चिंतन के आधार ग्रंथ।[12]

दलित कवि समाज व्यवस्था के सभी छल कपट को पहचान चुका है। अब उस पर किसी भी तरह विश्वास करने के लिए तैयार नहीं है। इस व्यवस्था के प्रति उसके भीतर गहरा आक्रोश है जिसके खिलाफ वह दृढ़ता से खड़ा हो चुका है। देवेश कुमार चौधरी 'देव' की कविता ''मेरे पुरखों मुझे क्षमा करना' में वे इस व्यवस्था से प्रतिशोध लेने के लिए तैयार हैं।

मेरे पुरखों मुझे क्षमा करना
मैंने तुम्हारी रस्में तोड़ी हैं
मैंने सिर झुकाकर पांय लागू
अपनाने की परम्परा नकारी है
रूखा–सूखा जूठन खाने की बजाए
मैंने धरती का सीना फाड़कर, अन्न उगाया है
मैंने जमींदार के खेत में मजूरी करने के बजाए
जो जोते जमीन उसी को मांग की है।

मैंने बहुत कोशिश की
मानव को मानव समझा जाए
उसे भेड़–बकरियों की तरह न हकाला नाए
पर अफसोस
सारे प्रयत्न निरर्थक रहे
मैं रहा जन का जन वे बने रहे हरि
मुझे नहीं दिया पाए मुक्ति उनके अन्यायों से
अब मैं अपने कन्धों पर उनकी
अय्याशी का जुआ उठाने को तैयार नहीं

मेरे पुरखों।
मुझे क्षमा करना
मैंने तुम्हारी तरह समर्पण करने की बजाए
प्रतिशोध लेने की कसम खाई है।[13]

हिन्दी दलित कविता और मराठी दलित कविता के अध्ययन से यह तथ्य स्वाभाविक रूप से सामने आता है कि दलित कवि के सामने हजारों साल का सामाजिक उत्पीड़न जो समाज–व्यवस्था के द्वारा जनित है और उसे सुदृढ़ करने में धार्मिक ग्रंथों का बहुत बड़ा योगदान है। साथ ही साहित्य में भी ऐसे तत्व अंतर्निहित हैं जिन्होंने इस व्यवस्था को पुख्ता करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है जिसे दलित कवि भुला नहीं पा रहा है। इसीलिए वह इन ग्रंथों के विरोध में अपनी कविताओं की अभिव्यक्ति को अधिक से अधिक आक्रोशित स्वर देने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई पड़ता है।

मराठी दलित कवि राजेन्द्र सोनवणे की एक प्रसिद्ध कविता में सामाजिक और धार्मिक संदर्भों का विरोध और नकार गहरे अवसाद के साथ अभिव्यक्त हुआ है–

जब चर्च बेल हो गई
तब वे चर्च में एकत्र हुए
जब मुल्ला ने अजान दी
तब वे सब मस्जिद मे एकत्र हुए
अरे, जब मंदिर में घंटी बजी
तब वे मंदिर के बाहर ही थे
पुजारी के नकारे हुए।[14]

राजनीतिक, आर्थिक शोषण का विरोध

दलित कविता का मानना है कि जो स्वतंत्रता ब्रिटिश सत्ता से मिली

है, वह मात्र सत्ता परिवर्तन था जो साम्राज्यवादियों के हाथ से निकलकर ब्राह्मणवादियों के हाथ में आ गई, जिसमें न्याय, समानता और जनतांत्रिक अधिकार की बात करना अर्थहीन है क्योंकि ब्राह्मणवाद का आधार वर्ण–व्यवस्था है, जिसमें समानता के लिए कोई जगह नहीं है। हिन्दी दलित कवि लक्ष्मीनारायण सुधाकर की यह काव्यात्मक टिप्पणी गहरे भावबोध के साथ इस तथ्य की पुष्टि करती है–

दो चार चमन में फूल खिले
कहते हैं ऋतुराज बसंत हुआ
ठूंठों पर नजर नहीं डाली
जिनके जीवन का अंत हुआ
पर कटे परिंदों से पूछो
जिनका धू–धू कर नीड जला
आजाद हुआ बस लाल किला।[15]

समाज के उच्चवर्गों ने उत्सव मनाया इस स्वतंत्रता का, लेकिन दलित और शोषित समाज के जीवन में कोई बदलाव नहीं दिखाई दिया। दलित समाज जातिवाद और वैमनस्य की भावना को आज भी गहरे अवसाद के साथ जी रहा है। जयप्रकाश लीलवान की कविता में यह पीड़ा साफ–साफ सुनी जा सकती है।

यह तो पहले भी जग जाहिर था
कि क्रांति के पथ में खड़ी जातियां
जिन पर यह समाज शासन करता है
और जिस शासन के प्रणेता हैं
यहां के बिस्वेदार और धनाढय
जो न जाने कब इस राष्ट्र
कमर पर अपने खखारों की

बरसात को कभी मुख्यधारा
तो कभी धर्म कहते आये हैं।[16]

इसी तरह जयप्रकाश लीलवान वामपंथी विचारधारा से जुड़े लोगों का संबोधित करते हुए कहते हैं–

कामरेड
इनके विरुद्ध युद्ध
जो बहुत पहले शुरू होना था
नहीं हुआ, कहां गया युद्ध
और आप क्या इतना भी
नहीं समझते कि जब तक
बिस्वेदारों के आकाश को
समतल बनाने वाली बातें
बहानों की लाठियों से
पीटी जाती रहेंगी तब तक
हिन्दुत्व की 'सुक्ति विलास' और पश्चिम छाप की
कोई भी 'क्रांति' किताबों से उठकर किताबों में ही
ढेर होती रहेंगी।[17]

नामदेव ढसाळ की एक बेहद लोकप्रिय कविता है '15 अगस्त, 1971' जिसमें के स्वतंत्रता का अर्थ जानना चाहते हैं–

15 अगस्त एक संशयास्पद महाकाय भगोष्ट
स्वातंत्र्य कुठल्या गाढवीयं नाव आहे
रामराज्याच्या कितव्या घरात आपण रहातोत
उदगम, विकास, ऊंची, संस्कार कंचा मूलभूत स्वातंत्र्याचा।[18]

(15 अगस्त एक संशयास्पद महाकाय भगोष्ट है
स्वतंत्रता किस गदही का नाम है
रामराज्य के कौन से घर में हम रहते हैं
उदगम, विकास, संस्कार संस्कृति कौन–सा मूलभूत अर्थ है
स्वतंत्रता का।)

समकालीन राजनीतिक और सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य को दलित युवा पीढ़ी बहुत करीब से देख रही है। मराठी युवा कवि लोकनाथ यशवंत ने 'कबीर' शीर्षक कविता मे इस परिदृश्य पर सवाल उठाये हैं, साथ ही कबीर की प्रासंगिकता को भी अपने विश्लेषण के दायरे में खड़ा किया है–

कबीर आपळे झाले भोपाळ
या विषाक्त वायूत्ना कळता येत, न धावता
ना बघता येत, ना मिटता येत डोळयांच्या पापण्या
श्वास घेताच मृत्यू मिठी मारतो करकचून
आपल्या मनातील मस्जिद केव्हाच उद्ध्वस्त केलीय
या लुच्च्यांनी।

जीवन किती सुंदर, सळ, नंदी होते कबीर,
या दलिदरांनी दुनिया खराब करून टाकली अप्लया डाळयां देखत।

दोहे लिहुन जगाला संदेश देण्याचा
काही ही उपयोग झाला नाही कबीर!
या दलालांनी अण्वस्त्राचं गाठोडं
घेतलं शेवटी डोक्यावर।[19]

(कबीर,
अपना तो भोपाल हो गया है
इस जहरीली हवा में न भाग सकते हैं न दौड़ सकते हैं
न देख सकते हैं न बंद कर सकते हैं आंखों की पलकें
सांस लेते ही मौत गले लग जाती है कसकर।

अपने मन की मस्जिद को पहले ही बरबाद कर दिया
इन मक्कारों ने

जिन्दगी कितनी हसीन, सीधी, खुशफहम थी कबीर
इन दरिंदों ने दुनिया खराब कर डाली अपनी आंखों के सामने

दोहे लिख कर दुनिया को संदेश देने का
कुछ भी लाभ नहीं हुआ कबीर।
इन दलालों ने अण्वास्त्रों की गठरी को
उठा लिया है आखिर सिर पर!)

(अनुवाद–निशिकान्त ठकार)

राजनीतिक स्तर पर भारत में लोकतंत्र है। लेकिन एक दलित के लिए इस लोकतंत्र का स्वरूप बेहद डरावना है। जयप्रकाश कर्दम की इन पंक्तियों में यह पीड़ा महसूस होती है–

सूरज की गर्मी से
नहीं झुलसता मेरा शरीर
उसे झुलसाता है
यंत्रणाओं का सूरज
वे कहते हैं

ठाकुर के खेत से
सेठ की तिजोरी तक
मेरा ही लहू बहता है
वही सबसे सस्ता है।[20]

विकास, समानता, आधुनिकता, स्वतंत्रता आदि का डंका पीटा जाता है लेकिन दलित आज भी उपेक्षित है। हर रोज दलित उत्पीड़न की घटनाएं देश के विभिन्न क्षेत्रों में घटित हो रही हैं। हरियाणा में लगातार ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति ने सभी का ध्यान खींचा है। लेकिन देख सुन कर भी जैसे समूचा राष्ट्र चुप्पी साधे बैठा है। लेकिन दलित कवि के लिए ये घटनाएं गहरे संताप का कारण बनती हैं। हिन्दी दलित कवि जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं–

गोधरा से झज्जर तक
देश सांप्रदायिकता की आग में
जल रहा है
जातिवाद की भट्टी में
भुन रहा है।[21]

लोकतांत्रिक व्यवस्था के बावजूद दलित आज भी समानता, और दो जून की रोटी के लिए तरस रहा है, तभी तो वह सवाल उठाता है। हिन्दी दलित कवि श्यौराज सिंह बेचैन की कविता में इस पीड़ा को मार्मिक ढंग से उठाया गया है।

भूखे नंगे बेघर
दलित से तो पूछे कोई
यह कौन–सी सदी है?
यह कौन–सा जमाना है?[22]

सत्ताधारियों को न गरीब जनता की चीख–पुकार सुनाई पड़ती है, न दलितों का उत्पीड़न दिखाई देता है। दया पवार की कविता 'सिद्धार्थ नगर' में एक दलित बस्ती को उजाड़ कर उसकी जगह एक भव्य कालोनी बनाने की योजना पर तीखी टिप्पणी की गई है–

हे सिद्धार्थ तुझ्या नावाचा नगरीला
या विसाव्या शतकात
सत्तेचा जुल्मी नांगर लागलाय
झोपड़ी न झोपड़ी कशी उन्मुलन पडतेय
तुझे नाव असलेली पत्राची पाटी
त्यावर पोलीसांची व्हेन सरकून गेली
खोपटा तील–चटाई–चिनपाट
सत्तरा पिढ्यांचीभली कमाई दंडुकयाने विस्कटलेली
उघडी नागडी चिल्या पिल्यांची पाटी हाहाकार करीत रस्त्यावर आली।[23]

(हे, सिद्धार्थ! तेरे नाम की नगरी को
इस बीसवीं सदी में
जुल्मी सत्ता का हल लग गया है
हर झुग्गी–झोपड़ी उखड़ रही है
तेरे नाम की लिखी टीन की पाटी
उस पर से पुलिस वैन गुजर गई
झुग्गी की चटाई–चिनपाटकी
सत्रह पीढ़ियों की कमाई लाठी–लाठी ने बिखरा दी
नंग–धढंग बच्चों की पलटन
हाहाकार करती सड़कों पर आ गयी)

जनता द्वारा चुने गए सांसद प्रतिनिधि दिल्ली पहुंचते ही विशिष्ट हो

जाते है। नामदेव ढसाळ अपनी कविता 'लोक–प्रतिनिधि' में ऐसे ही चुने गए नेता पर विक्षुब्द्ध कहते हैं–

एक लोक प्रतिनिधि होता
निवडून आला तेंव्हा झाला आधार आमचा
अठराविश्व दारिद्र्याचा होता
मार्तमेंट मध्ये काही महीने
काढल्यानंतर तो आमचा राहिला नाही।[24]

(एक था प्रतिनिधि
चुनकर आया तब उसे हमारा और दरिद्रता का आधार था
पार्लियामेंट में कुछ महीने रहने के बाद
वह हमारा नहीं रहा।)

लोकनाथ यशवंत की कविताओं में तीखा व्यंग्य होता है, जो भीतर तक तेज नस्तर की तरह चीर देता है। उनकी कविता 'समाजवादी' ऐसी ही कविता है। जो राजनीतिज्ञों के मुखौटे उघाड़ देती है–

समाजवादी धर्माधिकारी
मेंदूच्या देठापासून भाषण द्यायचे
''कोणतेही काम दर्जाचे नसते।
हीनही नसते!''

सकाळच्या ताज्या थंड हवेत फिरताना
मी त्यांना पोलाईटली महणालो–
सर, झोपडपट्टया स्वच्छ करायला चला!

त्यांच्या छातीत एकाएकी जोरदार कळ उठली।[25]

समाजवादी धर्माधिकारी
भाषण दे रहे थे
''कोई भी काम निम्न श्रेणी का नहीं होता,
हीन भी नहीं होता!''

सुबह की ताजा ठण्डी हवा में टहलते हुए
मैंने उनसे पोलाइटली कहा—सर, झोपड़ पट्टी के
सार्वजनिक शौचालय साफ करने चलें!

उनकी छाती में अचानक जोरदार पीड़ा उठी।

अर्जुन डांगले गहरी मानवीय अनुभूतियों के समर्थ कवि हैं। दलित पैंथर के संस्थापक, आंदोलन से जुड़े कवि, संघर्ष से उपजी कविता की अंतर्वेदना उनकी कविताओं में गहरे तक रची बसी है—

अठठावन कोटीची गर्दी
असलेल्या या भूप्रदेशात
मला असेच जगावे लागणार
ह्या गर्दीत कोण कुणाच्या व्यथा
एकणार मला हवेय जगणे ज्यात
सव्त असेल।[26]

(अठ्ठावन करोड़ की भीड़ भरे
इस देश में
ऐसे ही जीना होगा
भीड़ में कौन किसकी व्यथा
सुनता है
मैं चाहता हूं, जीऊं

ऐसा जीवन
जिसमें अपना हो)

दलित कवि के अंतस में युगों–युगों की तड़प धधकती आग बन चुकी है, जो किसी भी क्षण ज्वालामुखी के लावे की तरह सब कुछ जला देने को आतुर है। त्र्यंबक सपकाले की मराठी दलित कविता एक धधके अंगारे की तरह है–

हा ज्वालामुखी जागष्त होणार आहे
धग–धगत्या उसकपास्य
लवहाचा महापूर वाहणारजो मारगेट येईल ते स्वाह करणार।[27]

(यह ज्वालामुखी जागृत होगा
उफनते लावे की बाढ़ आएगी
जो भी आएगा मार्ग में
उसे भस्म करेगी)

चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था का विरोध

भारत में अस्पृश्यता की भावना का जन्म चातुर्वर्णीय–व्यवस्था से उत्पन्न ऊंच–नीच की विषमतापूर्ण प्रथा से ही हुआ है जो किसी भी तर्क से न्यायोचित नहीं है। 'अस्पृश्यता व्यक्ति के बीच जन्म (अथवा कर्म) के आधार पर सामाजिक भेदभाव एवं ऊंच–नीच की भावना को प्रश्रय देती है। यह किसी व्यक्ति का जन्म के आधार पर स्पर्श करने का दर्जा न दिये जाने की मनोवृत्ति की परिचायक है। अस्पृश्य को हीन दृष्टि से देखने, उसके साथ सामाजिक सम्बन्ध बनाने से कतराने तथा उसकी प्रगति को फूटी आंखों से न देखने की प्रवृत्ति, जो आज अनेक तथाकथित प्रगतिशील व्यक्तियों में भी देखने को मिलती है।'[28]

भारतीय समाज में मनुष्य 'जाति' के साथ पैदा होता है और

'जाति' के साथ मरता है। जब किसी नये व्यक्ति से परिचय होता है और वह अपने नाम के साथ उपनाम, गोत्र, जाति संकेतक नहीं लगाता है तो सामने वाला घुमा फिरा कर यह जानने की कोशिश करता है कि इसकी जाति क्या है? दलित कविता ने समाज में चली आ रही इस मानसिकता पर तीखा प्रहार किया है। हिन्दी–मराठी के अनेक कवियों ने जाति और चातुर्वर्ण्य के विरोध में कविताएं रची हैं।

अस्पृश्यता, वर्ण–व्यवस्था, आदि के विरुद्ध दलित कवि आक्रोश से भर उठता है। मराठी समीक्षक म.मि. चिटणिस कहते हैं– 'जिस लेखक के अनुभव विश्व का उद्‌गम इस समाज में है, वह समाज के अन्योन्य रूप से जुड़ा हुआ है। दलित लेखक धर्म के कारण प्राप्त दर्जे के प्रति क्षुब्ध रहते हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उनकी विशेषता यह है कि यह अहसास उनके लेखन को प्रखर और तेजस्वी बनाता है। उसका यही अहसास व्यक्तिनिष्ठा को न खोते हुए समाजनिष्ठ हो जाता है। कवि का संताप असहायता, अनैतिकता, आज तक वंचित रखे गए, परन्तु अब जागृत होकर न्याय की मांग करने वाले एक बहुत बड़े समूह के विमोक्ष का रूप लेता है।'[29]

मीना काम्बले की इन पंक्तियों में जाति–व्यवस्था पर गहरा आक्रोश दिखाई देता है–

इस जाति का अब क्या करें?
खाल की तरह उतारकर
फेंक दूं किसी गहरे समंदर में?

समुद्र मंथन करेंगे ये लोग
और खींच लाएंगे बाहर ये
जाति गहरे तल से
अब तो मैं

जाति को निगल जाये
ऐसे 'नीलकण्ठ' की शोध में
आंखें बिछाये बैठी हूं...![30]

पंकज गौतम अपने लेख में जयप्रकाश कर्दम के हवाले से कहते हैं– 'जाति उसे रोज दंश मारकर आहत करती है। हजार तरह के दंश दलित रोज झेलता है, किन्तु जाति का दंश सर्वाधिक पीड़ा देता है। समाज का जातिगत व्यवहार उसे हर पल इस बात का अहसास कराता है कि वह मनुष्य नहीं है। या तो किसी दूसरे लोक का अजूबा प्राणी है या फिर दो पाया जानवर जिसका स्पर्श भी अशौच का कारण बनता है। दलित कवि सवर्णों की इस सभ्यता को धिक्कारता है। और व्यंग्यात्मक रूप से इस मानसिकता पर प्रहार करता है।[31]

दलित कविता का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं है। अनुभव और विभाव की शास्त्रीय परिभाषाओं की मृगमरीचिका में उलझकर उसके सामने मानवीय सरोकारों से दूर होने का संकट है। उसके सामने तो हजारों साल की सामाजिक व्यवस्था, चातुर्वर्ण्य के रूप में है, जिसने मनुष्यता के अस्तित्व को ही छिन्न–भिन्न कर दिया हैं। उससे टकराने और उसके समूल निर्मूलन की प्राथमिकता सर्वोपरि है। दलित कवि इस वेदना को शब्दों में पिरोकर मानवीय पक्षधरता के लिए आक्रोशित स्वर में चीखता है।

तुमने सौंपी है घृणा
अपने बच्चों को
मिली थी तुम्हें जो विरासत में
तुम्हारे बाप–दादों से
और उन्हें उनके बाप–दादों से
घृणा की यह आग
फैलती रही है सदियों से![32]

दलित कविता चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था को अमानवीय मानती है। क्यों उसने आदमी को विभिन्न खांचों में बांट कर उसकी मानवीयता को कमजोर करके उसे हीनता बोध से भरा है। मनुष्य पैदा होते ही छोटा या बड़ा हो जाता है। जबकि पैदा होने में उसका अपना कोई हाथ नहीं होता है। हिन्दी कवि सी.बी. भारती 'आदमी' शीर्षक कविता में इसी विचार को अभिव्यक्त करते हैं–

आओ, हम सब उठा लें कुदाली
फावड़े और कलम
और दफना दें गहरे–
इस जातिवादी, वर्णवादी–व्यवस्था को
जिससे फिर से जन्म ले सके आदमी
केवल आदमी
मुकम्मल आदमी।[33]

दलित कविता चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था का विरोध करती है। साथ ही उन धर्म–ग्रंथों का भी, जिन्होंने इस अमानवीय व्यवस्था को कठोरता से समाज में लागू किया। दलित कवि समाज में बदलाव चाहता है। उसकी कल्पना में एक ऐसा समाज है, जहां किसी भी प्रकार की ऊंच–नीच नहीं हैं। मराठी के सुप्रसिद्ध कवि वामन निम्बाळकर कहते हैं–

मनुच्या वारसदारानो
अनंत वर्षापासून रचलेत तुम्हीं
माती दगडाचे ढीग आमच्या मेंदूवर
विश्वास ठेवा कदचित
ह्याच मेंदूतून बाहेर पडतील असंख्य ठिणग्या।[34]

(मनु के वंशजों
हजारों वर्षों से रचे तुमने
मिट्टी पत्थरों के ढेर हमारे मस्तिष्क पर
विश्वास करो शायद
इसी दिमाग से फूट पड़ेगी असंख्य चिंगारियां)

इसी तरह नामदेव ढसाळ की कविताओं में आक्रोशित अभिव्यक्ति का जो तेवर दिखाई देता है, वह मराठी दलित कविता की अंतर्निहित चेतना है जो दलित मुक्ति–संघर्ष से उपजी है–

मी तुला शीव्या देतो
तुझ्या ग्रंथाला शीव्या देतो
मी हे सारे काही बोलणार नव्हतो
पण माझे हात जागे झालेत।[35]

(मैं तुम्हें गालियां देता हूं
तुम्हारे ग्रंथों को गालियां देता हूं
तुम्हारे पाखंडीपन को गालियां देता हूं
मैं यह सब बोलना नहीं चाहता था
लेकिन मेरे हाथ जागृत हो गये हैं)

हिन्दी दलित कविता में भी विरोध और आक्रोश का स्वर मौजूद है। हजारों वर्ष का गुस्सा कविता में फूट पड़ता है–

यह लाजमी है कि थूकें
उस प्रथा पर
करती हो जो, मनुष्य का विरोध

जो तोड़ती हो
मनुष्यता के रिश्ते को।[36]

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था को लेकर मराठी और हिन्दी दलित कवि के मन में गहरा क्षोभ हुआ है। हजारों साल की इस व्यवस्था ने दलितों को जो नारकीय यातनायें दी हैं, उस दलित कवि का आक्रोश कविता में फूट पड़ता है। इस आक्रोश को वह छिपाता नहीं है।

तो सुनो वशिष्ठ
द्रोणाचार्य तुम भी सुनो
हम तुमसे घृणा करते हैं
तुम्हारे अतीत
तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं।[37]

दया पवार इस जाति–व्यवस्था को तोड़ने के लिए अंतर्जातीय संबंधों का आवाहन करते हैं–

तुझ्या–माझ्या रक्त संकरातूनच
मनूची अजस्र भिंत्कोळणार आहे
तेव्हा ये! हेमांगी ये।[38]

(तेरे मेरे रक्त संकर, से ही
मनु की भयंकर दीवारें ढह जाएंगी
तब ऐ हेमांगी, तू आ जाना)

यहां यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि एक जातिविहीन समाज में स्वाभाविक तौर पर उपयोगिता का, मनुष्य के बोध का, वर्ण–हित से सम्बन्ध नहीं होता है। समाज जब वर्णों में, जातियों में बंट गया तथा

मनुष्य ने स्वंय को भिन्न जाति स्थितियों में देखा तो उसकी उपयोगिता की अवधारणा पर भी वर्णीय छाप पड़ी तथा राजनीति वर्णीय भौतिक उपयोगिता की संकेंद्रित अभिव्यक्ति बन गई। हर वर्ण का लेखक अपने वर्ण की इच्छा, आकांक्षा और आदर्शों को व्यक्त करने के लिए साहित्य का प्रयोग करता है। और यहां तक कि अपनी जातीय कल्पना के अनुसार समाज का प्रयोग करता है। दलित अपने इस दृष्टिकोण को छिपाता नहीं है। बल्कि स्पष्ट घोषणा करता है। साहित्य को समाज में बदलाव के लिए एक औजार की तरह इस्तेमाल करता है–

मुझे पता है,
म्यान में तलवार कैसे निकालना
तरीका गलत होगा,
तो खुद ही कट जाओगे
रास्तों के पत्थरों को भी हथियार बनते देखा है
जब खामोशी चिढ़कर रास्तों पर आ जाती है।[39]

जाति–व्यवस्था ने दलितों से उनका मानवीय हक ही नहीं छीना बल्कि उन्हें स्वाभाविक विकास–यात्रा से भी दूर रखा। उनके लिए वे सभी दरवाजे बंद कर दिये गये थे, जो उन्हें मानवीय गुणों से समृद्ध करते हों। इस व्यवस्था ने उनकी राह में कंटीली बाड़ लगाई, अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए दलितों की संस्कृति को छिन्न भिन्न किया। इसीलिए दलित कवि के भीतर हजारों साल का आक्रोश फट पड़ता है–

जाति खेतों में पैदा नहीं हुई
घर के अन्दर बाहर रखे
गमलों में भी खिली कभी
किसी पेड़ के फल से भी
पल्लवित नहीं हुई

ना किसी कारखाने में निर्मित हुई

यह बनी है
तुम्हारे बोए बबूल के कांटों की नोक पर
बामन।
तुम्हारे ही स्वार्थ पूर्ति के लिए
यह हरदम
मुझे दंश मारती है

तुम नहीं काटोगे
अपने बोए बबूल
मुझे ही डालना होगा मट्ठा
तुम्हारी और इसकी जड़ों में![40]

दलित संवेदना का प्रमुख रूप नकार है। यह नकार समस्त यथास्थिति के प्रति है, जिसे वर्ण जाति पर आधारित हिन्दू समाज में निम्न वर्णों को भीषण यंत्राणाएं मिलती हैं, उस वर्ण–जाति–व्यवस्था का नकार दलित संवेदना का एक भाव है। यह नकार और भी अधिक व्यापक है। भारतीय समाज में उच्च वर्णीयों को जो मान्यताएं मिली और बहुजन, दलितों के हिस्से में दासता, आजीवन श्रम, सेवा, अस्पृश्यता, हीनता बोध आया, उन सबके विरुद्ध तीखा नकार पैदा हुआ। यह नकार उस कर्मवाद सिद्धान्त के भी विरुद्ध है, जिसने तमाम सूत्र–संचालन अपने हाथों में लेकर दलितों को महज एक इस्तेमाल की वस्तु भर बना दिया। यह नकार उन भारतीय हिन्दू संस्कारों के भी विरुद्ध है, जिसने जीवन यात्रा को एक काल्पनिक स्वर्ग–नर्क और पाप–पुण्य के चक्रव्यूह में फंसाकर, शोषण और अन्याय का धार्मिक रूप देकर दलित जीवन के गर्त में डाल दिया। यशवंत मनोहर अपनी लम्बी कविता में सीधे प्रहार करते हैं–

मैं पोतता हूं उबलता कोलतार
तुम्हारे तथाकथित देवता के मुंह पर
देवता को खड़ा करने वालों के
षड़यंत्रकारी शब्दों पर।[41]

इसी तरह नामदेव ढसाल भारतीय आस्तिकतावादी संस्कृति और उसे सुदृढ़ करने वाले ग्रंथों को, हेय बनाने वाली समाज व्यवस्था का नकारते हुए आवेशित स्वर में गालियों का प्रयोग करते हैं–

मेरी नजर में तुम पूरे उतर चुके हो
तुम्हारे लिए मुझ में न आदर है
न गुणगान करने की इच्छा
लगता है पान खाकर तुम पर
ढेर सारा थूक दूं
डुबो दूं विष्टा के मटके में

मैं तुम्हें गालियां देता हूं
तुम्हारे पाखंडीपन को
गालियां देता हूं।[42]

हिन्दी दलित कविता में भी इसी तरह का स्वर उभरता है। स्वर्ग–नर्क की कल्पना पर हिन्दी कवि अपनी अस्वीकार्यता रखते हुए कहता है–

स्वीकार्य नहीं जाना
मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में

वहां भी तुम पहचानोगे मुझे
मेरी जाति से ही।[43]

प्रतिष्ठित साहित्यकार बाबूराम बागुल के अनुसार, 'जाति समाज ने किसी भी जाति का भला नहीं किया। सभी जातियों जनजातियों को दैन्यता, दुःख, दासता सहन करनी पड़ी। अब भी उसमें ज्यादा बदलाव नहीं आया है। जाति–व्यवस्था शूद्रों, अतिशूद्रों को दीनता, दुःख, दासता देने में व उन्हें कायम रखने के लिए ही अस्तित्व में लाई गयी थी।

इस जाति व्यवस्था ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, भाईचारे की भावना का हमेशा विरोध किया है जबकि दलित साहित्य का केन्द्र बिन्दु समता, बंधुता, स्वतंत्रता, और न्याय है। यही इसके जीवन मूल्य है। यही इसकी शक्ति भी है।

हिन्दू धर्म और संस्कृति से विद्रोह

हजारों साल से दलित उत्पीड़न ने सामाजिक जीवन में जो विषमताएं पैदा की हैं, उनके कारण दलित समाज की सिर्फ सामाजिक ही नहीं बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक प्रगति भी छिन्न–भिन्न हुई है। धर्म की भूमिका को लेकर डॉ. अम्बेडकर की टिप्पणी धर्म की भूमिका पर पुनर्विश्लेषण की अपेक्षित मांग करती हैं– 'मैं आपको फिर से स्पष्ट करा देना चाहता हूं कि धर्म मनुष्य के लिए है, मनुष्य धर्म के लिए नहीं। जो धर्म तुम्हें मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहता, जो धर्म तुम्हारे भौतिक उत्कर्ष में बाधा पहुचाता है, वह धर्म कहलाने लायक नहीं है। जो धर्म अपने अनुयायियों को अपने ही धर्मावलम्बियों से मानवीयता का आचरण करना नहीं सिखाता, वह धर्म न होकर एक बीमारी है।'[44]

स्वामी विवेकानंद ने कहा था– 'यदि मजदूर लोग काम करना बन्द कर दें, तो तुम्हें अन्न, वस्त्र, मिलना बन्द हो जाए। और तुम इनको नीची जाति के मनुष्य मानते हो, और अपनी संस्कृति की शेखी मारते हो। आजीविका के संग्राम में व्यस्त रहने के कारण, उन्हें अपने ज्ञान की जागृति का अवसर नहीं। वे इतने दिनों तक मानव बुद्धि द्वारा

चलने वाले यंत्र के समान, सतत काम करते रहे हैं और चतुर शिक्षित समुदाय ने उनके परिश्रम के फल का सारा अंश ले लिया'।[45]

सुप्रसिद्ध मराठी साहित्यकार बाबूराम बागुल ने महाड में भाषण देते हुए कहा, 'मार्क्सवादियों और समाजवादियों को अपना शत्रु दिखायी देता है। अनेक राजनीतिक दलों को उनके विरोधी शत्रु दिखाई देते हैं। लेकिन हमारा शत्रु अदृश्य है। वह ग्रंथों में है। भाषा में है, शब्दों में है, वह मन में है, इतना प्रचंड और सर्वव्यापी होते हुए भी इस अदृश्य शत्रु के साथ हमारा युद्ध शुरू हो चुका है।[46]

दलित कविता हिन्दू धर्म की दार्शनिक, आध्यात्मिक विवेचनाओं से सहमत नहीं हैं। उनके लिए नकार है। हिन्दी दलित कवि नैमिशराय की कविता 'ईश्वर की मौत' की कुछ पंक्तियां देखें।

ईश्वर की मौत
उस दिन होती है
जब बनता है
कोई मन्दिर या मठ
जहां बैठता है कोई
ठग
लुटेरा

गुमराह करने वाला
ईश्वर की मौत
उस दिन होती है
जब किसी महिला को बनना पड़ता है
देवदासी
जाना पड़ता है
वेश्यालय![47]

लोकनाथ यंशवत भी ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। उनकी कविता 'भजन' में ईश्वर से कवि सवाल करता है–

हे तथाकथित फेमस ईश्वरा,
दयाघना
खूप चांगलं बघितलं तुम्हालाकृ ओळखलंही।
त्सुनामी बघितली
भूकंप पाहिले
महापूर बघितले।
विस्थापना भोगली।
दुष्काळ पाहिला, कुपोषण अनुभवले।
महायुद्ध पाहिले।
आईचा मृत्यू, मुलाचे अकाली निधन
आण्खी काय तुझी आयडेन्टिटीकृ परवर दिगार।[48]

(हे तथाकथित फेमस ईश्वर
दयानिधि
खूब अच्छी तरह देख लिया तुम्हें–पहचान भी लिया
सुनामी देख ली
भूकम्प देखा
चक्रवात देखे

महामारी देख ली
विस्थापना भोगी
दुष्काल देखा, कुपोषण देखा
महायुद्ध देख लिया
मां की मृत्यु, बेटे की मृत्यु का अकाल निधन
आखिर क्या है तेरी आईडेंटिटी...परवरदिगार!)

शरण कुमार लिम्बाले का मानना है– 'दलितों के हिन्दू धर्म को नकारने और घृणित कामों को न करने के पीछे जो मानसिकता है वह रूढ़ निकषों को नकारने के पीछे भी है। दलित जब नकारात्मक भूमिका अपनाते हैं तब प्रस्थापितों के अहम को ठेस पहुंचती है। तब वे अपने ही समर्थन में स्वयं बोलने लगते हैं। इतिहास की दुहाई देने लगते हैं। मूल्यों को शाश्वत, सार्वभौमिक, परंपरासिद्ध बताने लगते हैं। लेकिन यह तर्क टिकने वाला नहीं है। गलत रिवाज हजारों वर्षों से चल रहे हैं, इसलिए क्या उनका पालन करना चाहिए? निकष हजारों वर्षों से रूढ़ थे। क्योंकि दलितों ने उनके खिलाफ कुछ नहीं कहा। दलितों के हस्तक्षेप का इतिहास फुले–अम्बेडकर से शुरू होता है। यह कहां का तर्क है कि जो व्यवस्था अछूतों के स्पर्श, परछाई और वाणी को अपवित्र मानती है, उसे दलितों को नकारना नहीं चाहिए।'[49]

मराठी कवि ज.वि. पवार निर्भयता से कहते हैं–

जाळायचे म्हणतोय संस्कृतीचे मढे
जे शतकानुशतके तिरडीवर पडून आहे
ज्याला तुम्ही घाबरत आलाय। [50]

(जलाना चाहता हूं संस्कृति का प्रेत
जो सदियों से अर्थी पर पड़ा हुआ है
जिससे तुम डरते आये हों)

ज.वि. पवार मराठी दलित कविता के ऐसे हस्ताक्षर हैं जो परंपराओं और संस्कृति के विरुद्ध अपनी कविता को एक अस्त्र की तरह इस्तेमाल करते हैं।

भारतीय संस्कृति पर गर्व करने वाले और इसकी महानता का यशोगान करने वाले के दोहरे जीवन मूल्यों के प्रति दलित कविता का संतप्त स्वर विमोक्ष पैदा करता है। दलित कविता ने इस दोहरी

मानसिकता को नकारते हुए उस पर तीखे शब्दों से प्रहार किया है। अरूण काम्बले की कविता में जीवन का यह दुखद पहलू अपने पूरे तेवर के साथ अभिव्यक्त हुआ है–

आज आम्ही गद्दार झालेय
तुमच्या संस्कृतिशी ढोंगी मानवतेशी
आणि बांझ धर्माशी सुद्धा
समुद्र खळवळलाय
आमच्या मुक्ति च्या घोषणांचे हिल्लोच देतील धडकी तुमच्या
ढोंगी संस्कृतिवर
आणि करतील प्रक्रिया सर्वावर।[51]

(आज हम गद्दार हो गये हैं
तुम्हारी संस्कृति से, ढ़ोंगी मानवता से
बांझ धरम से भी
सागर में उफान आया है
मुक्ति की घोषणा की
गर्ज की कम्पन से ढह जायेगी
ढ़ोंगी संस्कृति और सब पर प्रक्रिया करेगी)

दया पवार की सांस्कृतिक वेदना जहां एक ओर आक्रोश से भरी अभिव्यक्ति के रूप में कविता में उतरती है, दूसरी ओर एक गहरा आत्मविश्वास, मूल्य बोध भी साफ तौर पर उनकी कविता 'मरण' में देखा जा सकता है–

मागीळ पाणी गढूळ आले
पुढच्या पाण्यान किती जपावं
हां हां मणता वणवा आला
एका झाडानं किती टकरावं

सणाणत गोळया चालून आल्या
पंखानं आभाळ किती तोलावं
धारदार सुळयांच्या दर्वाज्याला
हत्ती जसे चिपा होतात
तसे आपण हसत हसत मरांव।[52]

(पिछला पानी दूषित था,
अगला कैसे जतन करें
देखते–देखते दावानल आया
एक वृक्ष कब तक टकराये
सनसनाती गोलियां आती
पंखों से आकाश कैसे संभालें
तीक्ष्ण कील शीर्षों वाले दरवाजे पर
हाथी जैसे चिपटे होते
क्या वैसे ही हंसते–हंसते मरना होगा)

मराठी दलित कवि अर्जुन डांगले की कविताओं में भी संस्कृति के विरूद्ध एक ऐसा आक्रोश है जो सब कुछ बदल देने के लिए आतुर है–

आमच्या व्याथांचा जथा सपाट मैदनावर
अन देणार आहे, देणार आहे टक्कर या संस्कृतिच्या जुनांट बुरूजावर
कदाचित नाहीं पाडवार खिडार होईल रक्तबंबाल
राहील फक्त वेदनाच माथी
सज्जन हो
फिकिर नाही
आम्हाला त्याची
जगूशक्तो घेउन हा वेदनाचा भार

कारण आम्ही युगा–युगाचे दुःखांचे बलुतेदार। [53]

(हमारी व्यथाओं का जत्था सपाट मैदान पर
देगा टक्कर इस संस्कृति के पुराने बुर्ज पर
शायद न पड़े खंडहर
ळोंगे रक्तस्नात
रहेगी सिर्फ वेदना
सज्जनों, फिकर नहीं हमें उसकी
जी सकते हैं लेकर वेदनाओं का भार
क्योंकि हम युग–युग से दुःख के हैं दास)

दलित कविता ने दलित समाज को मुखरता प्रदान की है। हजारों साल की चुप्पी टूटती है तो उसकी आवाज का तीखापन दूर तक सुनाई पड़ता है। वामन निम्बाळलकर संस्कृति के अलमबरदारों के सामने अनेक प्रश्न खड़े करते हैं–

तुम्च्या कुजट कुवट संस्कृतीचे
ढबढबलेले ढोल कोठवर वाजवाल?
कोठवर फेडाल नेसू
माइया माया बहिणींचे,
आता तर तुमच्या अब्रुचे धिंडवडे
तुम्ही पाहणार तुमच्या डोळयांनी
कारणण तुमच्या संस्कृतीच्या चिंध्या
सडल्या, गळून पडायल्या लागल्या
म्हणून तुमच्या इज्जतीचे उधडे, नागडे
प्रदर्शन उद्या होणार आहे। [54]

(तुम्हारी सड़ी–गली संस्कृति का

भदभदा ढोल कब तक पीटोगे
तुम्हारी संस्कृति की चिंदिया
सड़–गल कर गिरने लगी हैं
कल तुम्हारी इज्जत का उघड़ा–नंगा प्रदर्शन
होने वाला है)

दलित कवि यह समझ चुका है कि इस संस्कृति ने ही हजारों साल की अस्पृश्यता को बनाये रखने के षड़यंत्र रचने में वर्चस्ववादियों को मजबूत बनाया। दलित कवि इस व्यवस्था के प्रति गहरा क्षोभ अपनी कविता में व्यक्त करता है क्योंकि इसी संस्कृति ने व्यवस्था के साथ मिलकर उन्हें मानवीय अधिकारों से दूर रखा। वह समाज में बदलाव के लिए प्रतिबद्ध है। नामदेव ढसाळ इस संस्कृति से स्वंय को अलग रखना चाहते हैं–

आई तो तूझा लाडका
संस्कृतिच्या, रूढिच्या, परमपरेच्या
विचारच्या
व्यवस्थेच्या समर्थ्कांच्या विरूद्ध
बंड करुन उठलाय।[55]

(मां, तेरा यह लड़का
संस्कृति, रूढ़ि, परम्पराओं
विचारों
व्यवस्था के समर्थकों के
विरुद्ध आंदोलन करने के लिए उठ खड़ा हुआ है)

दलित कविता का उद्‌भव आंदोलन से हुआ है। दलित पैंथर ने दलित आंदोलन को जो जूझारूपन दिया था, उसका पूरा अक्स दलित

कविता में दिखाई देता है। मराठी में ऐसे अनेक कवि उभरे जो वैचारिक दृष्टि से परिपक्व थे, जिनकी कविता ने दलित कविता को एक ऊँचाई देकर विश्व साहित्य के परिदृश्य पर भी दस्तक दी। ऐसे एक कवि हैं अरुण काळे जिनकी धार भीतर तक छील देती है। उनकी एक कविता देखें–

धर्मः एक बमनुमा वस्तु
जिसे बदलने का समय आ गया है

गुरू महात्मा, शिष्य और चेले चपाटे
सांसों से छोड़ते हैं ज्वलंतशील वायु
समय आ गया है
अब बदला जाये
तुम्हारे मस्तिष्क का रिकार्ड

धर्म : एक बसनुमा वस्तु
हैंडिल करना या नष्ट करना
यह विशेषज्ञों का काम है
जितनी बढ़ती है मंहगाई
उतने ही गिरते हैं भाव मौत के
पानी की तरह बहता है खून
आखिर में हर एक दर्शन से
पैदा होते हैं शैतान
कहीं मानवता न हो जाये निःसंतान...! [56]

चन्द्रकांत बांदिवडेकर लिखते हैं, 'दलित साहित्य धार्मिक और साहित्यिक सभी परंपराओं के प्रति विद्रोह है, क्योंकि मध्यकालीन संतों में चोखा मेला जैसे दलित व्यक्ति की वेदना भी सामयिक धार्मिक कर्म विपाक

और वर्णाधिष्ठित समाज के वैचारिक शिकंजों से बाहर नहीं आ सकी। मराठी भाषा के लिए गौरवपूर्ण ज्ञानेश्वर और तुकाराम जैसे कवियों से भी दलित कविता विद्रोह करती है, क्योंकि विश्व को घर समझने वाले और जीव जन्तुओं में ईश्वर की उपस्थिति देखने वाले संतों ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का गद्‌गद् होकर वर्णन किया है और शूद्रों को चाण्डाल कहकर उनके प्रति घृणा भाव व्यक्त किया है। यहां तक कि शूद्र के घर भोजन करने वाले और प्यासे व्यक्ति को पानी पिलाकर जीवन देने वाले एकनाथ की महत्ता को भी एक धोखा मानते हैं।[57]

धार्मिक संस्कारों पर दलित कवि चाहे वह मराठी कवि हो या हिन्दी तीखा प्रहार करता है। क्या ये धार्मिक संस्कार ही हैं, जो भाईचारे की भावना को विकसित होने में अवरोधक का काम कर रहे हैं। मराठी कवि ज.वि. पवार की इन पंक्तियों में यह स्वर बेहद तल्ख होकर उभरा है–

गांठ–दर–गांठ के भीतर का खून
उतर रहा है मेरी आंखों में
भड़क उठा है बड़वानल
हो गया है
घनघोर जलाना है
संस्कृति का मुर्दा।[58]

वर्ण–व्यवस्था पर आधारित सामाजिक मान्यताओं और धार्मिक जीवन मूल्यों को दलित कवि तीखेपन के साथ विरोध करते हैं। हिन्दी साहित्य में कवि होना या श्रेष्ठ होना यानी उसका संबंध कहीं न कहीं ब्राह्मण होने से जुड़ जाता है। कबीर को ब्राह्मणी का बेटा कहना, रैदास के सीने को चीर कर जनेऊ दिखाने जैसी किवदंतियां हिन्दी में प्रसारित करने के पीछे यह सब मान्यताएं काम करती हैं। इन मान्यताओं का हिन्दी दलित कवि ईश्वर सिंह चौहान ने 'सावधान'

शीर्षक कविता में खण्डित करते हुए कहा है–

जो भी इतिहास में
प्रतिभाशाली हुआ
देवताओं के शुक्राणुओं से
देवियों की कोखों में ही
पला–बढ़ा
जैसे कि
देवियों की कोख...
कोख न हो
प्रतिभा पैदावार का कारखाना हो
और,
शूद्राणियों का मातृत्व
एक ताना हो।

ध्यान रहे
कल कहीं ये
अम्बेडकर जी
महात्मा फुले
जोसेफ मेकवान
या ओम प्रकाश वाल्मीकि को भी
किसी देवता के
आशीर्वाद का प्रतिफल बता
अपने अवतारों में
शामिल न कर दें।[59]

मलखान सिंह तीखे शब्दों में चेतावनी देते हुए कहते हैं–

सुनो ब्राह्मण!
हमारी दासता का सफर
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अंत भी
तुम्हारे अंत के साथ होगा।[60]

परंपरा और संस्कृति के प्रतीकों और मिथकों को दलित कविता ने कटघरे में खड़ा किया है और उस पर सवाल उठाये हैं। हिन्दी दलित कविता ने उन प्रतीकों को अतीत की यातनाओं के साथ जोड़ कर देखा है। हिन्दी दलित कवियों में अधिकांश ने शम्बूक और एकलव्य को अपनी अस्मिता के जोड़कर देखा है।

यहां गली–गली में
राम है
शम्बूक है
द्रोण है
एकलव्य है
फिर भी सब खामोश हैं
कहीं कुछ है
जो बंद कमरों से उठते क्रन्दन को
बाहर नहीं आने देता
कर देता है
रक्त से सनी उंगलियों को महिमामंडित। [61]

चंद्रकांत बांदिवडेकर कहते हैं, 'अपने नकार को उच्चवर्णीय मार्क्सवादियों के द्वारा भी मूलभूत रूप से व्यक्त न किए जाने की शिकायत करते हुए दलित लेखक की विशिष्टता को रेखांकित करने का प्रयास यशवंत मनोहर करते हैं– ''मराठी साहित्य में किसी भी मार्क्सवादी ने

यहां, न यहां के विकट ईश्वर के विरोध में, उसका गौरव गाने वाले संतों के विरोध में उसके सगुण–निर्गुण विरोध में, देवालयों के विरोध ा में बाबुराव बागुल की भांति प्रखर स्वर बुलंद नहीं किया। जाति एवं वर्णवादी शक्ति के विरोध में व्यापक भूमिका नहीं निभाई। गीता, मनुस्मृति, ज्ञानेश्वरी, गुरूचरित्र, उपनिषद, वेद; जैसी विभिन्न कंपनियों के जहर के विरोध में आवाज नहीं उठाई। वे अध्यात्म, संतों एवं उनकी निष्ठाओं का गुणगान ही करते रहे। मार्क्स की विजय भारत में हो, इसलिए दलित साहित्य की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। साहित्यकार की संवेदना दलित संवेदना हो तो मार्क्स के प्रति अलग से आदर रखने का कोई कारण नहीं है।'' यह अतिरेक पूर्ण वक्तव्य दलितों के उग्र असंतोष को रेखांकित करता है।[62]

जयप्रकाश कर्दम अपने आक्रोश और अपमान से उपजी वितृष्णा को ऊर्जा में परिवर्तित कर सब कुछ ध्वस्त कर देने को आतुर है, लेकिन दलित चेतना का सकारात्मक पक्ष उसे रोकता है, क्योंकि दलित चेतना विध्वंस में नहीं निर्माण में विश्वास करती है–

ध्वस्त कर दूं इन किलों को
चिंदी–चिंदी कर दूं
इनका वजूद ही शांत हो जाए
मेरे अंतर में धधकती हुई
अपमान की आग
और मिल जाए मेरे मन को सुकून
लेकिन नहीं जाने देती
मुझे वहां तक मेरे चेतना
रोक लेती है बेड़ी बनकर।[63]

यथार्थवाद की पक्षधरता

दलित कविता में अपनी प्रतिबद्धता को निर्भीकता से कहने का हौसला है। दया पवार अपनी कविता 'हे महाकवि' में इसी निर्भीकता को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं–

हे महाकवि
तुला महाकवि तरी कसे म्हणावे
हा अन्याय अत्याचार वेशीवर टांगणारा
एक जरी श्लोक तू रचना असतास दृ
कृकृ तर तुझे नांव काळजावर कोरून ठेवले असते। [64]

(हे महाकवि
तुझे महाकवि कैसे कहूं
इस अन्याय अत्याचार को अभिव्यक्त करने वाला
एक श्लोक भी तूने रचा होता
तो तेरा नाम कलेजे पर उकेरा होता)

आदिकवि वाल्मीकि से उनके समकालीन जीवन की दुःख गाथाओं की अपेक्षा करने वाले दया पवार ने यह तेवर इसलिए भी दिखाए कि सृजन कर्म के प्रति दायित्व की यथोचित अपेक्षा पुरखों से करने का हक हम सभी को है। महाकवि यदि अपने समय से आंखे चुरा कर सिर्फ आदर्शों की स्थापना में ही अपनी समूची प्रतिभा का इस्तेमाल कर देगा तो यह न्यायोचित नहीं होगा, समय इसका लेखा–जोखा जरूर मांगेगा।

अरूण काळे की एक कविता है– 'खंत' (खेद) शीर्षक से। यह कविता दलित सामाजिक यथार्थ का चमकदार चित्रण करती है। जहां कोई दीन हीन नहीं रहेगा क्योंकि वह संघर्ष में शामिल है और अपनी मुक्ति के लिए अरूण लड़ रहा है। अरूण काळे की कविता में

बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग कृतघ्न नहीं है। इसीलिए इस कविता में अरूण काळे पूरे विश्वास के साथ कहते हैं–

दोस्ता! खरा आबाद तूच आहेत
वस्त्य, वस्तयांतून तुला मिळणारे जयभीम
हीच खरी मिळकत आहे...
दोस्ता! तू उंचीने वाढलास मुक्त
मी मात्र व्याने वाढलों रहाटगाडग्यात
तू कधी फिकीरच केली नाहीस जमाखर्चाची
दोस्ता! आजही तू रस्त्यात उभा आहेस
झेंडा हातात घेऊन
म्हणूनच मी शीतल हवेत बसून
कविता लिहतोय।[65]

(दोस्त! सच्चा आबाद तू ही है
बस्ती–बस्ती मिलने वाले जयभीम
यही सबसे बड़ी पूंजी है...
दोस्त! तू स्वछंद होकर बहुत ऊंचाई तक बढ़ गया है

मैं सिर्फ उम्र से बड़ा हूं राहटगाडग्यात
तू ने कभी फिकिर नहीं की जमाखर्च की

दोस्त! आज भी तू रास्ते पर खड़ा हुआ है
झण्डा हाथ में लेकर
इसीलिए मैं शीतल हवा में बैठ कर
कविता लिखता हूं)

मराठी के महत्त्वपूर्ण कवि केशव मेश्राम जीवन के यथार्थ की कटुता

को व्यक्त करते हुए दलित यथार्थ की नई भूमि तैयार करते हैं जहां तमाम मान्यताएं धराशायी हो जाती हैं–

आम्हाला नाहीं दुसरया स्वातांत्रय जयघोष
आम्हाला मान्य नहीं येथली शासन, समाज–व्यवस्था
आम्ही तसे सगळे नंगे फकीर, स्वतंत्रयात ही गुलाम
मुक्त नसले ले, काळोखाचे बंदिस्त कैदी।[66]

(हमें मान्य नहीं दूसरी स्वतंत्रता का जयघोष
हमें मान्य नहीं यहां की शासन, समाज व्यवस्था
हम जैसे नंगे फकीर, आजादी में भी गुलाम
जो मुक्त नहीं, अंधेरे में बन्द कैदी)

हिन्दी दलित कविता जीवन के गहरे यथार्थ की ऐसी अभिव्यक्ति बन कर उभरी है, जिसका हिन्दी साहित्य में नितांत अभाव था। हिन्दी कवि अतीत की वेदना को ही अपनी कविता में लेकर नहीं आया है। वह वर्तमान की गहनतम प्रताड़नाओं और शोषण के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान भी करता है। जहां सिर्फ अश्रु रुदन ही नहीं बल्कि विद्रोह की चेतना का कवि है। ऐसे ही एक कविता का अंश देखें–

मेरी पीढ़ी सदियों के अभिशाप को
कंधों पर लादे
गांव से शहर तक आयी है
खड़ी देख रही है चौराहे पर
मशाल लिए जाते जुलूस को।

मेरी पीढ़ी ने अपने सीने पर
खोद लिया है संघर्ष

जहां आंसुओं का सैलाब नहीं
विद्रोह की चिंगारी फूटेगी
जलती झोपड़ी से उठते धुएं में
तनी मुठ्ठिया
तुम्हारे तहखानों में नया
इतिहास रचेंगी।[67]

कंवल भारती कहते हैं– 'दलितों ने अपने स्वाभिमान और सम्मान के लिए उन गांव से शहरों में पलायन किया है, जो उनके लिए हिन्दुओं के 'घेटों' (यातना शिविर) थे। शहरों में आकर, उन्होंने जुलूसों को देखा और अपने लिए संघर्ष का रास्ता चुना।'[68]

हिन्दी या मराठी दलित कवि दोनों ही भारतीय ग्रामीण जीवन की त्रासदियों और दग्ध अनुभवों को अपने जीवन के यथार्थ के साथ भुक्त भोगी बनकर कविता में लेकर आये हैं। यह एक ऐसा स्वर था, जिसका हिन्दी या मराठी ही नहीं, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं में कहीं दूर–दूर तक भी कोई जिक्र नहीं था। साहित्य के लिए दलित जीवन की त्रासदियां कभी भी ध्यान देने योग्य नहीं रही। इसीलिए दलित कवियों ने जीवन के इस दुखद और अंतहीन यातना के स्वर को अपनी अभिव्यक्ति के केन्द्र में रखा।

साहित्य का मतलब एक विशिष्ट तंत्र से रेखांकित किया गया मानव जीवन। समाज–जीवन का प्रतिबिंब। परन्तु मराठी साहित्य में क्या यह दृष्टिगोचर होता है? यह सवाल उठाते हुए वसंत राजस कहते है– 'साहित्य राष्ट्र की तेजस्विता की तथा नैतिकता की बुनियाद है। मानव ह्रदय में उदात्त विचार और श्रेष्ठ भावनाओं की उत्पत्ति साहित्य से ही होती है। साहित्य वैचारिक पूंजी देकर मन को समृद्ध बनाता है। मानव को विपन्नावस्था से सम्पन्नावस्था की ओर, निष्क्रियता से कर्तव्य की ओर, विकार से विचार की ओर, विषमता से समता की ओर जो ले जाता है, और मानव मन को समृद्ध

करता है, वही श्रेष्ठ साहित्य होता है। परंतु आज तक मराठी साहित्य में ऐसा हुआ? इस पर विचार करने पर ऐसा दिखाई देता है कि आज तक अधिकतर साहित्यकारों ने सत्य को छोड़, असत्य की ही पैरवी की है। मानव जीवन के मूल दर्शन को अनदेखा कर उस पर कृत्रिम और बनावटी दर्शन का मुलम्मा चढ़ाया गया है। मानव जीवन में स्थित अन्याय, असत्य, अज्ञान, अंधश्रद्धा, और विषमता के विरोध में विद्रोह कर समता, स्वतन्त्रता, करुणा, एवं बंधुता को स्थापित करने वाले समृद्ध साहित्य का निर्माण करने के बजाए, निकृष्ट, दिशाहीन और दमन करने वाला साहित्य लिख कर समाज को पाखण्डी दर्शन सिखाया गया है।[69]

डॉ. अम्बेडकर ने एक महामंत्र दलितों को दिया था। शिक्षित बन, संगठित हो और संघर्ष कर इसी महामंत्र से दलितों को अपनी शक्ति पहचानने का अवसर मिला। उन्हें अपनी सामर्थ्य का एहसास हुआ। इस एहसास ने दलित अस्मिता को जगाया, जो दलित कविता के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है–

खून में धधकते हुए अगणित सूर्यों
कितने दिन सहने वाले हो इन प्रतिबंधों को?
मृत्यु तक इसी तरह रहेंगे क्या युद्ध बंदी
वह देखो रे, वह देखो मिट्टी की अस्मिता
आकाश जैसी व्यापक हो गई
मेरी आत्मा ने इंकलाब की आवाज बुलंद की है
खून में धधकते हुए अगणित सूर्यों
अब हर शहर में आग लगाते चलो।[70]

इसी तरह बापुराव जगताप की इन पंक्तियों में भी अभिव्यक्त हुआ है–

इसी अस्मिता से मुर्दों में जान आ गई है

आज सारे शमशान जी उठे
पत्थर की छाती पर कुरेदते हुए
कल का इतिहास।[71]

दलित जीवन के दग्ध अनुभवों का चित्रण

दलित कविता जीवन के यथार्थ की कविता है। सामाजिक जीवन में विद्यमान अस्पृश्यता, जातिभेद से उत्पन्न विसंगतियां, पारस्परिक वैमनस्य, को दलित कवियों ने बेधड़कता के साथ चित्रित किया है। दया पवार की एक सुप्रसिद्ध कविता है जिसमें देश की सीमा पर दुश्मनों के साथ लड़ते हुए सिपाही काम्बले अपना पैर गंवा देता है। लेकिन पीछे नहीं हटता, बहादुरी से लड़ता है। सरहद पर वह एक देशभक्त सिपाही की तरह अपनी मातृभूमि की रक्षा में सब कुछ न्यौछावर करने वाले सिपाही की भूमिका अदा करता है। लेकिन गांव लौटने पर उसे अछूतपन की पीड़ा से गुजरना पड़ता है।

पाय तुछलेला महार पलटणीला काम्बले
अंधारात मिटमिट्या डोळ्यांनी महात असतो
'आपण सीमेवर कुणासाठी लढलो
का बरे देशासठी खुडलो गेलो'
जिवाच्चा आकंताने परश्न भेदून जातो
आधीच हिरावॉओन घेतलेली बंदूक
उशापायध्याशी तो चाचपतानी दिसतो।[72]

(टूटे पैर वाला महार पलटन का सिपाही काम्बले
अंधेरे में टकटकी लगाये देख रहा है
मैं सीमा पर किस के लिए लड़ा था?
क्यों देश के लिए खंडित हुआ
प्रश्न यह हृदयविदारक भेद गया

पहले ही छीनी गयी बंदूक को
सिरहाने ढूंढते नजर आता है।)

जीवन के ये दग्ध अनुभव दलित कविता ने जिस तरह से अभिव्यक्त किए हैं, साहित्य के लिए भी नये अनुभव ही कहे जायेंगे।

हजारों साल की नर्क से भी बदतर जिन्दगी जीने वाले दलितों के जीवन का यथार्थ कितना दुखद और संतप्त है, इसे जानने को साहित्य ने कोई पैमाना ही तैयार नहीं किया था। समूची बौद्धिकता जैसे किसी अजूबी और अकल्पनीय दुनिया में खोई हुई थी। साहित्य का उद्देश्य सिर्फ आनंद, काम, मोक्ष और अर्थ की प्राप्ति भर था। दलित कविता ने साहित्य के संदर्भों को मानवीय जीवन से जोड़ा। और इसी कड़ी में दलित जीवनानुभवों की दग्ध अनुभूतियों कविता में अभिव्यक्त होने लगी। दलित कवि अतीत का रोना, जैसे कि कुछ आलोचक दलित व्यक्तियों पर आरोप लगाते रहे हैं, भर नहीं था। बल्कि वर्तमान के कटु अनुभव भी अभिव्यक्ति का हिस्सा बने, दया पवार की यह कविता ऐसी ही वेदना का एक दस्तावेज है–

आज विषाद वाटतो कशा वागविल्या माणामच्या बेड्या
गाळत हत्तींचा कळप रुतावा तशा ध्येय–आकांक्षा रुतलेल्या
शिळेखाली हात तरी नाही फोडला हंबरडा
किती जन्माची कैद कुणी निर्मिता हा कोंडवाडा।[73]

(आज दुःख होता है, कैसे पहनी थी मन–मन वजनी बेड़ियां हाथियों का झुंड जैसे गांव में फंसे, वैसी आकांक्षायें, ध्येय दलदल में फंसे शिलाखण्ड के नीचे हाथ थे दबे, तब भी नहीं किया आक्रोश कितने जन्मों की कैद किसने बनाया बंदीगृह)

दलित जीवन के दग्ध अनुभव इतने गहन हैं कि एक दलित की

अवस्था जानवरों से भी गयी बीती है। सामाजिक जीवन में उसे यह भी एहसास नहीं होता है कि उसके ऊपर भयानक जुल्म हो रहे हैं। वह जिन स्थितियों में जीने के लिए बाध्य कर दिया गया है उसे ही अपनी नियति मान बैठा है। लोकनाथ यशवंत की 'लव स्टोरी' इसी भ्रम की ओर संकेत करती है–

कसाई माझ्यावर खूप प्रेम करतो
खूप प्रेम करतो
तो माझा नम्बर
शेवटी लावणार आहे।[74]

(कसाई मुझ से बहुत प्रेम करता है।
बहुत प्रेम करता है
वह मेरा नम्बर
सबसे आखिर में लगाएगा।)

मराठी दलित कवि अरुण काळे की कविताओं में दलित जीवन की दग्धता का जो रूप दिखाई देता है वह कविता को जरूरी बना देता है। क्योंकि कविता ही है जो मनुष्य की स्वायत्तता के लिए वातावरण तैयार करती है अरुण काळे की कविता सहज शब्दों में गंभीर अनुभवों को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखती है– 'कान' शीर्षक कविता देखें–

दंगे में उन्होंने देखे मेरे कान
'अपना आदमी है', छोड़ दिया

कान से याद आया कर्ण
कर्ण से वर्ण याद आया
दंगों के कारण धर्म याद आया

हर घर का रंग अलग था
पर रोना, रोना ही था।
दंगाइयों के सतर्क कानों को यहां बंद होना ही था...![75]

उपरोक्त कविता में कवि अरुण काळे ने दंगों के बीच घिरे आदमी की मनः स्थिति और उसके भीतर उठ रहे शोर को जिस तरह से शब्दों में बांधा है, वह उनके शिल्प और प्रस्तुति को महत्त्वपूर्ण बना देता है। जहां कर्ण एक मिथक के साथ एक बिम्ब बनकर कविता को गहरे भाव बोध से जोड़ देने में सफल होता है।

दलितों पर होने वाले अत्याचारों ने दलित कविता को वेदना और चीखों की अनुगूंज से भर दिया है। इसीलिए दलित कवि की अभिव्यक्ति में आक्रोश उभर कर आता है। दया पवार की 'खांडवन' शीर्षक कविता में यह आक्रोश अपनी दग्धता का प्रभाव महसूस करा देता है–

खांडवन जाळणारे तुमचे पिढीजात हात
आजही तुम्हीं पारंगत वडवानल पेटविण्यात
तुम्ही पेटविला आगडोंबः आकाशभर ज्वाला
निवीड अरण्यात श्वापदाच्या लपलणार्या जिभा
रचलीत बेचाळीस माणसे कडबा रचतात तशी
लावली काडी, आत्मतृप्तीसाठी का यज्ञी बळी
कोपळ्या अर्भकांना चितेत फेकतांना हाले ना पापणी
कापरासारखे जाळलेते देह तुमचा साधा उसासा नहीं।[76]

(खांडवन जलाने वाले वंशानुगत हाथ
आज भी तुम निपुण अग्निकाण्ड रचाने में
तुम्हारी लगाई आग की लपटें आकाश भर फैल गयी हैं
जैसे घनघोर जंगल में हिसक पशुओं की लपलपाती जिव्हायें

रचा तुमने बयालीस मनुष्यों का एक के ऊपर एक जैसे रखते हैं पुआल
दिखाई माचिस की तीली, आत्मतृप्ति के लिए यज्ञवेदी पर चढाई बलि
कोमल नन्हें शिशुओं को झोंक दिया जतली आग में
शरमायी नहीं पलकें
कर्पूर जैसे जलाई मानवी देह
तुम्हारी निकली न आह!)

दलित कविता ने दलितों की आंतरिक वेदना को मुखर किया है। हजारों साल से दलित मूक बने शोषण दमन को चुपचाप मूक बने सहते रहे। लेकिन डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष ने उनके भीतर संघर्ष की चेतना पैदा की है। इसीलिए कवि कहता है–

गहरी पथरीली नदी में
असंख्य मूक पीड़ाए
कसमसा रही हैं
मुखर होने के लिए रोष से भरी हुई

बस्स।
बहुत हो चुका
चुप रहना
निरर्थक पड़े पत्थर
अब काम आएंगे
संतप्त जनों के![77]

अरुण काले मराठी के अकेले ऐसे कवि हैं जो जीवन में रची बसी विसंगतियों पर गहरी वेदना के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। चाहे वह अस्पृश्यता का प्रश्न हो या सांप्रदायिकता का। उनकी

कविताओं में गहन चेतना का स्वर सूक्ष्मता के साथ विद्यमान रहता है।

कल मस्जिद की मृत देह पर
मन्दिर का शव सजाया गया
ठंडे खून की गर्म हवा बहने लगी

आज हमारे गाँव में
मुर्गे ने बांग नहीं दी
घंटी ने सिर नहीं हिलाया
सफेद कबूतर ने 'आमीन' नहीं कहा
रामू दूध वाला, रहीम पाव वाला नहीं आया

लोग पेरशान, पंछी सुनसान
अत्यावश्यक सेवा पर सूरज तो आ गया
रोशनी नहीं थी साथ में

इतिहास रचने वाले
बांटे करने लगे
संदेह के चश्में उन्होंने
अपनी कमीज से पोंछ कर साफ किए
'फालतू आदमी इधर बैठने का नहीं'
डंडे बोलने लगे
पेट पानी के लिए नौकर तैयार होने लगे काम जाने
फुकट की जिंदगी
रास्ते पर लुटाने।[78]

समतावादी, मुक्ति–संघर्ष, आशावाद का समर्थन

दलित कविता समाज की मानसिकता को बदलने का प्रयास करती है जिससे दलित कविता का दायरा व्यापक बनता है। दलित कवि दलित को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिस्सेदारी के लिए उसकी भूमिका को सुनिश्चित करने का काम भी करता है। डॉ. एन. सिंह की इस कविता में चेतना का समतावादी स्वरूप उभर कर आता है–

दुकान हमारी भी
और तुम्हारी भी
ये बात और है कि
हमारी दुकान पर बिकता है जूता
और तुम्हारी दुकान पर
रामनामी
हमारे लिए जूते का महत्त्व वही है
जो तुम्हारे लिए रामनामी का
आओ समानता का तार पकड़ें
एकता का सूत्र गढ़ें
साथ बढ़ें [80]

सी.बी. भारती की कविता में भी इसी प्रकार का भाव अभिव्यक्त हुआ है–

तुम फैलाते रहे गन्दगी
और मैं करता रहा सफाई
चलाता रहा झाड़ू
तुम फैलाते रहे घृणा
और मैं बांटता रहा प्यार
मैं ने उठा ली है अपनी कलम

झाड़ू के बदले
करेंगे साफ तुम्हारी गंदगी
बचायेंगे हम टूटी एकता।[80]

दलित मुक्ति–संघर्ष ने जो चिंगारी प्रज्वलित की है अब धीरे–धीरे आग में परिवर्तित होने लगी हैं। समाज में प्रस्थापित अपनी भूमिका को लेकर भी वह सावधान ही नहीं हुआ बल्कि उसकी एतिहासिकता से उसने बहुत कुछ सीखा भी है। मराठी कवि लोकनाथ यशवंत की कविता 'बुनियादी' इसी तरह के आत्मविश्वास की ओर संकेत करती है–

अब तक जो हुआ, बहुत हुआ
इसके बाद हम से संभल कर ही रहो

तुम्हारे मकान की बुनियाद हमारी है
वह हमारा कहा मानती है

वक्त को पहचानो, वह एक–सा नहीं रहता
संभल कर रहो वरना कुछ भी हो सकता है

तुम्हारे मकानों की बुनियाद हमारी है
हम कभी भी हिला सकते हैं![81]

मोहनदास नैमिशराय की कविताओं में दलित वेदना, व्यथा, जातिवाद, मुक्ति–संघर्ष की तेजस्विता, आक्रोश की अभिव्यक्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है–

आप चाहे जो कह लें
पर मेरा विश्वास है,

यह भूखा–नंगा, असभ्य–सा
दिखने वाला आदमी
अपनी रक्तशिराओं में
आग की झील लिए घूम रहा है...
एक दिन
यह भूखा–नंगा, असभ्य–सा
दिखने वाला आदमी
लाल किले की सबसे ऊंची बुर्ज पर लकीर खींचेगा
अपना हिसाब साफ करने के लिए [82]

दलित कवि मनुष्यता को सर्वोपरि मानता है। इसीलिए वह मनुष्य से मनुष्य में भेद नहीं करता है। समता का यह भाव अरुण काळे की कविताओं में एक वैशिष्ट्य के साथ सृजित हुआ है जहां वैचारिकता की गंभीरता कविता को और अधिक प्रासंगिक बना देती है। साथ ही कविता समय और समाज के साथ जुड़ कर अपने उत्तरदायित्व का भी निर्वाह करती है। 'सबके जलने की एक ही गंध...!' शीर्षक कविता में ये तथ्य साफ–साफ दिखाई देते हैं–

आग में जलने वाला यह शहर

पेट में अंगार
ठंडे हाथ–पांव

चूल्हे में नहीं धुंआ
आंखों में बाढ़ नहीं

सूखा, स्पंदनहीन आदमी
खून, हड्डी, मांस

धर्म, जात मानने वालों की
एक ही गंध सबके जलने की...![83]

दलित कवि मनुष्यता और मानवीय सरोकारों के लिए प्रतिबद्ध है। भालचन्द्र कहते हैं– 'कविता का अभिप्रेत है वर्ण–वर्ग विहीन समाज रचना, शोषण मुक्त समाज रचना और मुक्त मानव। विश्व के जिस क्षेत्र में शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष हुआ, वह दलित साहित्य के नजदीक आता है। चाहे वह अफ्रीका, कंबोडिया, वियतनाम जैसा कोई भी क्षेत्र हो। मनुष्य की महानता को पटाने वाली हर पाश्विक शक्ति के विरुद्ध दलित कविता संघर्ष करके उन्हें खत्म करने के प्रयास में लगी है। यही है दलित कविता की प्रगति की दिशा।'[84]

बजरंग बिहारी तिवारी कहते हैं– 'ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में कौंध और टीस परस्पर घुले मिले हैं। वे अपने पाठक को साझीदार बनाते हुए कविता रचते हैं। कविताएं प्रश्नधर्मी हैं। और प्रश्न ऐसे जिन्हें कविता की समूची परम्परा में पहली बार पूछा जा रहा है। इस लिहाज से कुछ कविताएं क्लासिक बनने की क्षमता रखती हैं। 'तब तुम क्या करोगी'? 'ठाकुर का कुंआ' और 'वे नहीं जानते' ऐसी ही कविताएं हैं। वाल्मीकि के पास मासूम सवालों का खजाना है। अपनी एक कविता में वे पूछते हैं–

'संस्कृति और संस्कृत' में क्या सम्बन्ध है
मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों?
चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है
मैं नहीं जानता शायद
आप जानते हों?[85]

सामाजिक बदलाव की प्रतिबद्धता

अर्जुन डांगले की भी मान्यता इसी प्रकार है। वे कहते हैं– 'डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की सोयी हुई आत्मा को जगाया। और वह मनुष्य अपने सामर्थ्य के साथ और साहित्य के साथ इस आंदोलन में शामिल हुआ।'[86]

सामाजिक विषमताओं और विद्रुपताओं का दलित कविता ने गहनता के साथ विश्लेषण करते हुए अपनी अभिव्यक्ति को सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ा है। बाबूराम बागुल की इस कविता में मनुष्य को केन्द्र रख कर जो यथार्थ की संरचना की है वह दलित कविता की एक उपलब्धि कही जाएगी–

हे मानव,
तुमने ही सूर्य को कहा सूर्य
और सूर्य, सूर्य हो गया
तुमने ही कहा चन्द्र को चन्द्र
और चन्द्र, चन्द्र हो गया
अखिल विश्व का नामकरण
तुमने ही किया
और हर एक ने कबूल किया।
हे प्रतिभावान मानव
तुम ही हो सब कुछ
तुमसे ही तो संप्राण सुन्दर
बन गयी है यह सृष्टि[87]

दलित कविता विखंडनवादी नहीं है, बल्कि समाजशास्त्रीय आलोचना की मांग करते हुए वह समता, बधुता और स्वतंत्रता की पक्षधर है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे से जुड़कर एक बड़ा समाज बनाने की बात करती है। इसीलिए उसके केन्द्र में मनुष्य है, जिसे

प्रतिष्ठित करने की कोशिश दलित रचनाकार करता है। उपरोक्त उद्धहरण में बाबूराम बागुल ने इसी आशय को अभिव्यक्त किया है। दलित कविता के इसी केन्द्रीय भाव ने दलित आंदोलन को ऊर्जावान बनाया है।

हिन्दी और मराठी दलित कविता ने इस विचार और तथ्य को गंभीरता के साथ अपनी अभिव्यक्ति के केन्द्र में रखा है। हिन्दी के दलित कवि– जयप्रकाश कर्दम, कंवल भारती, सुशीला टाकभौरे या फिर मराठी के कवि नामदेव ढसाल, केशव मेश्राम, वामन निम्बालकर, दया पवार सभी ने जाति–व्यवस्था का विरोध किया है और मानवीय सरोकारों को अपनी प्रतिबद्धता के साथ अभिव्यक्त किया है। दलित कविता की आतंरिक चेतना का यह एक विशिष्ट बिंदु है जिसने दलित कविता को आधुनिक संदर्भों के साथ जोड़कर उसे मनुष्य की स्वतंत्रता, बधुता और समानता की पक्षधर बनाया है। सदियों से दबे–कुचले, शोषित, उत्पीड़ित, उपेक्षित विषमतापूर्ण जीवन जीने वाले व्यक्ति के पक्ष में खड़ा रहने की ताकत दी है।

ज्यां–पाल–सार्त्र ने अपनी पुस्तक– 'व्हाट हैज लिट्रेचर' में लिखा है– 'लेखन केवल लेखन नहीं है, वह कृति है। दुष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनुष्य का सतत संघर्ष चल रहा है। उस संघर्ष में लेखन को एक हथियार के समान उपयोग में लाने की जरूरत को लेखक को समझना चाहिए।'

दलित आंदोलन को हिन्दी और मराठी कविता ने अपने–अपने स्तर पर प्रभावित किया है जिसके कारण सामाजिक जीवन का दृष्टिकोण बदला है। एम.एम. माइकल ने अनुसार, "The Dalit Vision of Indian Society is different from that of the Upper Caste. The untouchables have come to a new humanity and are forging ahead to shape a new India. (*Dalit in Modern India*)"

बहुसंख्यक स्पृश्य हिन्दुओं को आज भी 'अस्पृश्य' सामाजिक दृष्टि से अपने बराबर नहीं लगते हैं। हिन्दू समाज के मन में यह जो

सामाजिक विषमता की भावना जड़ जमाए बैठी है, उसके विरुद्ध 'दलितों' का यह युद्ध है। और इस युद्ध में एक शस्त्र की तरह उसे साहित्य का प्रयोग करना है। उनके मतानुसार यह युद्ध 'तामस' नहीं सात्विक है। तोड़ने वाला नहीं जोड़ने वाला है। जो अलग–अलग चले गये, उन्हें एकत्र कर के लाने के लिए है।'[88]

दलित कविता की अंतःचेतना को गंभीरता से विश्लेषित करने के लिए दलित साहित्य की अंतःधारा पर सुप्रसिद्ध मराठी साहित्यकार बाबूराम बागुल के विचारों को यहां देखना जरूरी हो जाता है। वे कहते हैं– 'दलित साहित्य सामंतवादी साहित्य नहीं है। दलित साहित्य विद्वेष फैलाने वाला साहित्य भी नहीं है। दलित साहित्य मनुष्य की महत्ता और मुक्ति की कामना करने वाला साहित्य है और इसीलिए यह एक ऐतिहासिक जरूरत है। यानी अपने लिए अलग एक नाम धारण किया है। अस्पृश्यता से, और दासता, विषमता और दुःख से दलित साहित्य का वैर है। जब तक अस्पृश्यता, दासता इस देश में रहेगी, इस संसार में रहेगी, जब तब दलित साहित्य रहेगा।[89]

आगे वे कहते हैं कि 'हम तुच्छतावादी नहीं हैं। अपने थोड़े से लेखन में हमने किसी भी जाति के विरुद्ध प्रचार नहीं किया है। सिर्फ सामाजिक, मानसिक और वैचारिक व्यवस्था के हम विरुद्ध हैं।'[90]

रा. भी. जोशी लिखते हैं, 'बाबूराव बागुल का यह कथन दलित साहित्य का 'मैनिफैस्टो' (घोषणा पत्र) कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। दलित की भूमिका, उद्देश्य, और उसका स्वरूप आदि के बारे में उन्होंने अपने भाषण में शांत भाव से, निर्विकार मन और सविस्तार विवेचन किया।[91]

मराठी की समकालीन दलित कविता विसंगतियों और विद्रुपताओं को सूक्ष्मताओं के साथ उघाड़ती है। कवियों के भीतर भरी उस बेचैनी को भी सामने लाती है, जो केवल बौद्धिक कहलाने की सुखद अवस्था वाली बेचैनी नहीं हैं। इसमें एक सकारात्मक जिद्द है, जो निजता व सामाजिकता की यथास्थिति को बदल देना चाहती है। इस जिद्द में

हम जो आवेग पाते हैं, इस आवेग से ही विषयगत व कथ्यगत स्थितियां, शिल्पगत आवेग पाती हैं।

इस संदर्भ में नामदेव ढसाल की कविता 'मेरी जमानत मत करो' में यह आवेग कुछ इस तरह से सामने आता है–

मेरी जमानत मत करो
कितना मारा–मारा फिरा। मैं इस शहर में
सौतेली मां जैसे इस शहर ने मुझे
दी सौतेली मां जैसी तकलीफ
ठंडी हवाओं में मुझे खड़ा रखा
इसके पहले नहीं मिली मुझे दो गज जमीन।[92]

मराठी दलित कवि लोकनाथ यशवंत अपने कविता–संग्रह 'आणि शेवटी काय झाले? (और अंत में क्या हुआ?) की भूमिका में कहते हैं कि– 'देव' नकारने वालों ने 'बुद्ध' को 'देव' बना देने वाली व्यवस्था ने हमारे 'धम्मांतर' के साथ छल किया है। व्यवस्था की यह सामर्थ्य दासता का वास्तविक कारण है– यदि यह समझ में आ जाये– तो व्यवस्था का असली रूप दर्शाना ही मेरी कविता का मुख्य प्रयोजन है..."[93]

वे यह भी कहते हैं, कि 'संक्षेप कहा जाये तो शत्रु जब मित्र का रूप धरकर आता है, तब असली मित्र शत्रु हो जाता है और फिर अपने ही हाथों मित्र का बध होता है...यही इतिहास की शोकांतिका और मेरी व जन सामान्य की व्यथा भी है।'[94]

इसका आशय स्पष्ट है। जिस ओर लोकनाथ यशवंत संकेत कर रहे हैं, वह बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की दिशा सूचक उंगली है, जो दलित संघर्ष का आह्वान करती दिखाई देती है जिसे कवि अपनी चेतना का हिस्सा बनाकर ही सृजन कार्य से जुड़ता है। तभी दलित पीड़ा से सीधे–सीधे जुड़कर अपनी प्रतिबद्धता और उत्तरदायित्व का

निर्वहन करता है। दलित कविता हो या कहानी, उसे जीवन के मूलभूत सरोकारों से जुड़ना जरूरी है। तभी वह समाज की वेदना को साहित्य की संवेदनाओं में परिवर्तित कर पाएगा जो सामाजिक बदलाव के लिए एक भूमि तैयार करने की कोशिश होगी।

अरुण काळे की कविता का आशय, आंदोलन की निर्मिति समाज सापेक्ष करने का आह्वान करने वाली अम्बेडकर विचार की आशावादी कविता है। दलित आन्दोलन को परिपक्वता देने की महत्त्वाकांक्षा रखती है। 'जाली रोशनी' शीर्षक कविता में अरुण काळे उजाले के मुखौटे पहन कर आने वाले अंधेरे को चिन्हित करते हुए आह्वान करते हैं–

मेरा सूरज जहां डूबा
वहां चांद का अस्तित्व
मुझे मंजूर नहीं

खोखले प्रकाश की यह समता
अंधी गोरी ममता
मुझे मंजूर नहीं

हड़बड़ाए अंधेरे की छाती पर
ललचाए प्रकाश का
यह उदय प्रकाश का
यह उदय आज कल का
यह जाली प्रकाश
सहन शक्ति के उस पार का... [95]

कंवल भारती के अनुसार दलित कविता में नारी इसलिए श्रद्धा की पात्र नहीं है कि 'उसके आंचल में दूध और आंखों में पानी है' या वह 'नीर

भरी दुःख की बदरी है' उसकी श्रद्धा का कारण यह है कि उसमें जीवन का तेज है, संघर्ष की अग्नि है, वह कटु अवसादों और विसंगतियों से हताश नहीं होती, बल्कि उनसे जूझती है। दलित कवि की नारी मां, बहन, पत्नी सब रूपों में एक श्रमिक नारी की प्रतिमा है, जो स्वयं ही अपना प्रदीप और स्वयं ही उसमें बाती है।[96]

सुबह उठते ही वह
रात की स्याही
हवाले कर देती है धूप के
भर लेती है नया दिन
अपनी सांसों में।[97]

समाज में स्त्री को दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। उस पर समाज की दोहरी मार पड़ती है। इसीलिए स्त्री का दुःख, उसकी यातना भी उतनी ज्यादा गहरी है। इसीलिए दलित कविता में स्त्री की वेदना का स्वर और भी ज्यादा आक्रोश के साथ अभिव्यक्त हुआ है। हिन्दी कवियित्री सुशीला टाकभौरे की कविता में यह पीड़ा गहरी भावाभिव्यक्ति बन कर उभरती है।

मां–बाप ने पैदा किया था
गूंगा
परिवेश ने लंगड़ा बना दिया
चलती रही
निश्चित परिपाटी पर
बैसाखियों के सहारे
कितने पड़ाव आये
आज जीवन के चढ़ाव पर
बैसाखियां चरमराती हैं

अधिक बोझ से अकुलाकर
विस्फारित मन हुंकारता है
बैसाखियों को तोड़ दूं
आज रोम–रोम से
ध्वनि गूंजती है और
पोर–पोर से पांव फूटते हैं–
क्या मैं अमानवीय हो गयी हूं?
या असामाजिक?[98]

सन्दर्भ

1. अनुवाद– निशिकांत ठकार, *प्रगतिशील वसुधा*, अंक– 71, अक्टूबर–दिसम्बर, 2006, पृष्ठ 215
2. गं. बा. सरदार, साहित्य की सामाजिकता, *प्रगतिशील वंसुधा*, पृष्ठ 50
3. नामदेव ढसाल, *गोलपिठा*, कविता–संग्रह, पृष्ठ 13, नीलकंठ प्रकाशन पूणे, द्वितीय संस्करण
4. बाबुराव जगताप, *अस्मितादर्श*, दीपावली अंक 1971
5. त्र्यम्बक सपकाळे, *सुरूंग*, कविता–संग्रह, अस्मितादर्श, प्रकाशन, मुंबई, 1976, पृष्ठ 5
6. नामदेव ढसाल,*गोलपिठा*, पृष्ठ 10,
7. अर्जुन डांगले– *छावनी हलते आहे*, भाष्य, प्रकाशन, मुंबई, 1977, पृष्ठ 34
8. दया पवार, *कोंडवाडा*, पृष्ठ 3
9. लोकनाथ यशवंत, '*समाजशास्त्र' पुन्हा चाल करू या.*कृ पृष्ठ 60, यंग इण्डिया पब्लिकेशंस, मुंबई, 2009, पृष्ठ 60
10. जयप्रकाश कर्दम, *गूंगा नहीं था मैं*, अतिश प्रकाशन, दिल्ली 1997, पृष्ठ 19
11. सी. बी. भारती, *आक्रोश* (कविता–संग्रह, लोक सूचक प्रकाशन, फर्रूखाबाद, 1996, पृष्ठ 2
12. सुशीला टाकाभौरे, *तुमने उसे कब पहचाना* (कविता–संग्रह), शरद प्रकाशन, नागपुर, 1995, पृष्ठ 11
13. देवेश कुमार चौधरी 'देव', *भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य*, संपादन पुन्नी सिंह, कमलाप्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ 137
14. राजेन्द्र सोनवणे की कविता

15. लक्ष्मी नारायण सुधाकर, सम्पादक, पंकज गौतम–*सबके दावेदार*, अंक–फरवरी, 2009, पृष्ठ 11
16. जयप्रकाश लीलवान की कविता
17. जयप्रकाश लीलवान की कविता
18. नामदेव ढसाल, *गोलपिठा*, कविता–संग्रह, पृष्ठ 62
19. लोकनाथ यशवंत, *आणि शेवटी काय झाले*, यमक प्रकाशन, चन्द्रपुर, 1994
20. जयप्रकाश कर्दम, *गूंगा नहीं था मैं* (कविता–संग्रह),
21. जयप्रकाश कर्दम, *तिनका–तिनका आग*, कविता–संग्रह, 2004
22. श्यौराज सिंह बेचैन, *नई फसल*, मानसी प्रिंटर्स, मुरादाबाद, 1981, पृष्ठ 34
23. दया पवार, *सिद्धार्थ नगरी, कोंडवाडा*, पृष्ठ 46, मागोवा प्रकाशन, पूणे, 1974
24. नामदेव ढसाल, *मूर्ख म्हाता याने रे डोंगर :हलविला*, पृष्ठ 73
25. लोकनाथ यशवंत, *समाजवाद, पुन्हा चाल करू याकू*! पृष्ठ 46
26. अर्जुन डांगले, *मी त्याच्या हाईल, छावणी हाले आहे*, भाषी प्रकाशन, मुंबई, 1977, पृष्ठ 34
27. त्र्यंबक सपकाले, *सुरंग*, पृष्ठ 22
28. डॉ. आर. जी. सिह–*भारतीय दलितों की समस्यायें एवं उनका समाधान*, मध्य प्रदेश ग्रंथ अकादमी, पुनः मुद्रित 1996, पृष्ठ 125–126
29. म. मि. चिटणिस, *अस्मितादर्शः* लेखक सम्मेलन, औरंगाबाद के उदघाटन भाषण से
30. मीना काम्बले, *हयाती*, अंक–1 मार्च, 1998, पृष्ठ 7, संपादक–मोहन परमार
31. पंकज गौतम, "हिन्दी दलित कविता का समाजशास्त्र", *सबके दावेदार*, अंक–58 फरवरी, 2009, पृष्ठ 9
32. सी.बी. भारती, *सबके दावेदार*, अंक–58, पृष्ठ 9
33. सी.बी. भारती– *आदमी, दलित साहित्य* 2004, सम्पादक–जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ 188, निर्मल पब्लिकेशंस शाहदरा, दिल्ली, 2005
34. वामन निबाळकर–*गाव कुसाबहेरील*, कविता–संग्रह, प्रबोधन प्रकाशन, नागपुर, दूसरा संस्करण–1979, प्रथम संस्करण– 1971,
35. नामदेव ढसाल, *गोलपीठा*, कविता–संग्रह
36. सी. बी. भारती, 'गति' शीर्षक, *आक्रोश* (कविता–संग्रह) प्रकाशन, फर्रूखाबाद, 1996, पृष्ठ–2
37. मलखान सिंह, *सुनो ब्राह्मण*, परिवेश प्रकाशन, चन्दौसी, 1996, पृष्ठ 40–41
38. दया पवार, *कोंडवाडा*, कविता–संग्रह, मागोवा प्रकाशन, पूणे, 1974
39. लोकनाथ यशवंत, *शस्त्रों की कविता, ऐलान*, हिन्दी अनुवाद–किरण मेश्राम, मुक्त छंद प्रकाशन, नागपुर, 2006

40. असंगघोष, *खामोश नहीं हूं मैं* (कविता–संग्रह), तीसरा पक्ष प्रकाशन, जबलपुर, 2001, पृष्ठ 34
41. यशवंत मनोहर की कविता
42. नामदेव ढसाल, *गोलपीठा*
43. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *जाति, सदियों का संताप*, फिलहान प्रकाशन, देहरादून, 1998,
44. धनंजय कीर, *डॉ. अम्बेडकर*, पृष्ठ 283–284
45. स्वामी विवेकानन्द, *जाति, संस्कृति और समाजवाद*, रामकष्ण मठ, नागपुर, 1986, पृष्ठ 82–83
46. बाबूराम बागुल,*दलित साहित्यः एक अभ्यास*, संपादक–अर्जुन डांगले, पृष्ठ 89
47. मोहनदास नैमिशराय, *ईश्वर की मौत, आग और आंदोलन* (कविता–संग्रह), भारतीय बौद्ध महासभा, अम्बेडकर भवन, नई दिल्ली, 2000
48. लोकनाथ यशवंत, *भजन, पुन्हा चालू करूं या*! कविता–संग्रह, पृष्ठ 38
49. शरण कुमार लिम्बाले, परिवर्तित संदर्भ और साहित्य के *निकष, प्रगतिशील वसुधा*, अंक 71, अक्तूबर–दिसम्बर, 2006, पृष्ठ 398
50. ज.वि. पवार, *नाकेबंदी*, पृष्ठ 20
51. अरुण काम्बले, *अस्मितादर्श*, अंक–जून–जुलाई, अगस्त, 1976
52. दया पवार, मरण, *कोंडवाडा*, पृष्ठ 19, मागोवा प्रकाशन, पूणे, 1974
53. अर्जुन डांगले, *छावणी हिलते आहे*, कविता संग्रह
54. वामन निम्बाळकर, *गांव कुसा बाहेरील* कविता–संग्रह, प्रबोधन प्रकाशन, नागपुर, 1979, पृष्ठ 23
55. नामदेव ढसाल, *गोलपीठा*, पूणे, 1975
56. अरुण काळे, प्रदूषणः एक चिंताजनक स्थिति, हिन्दी अनुवाद–ओम प्रकाश वाल्मीकि, *लोकमत समाचार*, 9 मार्च, 2008, रविवार, पृष्ठ 2
57. चन्द्रकांत बांदिवडेकर, *मराठी साहित्य, परिदृश्य*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ 191
58. चन्द्रकात पाटिल, *अगली शताब्दी की ओर*,, अनूदित, पृष्ठ 4
59. डॉ. ईश्वर सिंह चौहान, सावधान, *बयान, जून*, 2012, सम्पादक, मोहनदास नैमिशराय, पृष्ठ 36
60. मलखान सिंह, *सुनो ब्राह्मण!* परिवेश प्रकाशन चन्दौसी 1996, पृष्ठ 37
61. ओम प्रकाश वाल्मीकि, शम्बूक का कटा सिर, *सदियों का संताप*, पृष्ठ 13
62. चन्द्रकांत बांदिवडेकर *मराठी साहित्य,परिदृश्य*, पृष्ठ 190
63. जयप्रकाश कर्दम, *गूंगा नहीं था मैं*, पृष्ठ 12

64. दया पवार, *कोंडवाडा,* पृष्ठ 15
65. अरुण काळे, खंत, राक गार्डन (कविता–संग्रह), लोकवाङ्मय गृह, मुम्बई, पृष्ठ 35–36
66. केशव मेश्राम, *उत्खनन,* पृष्ठ 22
67. ओम प्रकाश वाल्मीकि, ''तनी मुट्ठियां'', *सदियों का संताप,* 1989, पृष्ठ 14–15,
68. कंवल भारती, *दलित कविता का संघर्ष,* स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 174
69. वसंत राजस, उच्चवर्णीय साहित्यकारों ने अन्याय मूलक समाज–व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह क्यों नहीं किया? *दलित साहित्य, वेदना और विद्रोह,* सम्पादक–शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 127
70. नामदेव ढ़साल, *गोलपीठा,* पृष्ठ 13
71. बापूराव जगताप, *अस्मितादर्श,* दीपावली, अंक, 1979
72. दया पवार, *कोंडवाडा,* पृष्ठ 60
73. दया पवार, *कोंडवाडा,* पृष्ठ 20
74. लोकनाथ यशवंत, *लव स्टोरी, पुन्हा चाल करू या...!* यंग इंडिया पब्लिकेशन्स, मुंबई, 2009, पृष्ठ 59
75. अरुण काळे, 'कान', हिन्दी अनुवाद, *लोकमत समाचार,* 9 मार्च 2008, रविवार, पृष्ठ 2
76. दया पवार, 'खांडवन', *कोंडवाडा,* पृष्ठ 54
77. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *बस्स! बहुत हो चुका* (कविता–संग्रह), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
78. अरुण काले, आज कहां क्या? *प्रगतिशील वसुधा*–71, पृष्ठ 301, अनुवाद–प्रफुल्ल शिलेदार
79. डॉ. एन. सिंह, कविता : दलित चेतना
80. सी. बी. भारती, 'गति' शीर्षक, *आक्रोश* (कविता–संग्रह) प्रकाशन, फर्रूखाबाद, 1996,
81. लोकनाथ यशवंत, *ऐलान,* (हिन्दी अनुवाद–किरण मेश्राम), पृष्ठ 52
82. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी साहित्य में दलित अस्मिता (डॉ. कालिचरण स्नेही, पृष्ठ 108)
83. अरुण काळे, 'सबके जलने की एक ही गंधकृ! हिन्दी अनुवाद, *लोकमत समाचार,* 9 मार्च, 2008, रविवार, पृष्ठ 2
84. भालचन्द्र फडके, *दलित साहित्यः वेदना व विद्रोह,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 65

85. बजरंग बिहारी तिवारी, सुचिन्तित आक्रोश की कविताएं, *वसुधा,* अंक–48, जनवरी। जून, 2000, संपादक–कमला प्रसाद, पृष्ठ 337
86. अर्जुन डांगले, *दलित साहित्य : एक अभ्यास, 1978*
87. बाबुराम बागुल की कविता
88. रा. भि. जोशी, *दलित साहित्य : एक अभ्यास,* सम्पादक–अर्जुन डांगले, पृष्ठ 89
89. बाबुराम बागुल, दलित साहित्य एक अभ्यास, पृष्ठ 89–90
90. वही
91. रा. भि. जोशी, दलित साहित्य : एक अभ्यास, पृष्ठ 90
92. नामदेव ढ़साल, *गोलपीठा*
93. लोकनाथ यशवंत, भूमिका, *आणि शेवटी काय झाले?* कविता संग्रह, सत्यम, नागपुर, 206, पृष्ठ 12
94. वही
95. अरुण काळे, 'जाली रोशनी', हिन्दी अनुवाद, *लोकमत समाचार,* 9 मार्च, 2008, रविवार, पृष्ठ 2
96. कंवल भारती, *लोकमत समाचार,* नागपुर, 21 मार्च, 1993
97. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *लोकमत समाचार,* नागपुर, 21 मार्च, 1993
98. सुशीला टाकभौरे, *स्वाति बूंद और खारे मोती,* शर्द प्रकाशन, नागपुर, 1993, पृष्ठ 9

अध्याय पांच

हिन्दी और मराठी दलित कविता की शिल्पगत विशिष्टता

भाषा

साहित्य में 'संरचना' का महत्त्वपूर्ण कारक 'भाषा' है। ग्राम्सी का मानना है कि भाषा एक सांस्कृतिक समाज की सांस्कृतिक उपलब्धि है। वह उस समूह की वैश्विक दृष्टि को अभिव्यक्त करती है। भाषा का तनाव, व्यंग्य, मुहावरे, बिम्ब, इत्यादि सूक्ष्म स्तर पर 'जातीय लोकप्रिय' को अभिव्यक्ति देते हैं। इसी से वह राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के विस्तृत और कलापरक आलोचना में सूक्ष्म विश्लेषण का हिमायती है। इनमें विरोध नहीं, बल्कि एकता ही है।

मार्क्स ने भाषा को व्यावहारिक चेतना कहा है। जैसे मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक जीवन के क्रिया व्यवहार, अनुभव और चिंतन से विकसित होती है, वैसे ही भाषा का विकास होता है। भाषा अपनी प्रकृति और प्रयोजन में सामाजिक होती है। भाषा के परिवर्तन और विकास का समाज के परिवर्तन और विकास से गहरा संबंध प्रकट होता है।[1]

दलित कविता ने विषयवस्तु और आशय को महत्त्व दिया है। इसीलिए दलित कविता ने पारंपरिक हिन्दी और मराठी साहित्यिक मापदण्डों का विरोध किया है। सामान्य जीवन के अनुभवों को जीवन से जुड़ी भाषा अर्थात अपनी भाषा में प्रस्तुत किया। 'अपना जीवन, अपनी भाषा' के आदर्शों को साहित्य में स्थापित किया। दलित

साहित्य की यह मान्यता है कि दलित कविता में वस्तु और भाषा की जो ताजगी है, वही उसका अर्थबोध भी है जो दलित कविता के लिए एक ताजगी भरा एहसास है। इसीलिए दलित कविता में लाक्षणिक नवीनता उत्पन्न हुई है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

दरअसल हिन्दी दलित कविता में समाज की अवधारणा अमूर्त होकर उपस्थित नहीं हुई है। कविता के समाजशास्त्र की समस्या वहां सर्वाधिक होती है जहां रचना में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ अमूर्त हो, सामाजिक अनुभव वैयक्तिक अनुभव बनकर उपस्थित हो तथा कविता की भाषा में आए शब्द और उनके अर्थ सांकेतिक शब्दावली में बातचीत करें। हिन्दी दलित कविता की भाषा न तो सांकेतिक है और न ही इसके भाव अमूर्त। इसमें एक खास प्रकार की सामाजिकता है, जो पाठक अथवा श्रोता में दलित समाज का यथार्थ बनकर उपस्थित हुआ है। इसीलिए दलित कविता की बनावट, उसका स्वरूप अभिव्यक्ति की उदात्तता, कलात्मक संरचना और सामाजिक अस्मिता के साथ उसका गहरा लगाव आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो कविता की ऐतिहासिकता और सामाजिकता की तलाश में मदद करती हैं।[2]

1 भाषा का नया रूप

दलित कविता ने परंपरागत शास्त्रीय संस्कृतनिष्ठ, क्लिष्ट भाषा और उसके काव्यशिल्प तथा शैलीगत मुहावरे की प्रस्तुति को प्रारंभ से ही स्वीकार नहीं किया। हिन्दी और मराठी दलित कविता में भाषा को लेकर यह समानता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। दलित कवि को इस शास्त्रीय भाषा का स्वरूप सामंती और ब्राह्मणवादी दिखाई देता है। 'दलित साहित्य के सभी लेखक गहरे जीवन संदर्भों से जुड़े हुए लेखक हैं, जिन्होंने व्यक्तिगत और किताबी भाषा से अपने को अलग करके समय के विस्तार में जी रहे आम आदमी की 'बोली' को रचनात्मक भाषा का दर्जा दिया है। इन्होंने अपने प्रदेशों, अंचलों,

गली–कूंचों, नगरों, महानगरों में बिखरी और वातावरण में समाई भाषा को नए अर्थ दिये हैं।'[3]

अर्जुन डांगले की इन पंक्तियों में भाषा को लेकर की गई टिप्पणी दलित साहित्य की आंतरिकता का सहज रूप में व्यक्त करती है–

ते जगत असतात साहित्याचा
इतिहास घडविण्यासाठी
आपण जगतो आहोत
युगाचा इतिहास घड़विण्यासाठी

(वे जीते हैं
साहित्य का इतिहास रचने के लिए
हम जी रहे हैं
युग का इतिहास रचने के लिए)[4]

डॉ. दीपक प्रकाश त्यागी लिखते हैं,' ...उपेक्षित तिरस्कृत शब्दों की ऐसी दुनिया से साक्षात्कार होता है, जिसे अस्पृश्य माना गया एवं अपमान, दंश की काल कोठरी में सदियों तक कैद रखा गया, किन्तु ये शब्द अब अपनी भाषा में विद्रोह एवं क्रांतिधर्मिता के साथ अपनी अस्मिता एवं सत्ता का एहसास तो करा ही रहे हैं, परंपरागत मान्यताओं को भी प्रश्नांकित कर रह हैं–

भाषा हो जाती है असमर्थ
नए सूर्य की धूप में
चुंधिया जाती हैं जिसकी आंखें
रटने लगती हैं
घिसीपिटी क्रियाएं

जो धीरे–धीरे प्रलाप में बदल कर
खो जाती हैं रेतीले बवण्डर में
कितना बेबस हो जाता है शब्द
जो कभी ब्रह्म था।

शब्द–ब्रह्म की अद्वैतता के बहाने जो शोषण का दुष्चक्र था, ओम प्रकाश वाल्मीकि उसे पूरी तरह क्रांतिधर्मिता एवं विवेक के साथ बेनकाब करके साहित्य चिंतन का नया शास्त्र प्रस्तुत करते हैं। उनके यहां जीवन–संघर्षों से निकली हुई वैचारिकता है, विद्रोह, आक्रोश अस्वीकार एवं प्रतिरोध से पहचानने का हुनर भी है, और उसे काव्यात्मक स्वरूप में ढालने का साहित्यिक विवेक भी।'[5]

हिन्दी दलित कवि सुखवीर सिंह की कविता का एक अंश, जिसमें वे भाषा की सहजता में जीवन के गहरे अर्थों का अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते हैं–

एक गांव है जो
मेरे कंधों पर बैठा है
गिद्ध की तरह

ओ मेरे गांव! तेरा कोई भी हो चाहे नाम
पर काम हमेशा एक ही सा रहा है
पिछली गुलाम सदियों की तरह [6]

रामकुमार कृषक भवानी प्रसाद मिश्र की कविता पंक्तियों– 'जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख। और उसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख' के संदर्भ से वे भाषा और शिल्प की जनोन्मुख मांग करते हैं। दरअसल कविता की यह मांग जिस समकालीन कविता के दिग्गज (इसमें साहित्य अकादमी पुरस्कार सम्मानित कवि भी शामिल हैं)

लगातार अनसुना करते रहे हैं। साथ ही जनमानस की जो परंपरा कबीर ने स्थापित की थी उसे भूलकर वे विदेशी टोटकों से कविता को अपठनीय बनाने की बौद्धिक दादागिरी कर रहे हैं।[7]

आगे वे कहते हैं 'इसे एक खास किस्म के 'इलिट' कवि खाद–पानी देकर स्वयं को बड़ा दिखाने की कोशिश करते हैं। मैंनेजर पाण्डेय इसे विशिष्टतावादी जनवाद कहते हैं। ऐसे कवि अभिजात्यता के मोह पाश में बंधे हैं और साधारण जन के प्रति उनका नकारात्मक रवैया है। यदि ऐसा नहीं है तो उन्हें कविता को सहज और समझ में आने लायक बनाना होगा। जो सामाजिक जीवन में अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ कविता को सहज संप्रेषणीयता की तरह लौटना होगा, सिर्फ शिल्प नहीं अंतर्वस्तु में भी।'[8]

व्यंग्यात्मकता

दलित कविता ने अपनी एक नई भाषा गढ़ी है जो दलित जीवन के यथार्थ को बिना लाग–लपेट के अभिव्यक्त करने में सफल हो। इसीलिए दलित कविता में भाषा की व्यंग्यात्मकता, तीखापन, राग–द्वेष, अपनी पूरी साफगोई के साथ दिखाई पड़ता है। भाषा का तीखापन यथार्थ के कथ्यजनित प्रसंगों के साथ सामंजस्य बैठा कर कितना मुश्किल किंतु मारक बिम्ब निर्मित करता है, यह शरण कुमार लिम्बाले की कविता 'राष्ट्र गीत' में देखने को मिलता है–

> मेरी प्रेमिका के गाल पर भरी जवानी में
> पड़ी हुई झुर्रियों के नीचे
> इस देश की सार्वभौमिकता गाढ़ी जा रही है
> और उसके आंसुओं से खिल उठे हैं हिचकियों के लाखों बगीचे
> राष्ट्र गीत गाने के लिए।[9]

लिम्बाले की यह प्रेमिका 'संडास साफ करने वाली' है, जिसके होठ

नेहरू के कोट वाले गुलाब से भी ज्यादा सुवासित होते हैं। अपनी निजी जिन्दगी में मौजूद किसी रिश्ते में निहित खुशी, ऐसे कवि को राष्ट्रीय प्रतीक में उपस्थित किसी खुशी से ज्यादा लगती है। यह अपने ढंग का बिल्कुल अलग तरह का विद्रोह है, जो सामाजिक समझ आने के बाद ईमानदारी से अपने सरोकार तय करने के क्रम में होता है। निर्मम यथार्थ से सामना करते हुए अपनी भाषिक मुद्रा बदल लेने वाले कवि एक तरफ हैं, तो कविता को ही अपने रिश्तों का परीक्षण स्थल बना देने वाले कवि दूसरी तरफ हैं।'[10]

शरण कुमार लिम्बाले के कविता–संग्रह 'उत्पात' पर टिप्पणी करते हुए दया पवार कहते हैं, 'यह कविता दलितों की आतंरिक मानसिकता की चीरफाड़ करने वाली कविता है। उपहासात्मक रूप में हम खुद ही हमारा मजाक उड़ायें इस प्रकार का साहसी स्वर इसमें है। हमारे नायक या नायिकाओं को केवल उदात्त या विद्रोही, इस एक ही रंग से चित्रित किया जाता है, परन्तु मनुष्य में जो आक्रात्मकता आती है, उसका कारण परिस्थितियां होती हैं। एक ओर वह वीर होता है ओर दूसरी ओर डरपोक भी। इस प्रकार के निर्भीक चित्र शरण कुमार लिम्बाले उपस्थित करते हैं। संघर्ष करते हुए लड़ने वाला कार्यकर्त्ता और परिस्थितियों के दबाव के कारण निष्क्रिय हुआ मन, दोनों ही यथार्थ हैं।'[11]

यह भाषा का एक नया रूप कविता में उभरा कर आया है जो दलित कविता को और ज्यादा जीवन के करीब ले जाती है।

ऐसा ही भाषा का रूप लोकनाथ यशवंत की कविताओं में भी देखने को मिलता है, उनकी कविता 'वास्तव' में आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग कविता जीवन की सच्चाईयों से जोड़कर प्रभावशाली बना देता है।

मराठवाडा विद्यापीठाला डॉ. आम्बेडकरांच्या
नावाची मागणी उठताच।

शिळया कढी ला ऊत।
सगळे जात्यंध कामाला।

'मोर्चे अडवा, मोर्चे जिरवा' पोलिसांचा कर्तव्यदक्ष कार्यक्रम।
दलितांची एक सम्पूर्ण पिढीच नेस्तानाबूत।

नागपुर विद्यापीठाला तुकडोजीचे नाव
मागणी नसताना नांदेडला
रामानंद तीर्थ विद्यापीठ
सगळे कसे शांत कसे आनंदी आनंद गडे।
कुठे 'हूं' नाही, की 'चू' नाहीं।

आपले तर कधी कुणाला उणाला विरोधिच नव्हता।
पण, असे असते गड्या।
तू बारीकसारीक गोष्ठी समजते जा![12]

(मराठवाडा विद्यापीठ का डॉ. अम्बेडकर
नाम देने की मांग उठते ही।
बासी कढ़ी में उबाल आ गया।
सारे जातिवादी काम पर लग गये।)

'मोर्चा रोको, मोर्चा भगाओ' पुलिस के कर्तव्यदक्ष कार्यक्रम शुरू
दलितों की एक सम्पूर्ण पीढी नेस्तांनाबूद।

(नागपुर विद्यापीठ को तुकडोजी का नाम
मांग न होने पर भी नांदेड को
रामानंद तीर्थ विद्यापीठ
कैसे सब शांति–शांति से,

हुआ सब कैसे खुशी–खुशी
कहीं 'हूं' नहीं, कहीं 'चूं' नहीं

अपना कभी किसी से नहीं था विरोध
लेकिन, ऐसा होता है यार।
तू, बारीक–सारीक बातें समझता जा!)

संवादात्मक भाषा

दलित कविता में संवादात्मक भाषा का प्रयोग काफी हुआ है। जो कविता को निजी और सामाजिक सरोकारों से जोड़ती है। वाहरू सोनवणे की कविता 'मां, पहली लड़ाई अपनी ही'–

कब तक मेरा पक्ष लेती रहेगी मां
बाप देता है गालियां तू छिड़कती है जान
नाते तोड़ डाल मां। नाते तोड़ डाल
बाहर की दुनिया अच्छी नहीं
डर लगता है तो,
मां, मुझे जन्म क्यों दिया?
पेट में ही रखकर घूमती?[13]

यह प्रश्न एक बेटे का मां से किया प्रश्न भर नहीं है। यह सचेतन के मत से किया गया प्रश्न है। इस प्रश्न में प्रचलित सामाजिक अवस्था का आखेट करने की जिद्द भी है जो संवादात्मक भाषा के कारण और अधिक सम्प्रेषणीय हो जाती है।

इसी तरह की अभिव्यक्ति हिन्दी दलित कवि असंगघोष की कविता में भी संवादात्मकता दिखाई देती है।

बेटा

तुम पूछना उससे
कैसे चलाते थे हम घर?
कैसे पढ़ाते थे तुम्हारे पिता को?
उसके समय में
वही तो एक मात्र चश्मदीद गवाह है
हमारे समय का
तुम्हारे समय का।[14]

डब्ल्यू कपूर की कविता में भी संवादात्मक शैली का ही प्रयोग दिखाई देता है। जिसका प्रभाव बहुत गहरा है। भाषा का प्रयोग कविता में अभिव्यक्त वेदना को सीधे–सीधे संवेदना से जोड़ देता है जहां एक दलित की वेदना कई सवाल खड़े कर देती है।

कल का ज़ख्म
कुछ और ही था
कैसे कहूं दोस्त?
पीड़ा के आवर्तनों की प्रकृति
एक ही तो है
माना आज सिर्फ खरोंच आई है
सही है कि आज नहीं है तेजी से
बहता हुआ खून कल की तरह
फिर भी आज की खरोंच से
कल का जख्म हरा हा उठा है
कौन समझेगा?
कैसे कहूं दोस्त कि देह की पीड़ा से
ज्यादा खतरनाक है
भीतर की पीड़ा?[15]

कौशल पंवार की कविता सवाल बनकर सामने खड़ी हो जाती है। उनके ये सवाल तीखे और गहरी वेदना के साथ कविता में अपनी पूरी ऊर्जा के साथ अभिव्यक्त होते हैं–

यह बतलाओगे?
बलात्कार की शिकार
तुम्हारी बहन की भाषा कैसी होगी
कैसे होंगे
गुलामी की जिंदगी जीने वाले
तुम्हारे बाप के विचार
ठाकुर की हवेली में
दम तोड़ती
तुम्हारी मां के शब्द?[16]

लोकनाथ यशवंत मराठी दलित कविता के सशक्त और विद्रोही कवि है। उनकी कविता में अभिव्यक्ति का तेवर और मौलिक शब्द रचना उभरी है। दलित कविता जन सामान्य की कविता में सम्प्रेषणीयता का प्रारूप भी वैसा ही है। जो जनमानस के सुख–दुःख को उसकी भाषा में ही प्रस्तुत किए जाएं तो ज्यादा प्रभावशाली ही नहीं बल्कि ज्यादा प्रेरक, ज्यादा मारक और ज्यादा सुग्राह्य भी होंगे। तभी उस अभिव्यक्ति का उद्देश्य पूरा होता है। लोकनाथ यशवंत ने अपनी कविता की संरचना इसी जनभाषा में की है। उनकी मराठी कविता में दलितों के बीच बोली जाने वाली बोली–बानी का पुट देखने को मिलता है। वही इनकी कविता को सुग्राह्य बनाता है। दलित कविता ने अम्बेडकरी आंदोलन में उभरे अनेक उतार–चढ़ाव का विश्लेषण, चिन्तन, मनन करते हुए अपनी कविता को प्रस्तुत किया है। यह मराठी दलित कविता का एक ऐसा आयाम है, जहां दलित कविता मराठी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा बनकर उभरती है और अपनी प्रखरता,

ओजस्विता, जीवंतता में कविता के सभी मानदंडों को लेकर सामने आती हैं। उनकी 'आत्मचरित्र' शीर्षक कविता देखें–

सृष्टीत स्वतःचे जीवन घेऊन आलो होतो
माझ्या पद्धती ने बिनधास्त जगलो
कुणाचा द्वेष केला नाही।
अन गुलामीही।

ऐर्यागैर्यांची मानसिक बधंन
वापरजी नाहीं अलंकार महणून।
स्वतंत्र मार्गा ने जीवन क्रमित राहिलो।

मी मेलो।
धरमाचे तथाकथित ठेकेदार गिधाडांसारखे
मत्रोच्चारात त्यांनी शरीरा वे अंत्यसंस्कार केलेत

''खाया पिया कुछ नहीं। गिलास फोड़ा चार रुपया!''[17]

(सृष्टि में अपना जीवन लेकर आया था।
अपने ढंग से बिंदास जिया
किसी से द्वेष नहीं किया,
और, गुलामी भी नहीं की।

ऐरे–गैरे के मानसिक बंधन
अलंकार मान कर स्वीकार नहीं किये
स्वतंत्र मार्ग से जीवन जीता रहा।

मैं मर गया।

धर्म के तथाकथित ठेकेदार गिद्ध सरीखे जमा हुए
मंत्रोच्चारों के साथ उन्होंने शरीर का अंतिम संस्कार कर दिया।

''खाया पिया कुछ नहीं। गिलास फोड़ा चार रुपया!)

लोकनाथ यशंवत की कविता में विदर्भ में बोली जाने वाली मराठी का पुट देखने को मिलता है। वही इनकी कविता को सुग्राह्य बनाता है।

हिन्दी दलित कवि जयप्रकाश कर्दम अपनी अंतर्वेदना जीवन से जुड़ी आम बोलचाल की भाषा में सहज और सरल ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। लेकिन कविता अपनी मारक क्षमता से भीतर तक उतर जाती है–

अरे ओ मोरिया
ज्यादे बिगड़ै मत
कमीज कू पेंट में दबा कै मत चल
मैंने चुपचाप अपनी कमीज
पैंट से बाहर निकाल ली थी।[18]

3. दलित जीवन के संदर्भों की भाषा

दया पवार कहते हैं, 'नामदेव ढसाल की कविता में जो भावनाओं का उद्दाम आवेग है और उनकी गालियों से भरी भाषा कईयों को केवल धक्का देने के लिए लिखी होगी ऐसा लगता है। परन्तु उन्होंने जीवन को जिस रूप में जाना और उसकी अभिव्यक्ति कविता के माध्यम से करनी चाही तब अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रचलित मराठी ग्रंथों की भाषा उन्हें अधूरी लगी। जिस सहजता के साथ कोई कवि दृष्टांतों एवं प्रतिमानों का प्रयोग करता है और उसी कारण उसकी कविता नई लगती है, वही गर्भित अर्थ ढसाल की गालियों के पीछे है।'[19]

मराठी के प्रतिष्ठित कवि केशव मेश्राम की मान्यता है– 'संकीर्ण सड़े धर्म पर, वर्गीय प्रवृत्ति पर, ढोंगी व्यवस्था पर, पुरानी परंपराओं पर, गुलगुले पन, पर, स्वैराचार के आविष्कार पर वह हमला करती है। इसीलिए कोमल भाषा में लयबद्ध मनोरंजन बोली में बोलने का उसके लिए कोई प्रयोजन नहीं हैं। स्वयंसिद्ध श्रेष्ठत्व का दम्भ भरने वाले सब दम्भों से उसकी दुश्मनी है, संकुचित धर्म लक्षणों से उसकी पूरी शत्रुता है।'

प्रहलाद चेंदवणकर की कविताओं में हम प्रत्यक्ष राजनीतिक चेतना देखते हैं जो दलित जीवन के सरोकारों के प्रति बेहद संवेदनशील है। इसीलिए इनकी कविताओं में रोष है, आंदोलन धर्मी मुद्दे उनकी कविताओं में साफ–साफ देखे जा सकते हैं।

कंधे पर झंडा और मुठ्ठी में
सारी दुनिया का गुस्सा होता है
आसपास राइफलों का तांडव और साथ में
बख्तर बंद गाड़ियों का मादल होता है
उस दिन रास्ता हमारे
बाप का होता है।[20]

यह धमाका एक राजनीतिक कार्यकर्ता का है जो व्यवस्था को बदल देने पर उतारू है, और देश में अपने होने का दर्ज कराना चाहता है।

भाषा और शिल्प दो अलग–अलग चीजें है। भाषा के लिए चेतना होना जरूरी है तभी भाषा का सही प्रयोग विकसित होता है। चेतना जिसे 'कांसेसनेस' कहां जाता है। भाषा और चेतना का गहरा सम्बन्ध है। साहित्य में स्मृतियां, बौद्धिकता और चेतना के योगदान से ही गंभीरता आती है। इसी तरह शिल्प की बुनावट पैदा करता है। इसीलिए हर रचना का शिल्प एक जैसा नहीं होता। अपने जीवन अनुभव के आधार पर ही रचना का शिल्प आकार लेता है। इसीलिए

कहा जाता है कि रचना की अंतर्वस्तु का पहला स्थान है, शिल्प बाद में, लेकिन दोनों का गहरा सबंध है। दोनों को अलग–अलग करके नहीं देखा जा सकता है।[21]

'दलित साहित्य ने परंपरागत तत्सम प्रधान, संस्कृतनिष्ठ भाषा, काव्यशैली और प्रस्तुतीकरण को नकार कर जन सामान्य को समझने लायक सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। वह ऐसी भाषा का इस्तेमाल करता है, जो दलितों की पीड़ा, अपमान और व्यथा तथा जन सामान्य की आशा–आकांक्षाओं के यथार्थ को सही अभिव्यक्ति दे सके।[22]

हरिनारायण ठाकुर की यह भी मान्यता है, 'दलित साहित्य कल्पनाओं में नहीं जीता। वह जीवन के कटु अनुभवों और जीवन यथार्थ के करीब होता है। यातनाओं से उपजी आक्रोशपूर्ण भाषा तेज औजार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। दलित समाज की बोली–बानी के ऐसे शब्द प्रकट होते हैं, जिनसे साहित्य अनभिज्ञ था, यह दलित साहित्य को ताजगी देता है और भाषा की जड़ता को तोड़ता है। मोहनदास नैमिशराय के उद्धरण का उपयोग करते हुए वे कहते हैं– 'दलित कविता सामाजिक आंदोलन का प्रतिफलन है। अन्य काव्यधाराओं और साहित्यिक परंपराओं की अपेक्षा उसका सीधा संबंध जीवन की जमीन से है। 'इस कथन में ही दलित साहित्य की सामाजिकता और सामाजिक प्रतिबद्धता छिपी है। सदियों से शोषण, हीनता और अपमान के शिकार दलितों ने जो सामाजिक उत्पीड़न सहा है, विषमताएं झेली हैं, भेदभाव और दमन ने उसके मस्तिष्क पर जो गहरी रेखाएं खींची हैं, दलित साहित्य उनकी गहरी अनुभूति द्वारा तद्जनित दुःख, क्षोम, आक्रोश, विरोध भी अभिव्यक्त करता है।[23]

यहां यह कहना भी तर्कसंगत लगता है कि 'वर्ण–व्यवस्था से उपजी विषमताओं और विसंगतियों को दृष्टि में रख ही दलित साहित्य, दलित कविता का विश्लेषण या मूल्यांकन किया जा सकता

है। सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक मूल्यांकन के अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। साहित्यिक सृजन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे पहचानने का भी एक साधन है। साहित्य और कला के प्रति यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में साहित्य के महत्त्व का उचित मूल्यांकन भी है। ...प्रकृति की तरह साहित्य, समाज और चिंतन भी परिवर्तनशील है। ऐसा कोई शाश्वत सिद्धांत नहीं है, जिसके आधार पर सौंदर्य–मूल्य निर्धारित किए जा सकें।'[24]

बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं, 'ओम प्रकाश वाल्मीकि अपने प्रतिपक्ष को ठीक–ठीक पहचानते हैं। वे जानते हैं कि इतनी लम्बी गुलामी की वजह महज आर्थिक शोषण या डंडे का डर नहीं है, यह गुलामी चेतना के अनुकूलन से संभव की गई है। ज्ञान को उनसे दूर ही नहीं रखा गया, बल्कि ऐसे संस्कार गढ़े, ऐसी मानसिकता बनाई गई कि ज्ञान–राशि के पास जाना उन्हें महापातक–सा लगे। देववाणी को सिर्फ भूदेव स्पर्श कर सकते थे। शेष लोगों के जिम्मे देववाणी की पवित्रता की रक्षा करना था।'[25]

'ग्राम्शियन डिस्कोर्स' में यही 'हेजेमनी' है। 'डोमिनेशन' की अवधि बहुत लम्बी नहीं होती, ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इसे बहुत पहले समझ लिया था। उन्होंने भाषा पर कब्जा किया। उसके जरिए 'कंडीशनिंग' की। खुद भाषा की 'कंडीशनिंग' हो गई। लुंच–पुंज भाषा चीखने, दहाड़ने, आक्रोश व्यक्त करने लायक नहीं बची। यह भाषा आराधना, भक्ति, समर्पण, रति–प्रसंगों को ही व्यक्त कर सकती थी। सीमित विषम व्यवस्था के अनुकूल विषय इस भाषा में जाहिर हो सकते हैं। जिन सवालों से शांति भंग होती है, जिन प्रसंगों से आम आदमी के दुःख जाहिर होते हैं, वे अभी काल कोठरी में बंद हैं–

बहुत चाहा लिखना कविता
आदमी के दुखों पर

जो ठिठुरता है सर्दियों में
मरता है लू के थपेड़ों से
डूबता है बाढ़ में
पर शब्द साथ नहीं देते।[26]

मराठी दलित कविता पर टिप्पणी करते हुए विमल थोरात कहती हैं– 'दलित कवि नामदेव ढसाल, नारायण सुर्वे, दया पवार, प्रहलाद चेंदवणकर, आदि की भाषा पर गन्दी और अभ्रद होने का आक्षेप तथाकथित उच्चर्णीय रचनाकार लगाते हैं। वास्तविकता यह है कि कवि अपने इर्द–गिर्द की वास्तविकता को पहचानकर उसके नग्न रूप का आवेग पूर्ण भाषा में अभिव्यक्त करते हैं। ये कवि जिस परिवेश में जी रहे हैं, वहां उनके साथ कूड़े के ढ़ेर, कुलबुलाते कीड़े, बहती नालियां, अंधकार, चूहे, बिल्लियां, और साथ ही महारोगियों की तरह क्षत–विक्षत झोपड़ियां, वेश्याएं, हिजड़े, भडुवें, भिखारी, बेरोजगार आदि कीड़े–मकोड़े की तरह जी रहे हैं। इस जीवन को वही भाषा अभिव्यक्ति दे सकती है, जिसे इन कवियों ने अपनाया है। अतः इन पर गंदगी या अभद्रता का आरोप लगाने वाले निश्चित ही पूर्वाग्रह दूषित दृष्टि का परिचय देते हैं।'[27]

सुप्रसिद्ध नाटककार विजय तेंदुलकर ने नामदेव ढसाल के कविता–संग्रह 'गोलिपिठा' की प्रस्तावना लिखते हुए कहा था, 'इनकी कविता में गहराई में बहाने वाले असंतोष का वह काव्यात्मक उद्रेक बन जाता है, जो कविता ही होती है। बहुत से अपरिचित बोली के शब्द इनकी कविताओं में सहज रूप में आते हैं। परिचित शब्दों के अनोखे प्रयोग देखे जा सकते हैं। इन सब में एक विलक्षण आत्मविश्वास झलकता है। उच्चकुलीन समाज ने जिसे बड़े ही नाजो अन्दाज से संजोकर रखा था, उसी कुलीन भाषा को नामदेव एक दासी की तरह झुकाता है, निर्दयता से उसे तोड़–मरोड़ कर रख देता है या उसमें अशिष्टता को भरकर उसे जान बूझ कर विद्रुप रूप बना देता है।

परन्तु उसकी कविता के आशय के लिए यह उसे आवश्यक लगता है। यह सब करते हुए भाषा के पारंपरिक सौन्दर्य और सामर्थ्य की भी उसे अच्छी तरह पहचान है, इसका प्रमाण भी देने से चूकता नहीं है।'[28]

गद्यात्मकता

हिन्दी कविता के प्रचलित मुहावरे, छंद आदि से हटकर दलित कविता ने गद्यात्मकता से परहेज नहीं किया है। जयप्रकाश कर्दम की यह कविता अपनी गद्यात्मकता के साथ पूरा प्रभाव छोड़ती है–

जो कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था
अप्रासंगिक हो चुकी है
जब तक स्मृतियां रहेंगी
रामायण, गीता और वेद रहेंगे
तब तक वर्ण शुचिता रहेंगी
अस्पृश्यता रहेगी
जातिवाद रहेगा
समाज में विघटन और विद्वेष रहेगा
समाज को प्रगतिशील बनाना है
जाति के जहर का मिटाना है तो
इन तथाकथित धर्मग्रंथों को आग लगानी होगी और
नकारना होगा
वर्णित उस ईश्वर को जो
कर्मानुसार
फल देता है।[29] (अ)

केशव मेश्राम मराठी दलित कविता में अलग खड़े दिखाई देते हैं। दलित कविता में वैयक्तिकता से ज्यादा समूह की भावना अधिक तीव्रता से उभरी है जो दलित चेतना को समूहवाचक बनाती है।

लेकिन केशव मेश्राम में यह वैयक्तिकता ज्यादा है। उनकी कविता में समूह और व्यक्ति के बीच का अंतर्द्वंद साफ–साफ दिखाई पड़ता है लेकिन भाषा की गद्यात्मकता अपना प्रभाव छोड़ती है। उनके पास शब्द सम्पदा का अथाह खजाना है–

माझे शब्द आणि त्याचे कान हयांच्यात आता
ओलख नाहीं
मी अपमानित माझ्या गावी निरर्थक शब्द जपतो म्हणून
मी कुचकामी जातीत हीं माझ्या पुरते बोलतों म्हणून

(मेरे शब्द और उनके कान इनमें अब
परिचय नहीं।
मैं अपमानित अपने ही गांव में, निरर्थक शब्दों को
संभालता हूं इसलिए।
मैं निरुपयोगी अपनों में भी
इसलिए कि बोलता हूं
केवल अपने लिए।)[29] (ब)

प्रतीक

हिन्दी और मराठी दलित कविता में नए प्रतीकों को सृजित किया गया है। बदलते जीवन मूल्यों एवं सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए जिन प्रतीकों को इन कविताओं में पिरोया गया है, वे नए संदर्भों से संपृक्त तथा युगीन बोध से प्रभावित सर्वथा नए और विशिष्ट प्रतीक हैं। परंपरागत प्रतीकों को भी नए अर्थ में व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किया गया है, सूरज, किरण, दिया, धूप, रोशनी आदि ऐसे ही प्रतीक हैं।

दलित कविता में शोषित, जीवन की भयावहता को आग, अंधेरा, गटर, शव, ग्रीष्म, कंकाल आदि प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया

है। अग्नि, सूरज, तूफान, बड़वानल आदि प्रतीक दलितों की विद्रोही वृत्ति को दर्शाने हेतु प्रयुक्त हुए हैं। दलित जीवन से जुड़ी वस्तुओं का तथा परिवेश का भी प्रतीकात्मक रूप में उपयोग किया गया है।

डॉ. दीपक प्रकाश त्यागी लिखते हैं–'...ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविताएं परंपरागत काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों को प्रश्नांकित करके मुक्तिकामी सौंदर्यशास्त्र निर्मित करने वाली ऐसी कविताएं हैं, जहां न केवल अतीत का रोना है, बल्कि वर्तमान की विसंगतियों का बोध भी है एवं निरंतर बदलते हुए समय को ठीक से पहचान कर सर्जना में ढालने का हुनर भी है। नदी, मां, पहाड़, जुगनू, काला सूरज, जैसे प्रतीक यहां आकर नई सर्जना एवं सामाजिक भूमिका से लैस हो जाते हैं। काव्य भाषा की सहजता महत्त्वपूर्ण है। किन्तु सहजता के पीछे जो क्रांतिधर्मिता है, वह वाल्मीकि की काव्य चेतना की विशिष्टता है। कविता यहां पहुंच कर मनोविनोद का विषय नहीं रहती, बल्कि वह क्रांति धर्मी हो जाती है। उनका विश्वास ठोस है और पारदर्शी भी, क्योंकि उसके 'शब्द झूठ नहीं बोलते'–

मेरा विश्वास है
तुम्हारी तमाम कोशिशों के बाद भी
शब्द जिंदा रहेंगे
समय की सीढ़ियों पर
अपने पाँव के निशान
गोदने के लिए
बदल देने के लिए
हवाओं का रुख [30]

बिम्ब

'काव्य कला के संदर्भ में बिम्ब का प्रयोग आधुनिक ही है, और वह अंग्रेजी शब्द 'इमेज' का प्रयाय है। पश्चिम का आधुनिक काव्यशास्त्र

'इमेज –बिम्ब' को कला का अनिवार्य माध्यम मानता हैः उपकरण ही नहीं वरन वह काव्य क्रिया कल्प का अनिवार्य अंग है। कला की सर्जना वस्तुतः बिम्ब–रचना का ही नाम है... बिम्ब के स्वरूप विश्लेषण में इतने विविध दृष्टिकोण और प्रविधि– भेद उलझ गए हैं, उस पर अलंकार शास्त्र के अतिरिक्त मनोविज्ञान, नृतत्त्व शास्त्र, पुराण विद्या, समाज विज्ञान आदि इतने अधिक अनुशासनों का आक्रमण हुआ है और उसका स्वरूप इतना अस्थिर, जटिल, व्यापक एवं अमूर्त बन गया है कि बिम्ब का स्पष्ट बिम्ब–इमेज की सही इमेज–जिज्ञासु के मन में स्पष्ट नहीं दे पाता।[31]

'इमेज' से अभिप्राय है, ऐसी सचेत स्मृति का जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में किसी अतीत अनुभव का समग्र अथवा अंश रूप में पुनरूत्पादन करती है।[32]

'इमेज' का हिन्दी संस्कृत रूपांतर है 'बिम्ब', जिसका शब्दार्थ हैः सूर्य–चंद्र–मण्डल, प्रतिच्छवि, प्रतिछाया, प्रतिबिम्बित अथवा प्रत्यंकित रूप, चित्र'।[33]

कविता में बिम्ब का प्रयोग सामान्यतः इसी अर्थ में होता है। लेकिन पाश्चात्य आलोचकों ने इसकी अनेक परिभाषाएं दी हैं–

काव्यबिंब एक प्रकार का भाव–गर्भित शब्द चित्र।[34]

बिम्ब किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्निर्मिति।[35]

बिम्ब पदार्थों के आंतरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।[36]

उपमान और प्रतीक के साथ भी बिम्ब का घनिष्ठ संबंध है। उपमान बिम्ब–रचना का साधन है। प्रतीक एक प्रकार से रूढ़ उपमान का ही दूसरा नाम है। दलित कविता में 'वस्तुपरक' और 'यथार्थ' बिम्बों का प्रयोग ज्यादा हुआ है जो दलित कविता की सामाजिक प्रतिबद्धता और वस्तुनिष्ठा के कारण है।

दलित कविता में बिम्ब वस्तु निष्ठता के साथ व्यक्त होता है। वस्तु जब कवि के आंतरिक भाव–विचार से जुड़ कर कविता में प्रस्तुत होती है, तब वह कवि की चेतना का विस्तार बनती है। दलित कवि अपने सामाजिक जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए बिम्बों की सृष्टि करता है जो उसकी मानवीय संवेदनाओं को निर्मित करने में सहायक होता है। दलित जीवन की विकट स्थितियों को दलित कवि इन बिम्बों के द्वारा सहजता से प्रस्तुत करता है।

समाज की इन परिवर्तनशील स्थितियों में दलित समाज यह आशा कर रहा है कि उसके जीवन पर छाई हुई सदियों पुरानी काली छाया दूर होगी और वह नई भोर के सूर्य को देख सकेगा। दलित कविता में प्रकाश, अंधेरा, प्रकाश किरण बिम्ब बनकर कविता में एक गहन संवेदना की निर्मिति करते हैं। मराठी कवि वामन निंबालकर की इन पंक्तियों को देखें–

मैं भोर के सपने देख रहा हूं
बाहर का अंधेरा खत्म होने वाला है
उजाला होने पर हमारे होठों के स्वर
दसों दिशाओं में गूजने वाले हैं

आओ सब एक साथ
गाएं प्रकाश के गीत
लेकर हाथ में हाथ
वह दूर दिखने वाली प्रकाश किरण ही
होगी कल का सूर्य।[37]

दलित समाज उस उगते सूरज को देख रहा है, जो सदियों से अंधेरे में डूबे घरों में भी उजाला ले आयेगा।

'काव्य–बिम्बों का प्रयोग निरपेक्ष तथ्य नहीं है। उसका आकलन बिम्बों के गुण और परिमाण पर निर्भर करता है। बिम्ब का प्रमुख गुण

है सजीवता अर्थात बिम्ब की रूप रेखा इतनी सुस्पष्ट होनी चाहिए कि प्रमाता तुरंत उसका एंद्रियता साक्षात्कार कर सके। बिम्ब का एक अन्य गुण है समृद्धि। यों तो इस शब्द का अर्थ सर्वथा परिभाषित नहीं है, पर सामान्यतः यह मधुर और उदात्त अथवा कोमल और विराट तत्वों के प्रचूर का द्योतक है। इन दोनों का अनुशासक गुण है औचित्य–अर्थात प्रसंग के प्रति अनुकूलता या सार्थकता।'[38]

दलित कवि दलित जीवन की त्रासदियों और विसंगतियों को अभिव्यक्त करने के लिए बिम्बों की निर्मिति अपने गहन जीवन अनुभवों के साथ करता है। दलित कवि उन सभी मूल्यों को ध्वस्त कर देना चाहता है, जिनके आधार पर वर्णव्यवस्था की नींव गहरी, अधिक मजबूत हुई है। इसी विद्रोही भावना को नामदेव ढ़साल बिम्बों के माध्यम से अपनी कविता में अभिव्यक्त करते हैं।

माणसाने प्लेटो आइन्स्टाइन आर्किमीडिज सोक्रेटिस
मार्क्स अशोक हिटलर बिटलर कामू सार्त्र काफ्का
बोदलेयर रेंबो ईझरा पांउड हापकिंस गेटे
दोस्तोव्स्की मायकोव्स्की मैक्झिम गोर्की
एडिसन मेडिसन कालीदास तुकाराम व्यास शेक्सपियर
ज्ञानेश्वर वगैरे वगैरे ना त्यांच्या शब्दासंकट गटरा चे
मेनहोल उघडून त्यात सलंग सड़त ठेवावे।[39]

जर्जर परंपरागत मूल्यों को नामदेव ढसाल गटर का मेन होल खोलकर उसके अंदर समूचा सड़ने के लिए रखना चाहता है। विद्रोही वृत्ति को निर्देशित करने वाला और दलित के मन के विक्षोभ को व्यक्त करने वाला सजग और सशक्त बिम्ब इस कविता में उभरा है।[40]

हिन्दी दलित कवि असंग घोष की कविता 'काला पहाड़' में बिम्बों की निर्मिति जिस तरह से हुई है वह समूची सामाजिक व्यवस्था को सवालों के घेरे में खड़ा कर देती है, आज दलित जीवन से जुड़े

हर सवाल का उत्तर चाहता है। इसीलिए दलित कविता में जीवन की व्यथा वस्तुनिष्ठता के साथ प्रस्तुत होती है और अपना पूरा प्रभाव छोड़ती है।

यह पहाड़ जो सामने खड़ा है
सब कहते हैं काला है

इस पहाड़ की मिट्टी मुरम
और यहां तक कि चट्टानें भी
काली नहीं हैं
फिर भी यह पहाड़
काला पहाड़ है

पहाड़ पर पेड़ भी हरे ही हैं
सरई के पेड़ हैं, हरे तो रहेंगे ही
जिससे पहाड़ का रंग भी
हरा है, भरा है
जब सब ओर हरियाली है
तो यह पहाड़ क्यों काला है

यहां तक कि गजेटियर में भी
अंग्रेजों ने लिखा है काला पहाड़

जितने लोग उतनी बातें
कोई कहता राजा ने बताया
यह पहाड़ काला है
इस प्रश्न पर सब मौन हैं
फिर भी इसे कहते हैं काला पहाड़।[41]

मिथक

पौराणिक, ऐतिहासिक तथा आधुनिक मिथकों द्वारा हिन्दी और मराठी कविता अपने जीवन यथार्थ की जटिलता को रूपायित करने का प्रयास करती है। महाभारत, रामायण, के 'मिथ' को हिन्दी और मराठी दलित कविता ने अपनाया है, किन्तु दलित कविता ने जातक कथाओं का भी उपयोग किया है। मिथकीय पात्रों एवं प्रसंगों की चिंतनशील गहरी मनोदशाओं से संयुक्त कर उन्हें आज के संदर्भ में प्रासंगिक बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अतः यह कह सकते हैं कि दलित कविता में प्रयुक्त मिथक नए जीवन–संदर्भों में भी अपनी अर्थवत्ता को साबित कर सके।[42]

कविता में मिथक का प्रयोग कोई नई संरचना नहीं है। यह कविता का जरूरी हिस्सा बन कर रहा है। मिथक जरूरी नहीं है कि पौराणिक या ऐतिहासिक ही हों। बल्कि वर्तमान के जीवन से भी मिथकों की निर्मिति संभव है। केदारनाथ सिंह का कहना है कि 'कभी–कभी कोई पौराणिक कथा अथवा 'मिथ' इस परिवर्तन की लंबी प्रक्रिया के बिना भी साहित्य में पहुंच जाता है, ऐसी दशा में लेखक अथवा कवि अपनी आवश्यकता के अनुसार उसे अपनी कल्पना के सांचे में ढाल देता है। और एक नई उद्‌भावनाओं से संयुक्त करके उसे ऐसा रूप देता है कि उसके मौलिक रूप की अपेक्षा उसमें कई गुना अधिक प्राणवत्ता आ जाती है।'[43]

देवेन्द्र चौबे कहते हैं– 'ओम प्रकाश वाल्मीकि की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है जिनमें ईश्वरी सत्ता का विरोध करते हुए कवि ने दलित अस्मिता को स्थापित किया है। तथा उन सभी संकेतों और प्रतीकों को निरर्थक घोषित किया है जिनसे ब्राह्मणवाद को बल मिलता है–

मेरी स्मृतियों में
राक्षस नहीं

डरावने देवता हैं
जो चैन से
सोने नहीं देते मुझे

हर एक दिन
बलि चढ़ता है
देवता के थान पर
फूटती है रक्तधार
मेरी रक्तशिराओं से

फिर भी बचा है अभी तक
मेरा वजूद
टूटे–फूटे मिट्टी के बर्तनों की शक्ल में
जो दबे पड़े हैं
खण्डहरों के नीचे
इतिहास बनकर

जितना खोदोगे
उतना गहरे पाओगे मुझे
जितना तोड़ोगे
ढहाओगे
लाओगे
फिर भी बचा रहा जाऊंगा
फैल जाऊंगा चारों ओर
हवा में उड़ती राख की तरह

राख बनेगी मिट्टी
मिट्टी से उपजेगा पौधा

पौधे से बनेगा पेड़
पेड़ की डालें
जब हिलेंगी
भय से थरथराओगे तुम
दोहराओगे मंत्र
फिर भी
रह जाओगे निपट अकेले

अशाय,—
देवता विहीन![44]

उपरोक्त कविता के समाजशास्त्र को दो तरह से समझा जा सकता है। एक, किसी भी कविता में जीवन—जगत के यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति का एक खास सामाजिक संदर्भ होता है, और दो, उस संदर्भ को समझने के लिए जरूरी है कि उसमें आए प्रतीकात्मक शब्दों और रचना की केंद्रीय संरचना को भी समझा जाए। यहां खास बात यह है कि बिना इन दोनों संदर्भों की आपसी एकता के कविता का सामाजिक अर्थ नहीं खुल सकता। कारण कविता में यथार्थ और अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है, वह एक तरह से पुनर्रचित ही होती है। कवि उन्हें जीवन अथवा सामाजिक संदर्भों से उठाकर रचनात्मक भाषा में अभिव्यक्त करता है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की यह कविता एक तरफ जहां पारंपरिक समाज में देवता और राक्षस के बारे में प्रचलित यह मिथकीय धारणा तोड़ने की कोशिश करती है कि डरावने सिर्फ 'राक्षस' ही नहीं 'देवता' भी होते हैं। वही दूसरी तरफ लोक प्रचलित मंत्र—शक्ति अथवा मंत्रों के सहारे जीने वाली ब्राह्मणवादी शक्तियों का अंत अब दूर नहीं है। क्योंकि उनके सहारे जीने वाले अब निर्बल हो चुके हैं। वास्तविक ताकत अब ऐसे लोगों को पास है जो श्रमिक है, संघर्षरत हैं। स्पष्टतः यह कविता कवि के वैयक्तिक अनुभव

को सामाजिक अनुभव के रूप में प्रस्तुत करती है जहां समाज की अस्मिता आतंकों का सामना करते तथा संघर्ष करते हुए रास्ता बनाता है। यहां 'राख से मिट्टी', 'मिट्टी से पौधा', एवं 'पौधे से पेड़' बनाने की प्रक्रिया कोई वनस्पति शास्त्र की प्रयोगिक पद्धति नहीं है, बल्कि एक दलित की वैचारिक सोच और संघर्ष के तमाम दबावों के बावजूद नष्ट न होने का प्रमाण है। यहां संकेत तो कई हैं, परन्तु उनके खुलने अथवा खोलने की सार्थकता इसी बात में है कि इसे दलित समाज के साथ जोड़कर देखा जाए।'[45]

मराठी दलित कविता में ऐतिहासिक, पौराणिक, आधुनिक मिथकों द्वारा दलित जीवन संदर्भ और सामाजिक स्थिति की वास्तविकता को रूपायित किया गया है। कर्ण, कुन्ती के 'मिथक' को दलित वर्ग और हिन्दू धर्माधिष्ठित समाज व्यवस्था के संबंध की वास्तविकता को स्पष्ट करने हेतु दलित कवियों ने प्रयुक्त किया है। त्र्यंबक सपकाले ने ऐसे ही कर्ण–कुंती के मिथक का सफल प्रयोग किया है।'[46]

तुला कुंती व्हायचे होते
मला व्हायलाच हवे कां कर्ण?
तुझ्या गर्भात असताना
कोणता होता माझा वर्ण?
माझ्यासाठी फूटला नाहीं तुला पान्हा
तोड़ातुकुणी, दिलेच नाही थाना
तरीही हक्क तुझा–मातृत्वचाच कां?[47]

(तुझे कुंती बनाना था
तो क्या मेरा कर्ण होना
जरूरी था?
जब था गर्भ में तेरे
तब कौन–सा था मेरा वर्ण?

मेरे लिए तुझ में मातृत्व की धारा नहीं फूटी

नहीं कराया मुझे स्तन पान
फिर भी क्यों अधिकार तेरा मातृत्व का?)

प्रश्न कुंती के रूप में समाज–व्यवस्था से पूछा गया है। उसने भी तो कर्ण के समान अपमानित जीवन झेलने के लिए दलितों को अपने से दूर किया। द्रौपदी के मिथक का उपयोग त्र्यंबक सपकाले ने फिर से हिन्दू संस्कृति का पर्दाफाश करने के लिए किया है–

शौराची पूजा करणारांनो
या भरल्या मैफलित
येणार आहे का द्रौपदी
माझ्या शौर्याचा अपमान करीत?
तर मग मित्रांनो।
तिच्या वस्त्राहरण च्या वेली
मी तटस्थ असेन, मी तटस्थ असेन
मी तटस्थ असेन।[48]

(मेरे शौर्य का अपमान करके
वीरता की पूजा करने वाली
इस भरी सभा में जब आएगी द्रौपदी
तब मित्रों।
उसके वस्त्राहरण के समय
मैं तटस्थ रहूँगा।
मैं तटस्थ रहूँगा।)

विमल थोरात इस कविता पर अपनी टिप्पणी में कहती हैं,

हिन्दू–संस्कृति को द्रौपदी के रूप में माना गया है। जब इस व्यवस्था संस्कृति को दुशासनों के हाथों नष्ट किया जाएगा, तब इसी संस्कृति द्वारा अपमानित दलित वर्ग इसे बचाने नहीं दौड़ेगा। बल्कि तटस्थ रहकर तमाशा देखेगा। शूरवीर कर्ण के मन में भी इसी तरह अपमान की धधकती अग्नि थी। दलित कवियों ने महाभारत, रामायण के अनेक मिथकों को दलित जीवन की दाहकता के सम्मुख रख कर उसकी प्रासंगिकता को देखते हुए उनका उपयोग किया है।'[49]

रा.ग. जाधव लिखते हैं– 'इन (दलित) कविताओं में अपने समय के इतिहास को प्रेरक पुराण कथाएं बनते हुए देख सकते हैं, जिसमें दलित समूह मन अपनी स्मृति को चिरंतन रूप देने के लिए प्रयत्नशील है। इसमें दलित वास्तविकता को दलित कल्पना शक्ति अमूर्त रूप देकर चिरंजीव बनाने में प्रयत्नशील है। प्रकृति और मानव जीवन के सत्य मिथ के रूप में अंकित और स्वीकृत हो जाते हैं, तो मिथ की यही निर्मिति प्रक्रिया दलित कवियों की डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर पर लिखी कविताओं में दिखाई देती है।'[50]

दलित कवियों ने प्रचलित काव्य रूपों को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त माना है। हिन्दी और मराठी दलित कवियों ने दलित जीवन की विसंगतिपूर्ण स्थितियों और जटिलताओं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रचलित मुहावरे से अलग काव्य प्रस्तुति को अपनाया। बदलते जीवन के कटु यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए परंपरागत काव्य रूपों से अलग रास्ता चुना। मराठी के कुछ कवियों ने मराठी के प्रचलित मुहावरे का इस्तेमाल किया– जैसे नामदेव ढसाल और यशवंत मनोहर ने 'अभंग' के रूप में कविताएं लिखी। मराठी का यह एक बेहद लोकप्रिय काव्य रूप था। नामदेव ढसाल का एक 'अभंग' शैली में लिखा पद देखें–

भविष्य तुझे तुझ्यासाठी
पोलिस : फोफसे : घूलवड : रैन के दिन हजार

मोजून घे वार बेजार
।। कर्मकटू।।[51]

(भविष्य तेरा तेरे लिए
पुलिस : मोटे : रंगपंचमी : रैन के दिन हजार
गिनती कर ले दिनों की
बेजार
।। कर्मकटू।।)

इसी तरह यशवंत मनोहर की भी एक अभंग रूपी कविता प्रस्तुत है–

पोलल्या झाडांनी। एक व्हावे झणी
दंडीलीला अग्नी। द्यावयाला।।
येता तो दिवस। लाज नाहीं ऐसा
जीव पसापसा। नीति होतो।।[52]

(ठूंठ हुए वृक्षों
एक हो जाओ
डंडेबाजी को अग्नि देने
आने वाला हर दिन
बेशर्म हो जैसा
जान थोड़ी थोड़ी
नित्य भई)

विमल थोरात लिखती हैं, 'संत तुकाराम के अभंगों में जो सामाजिक विसंगतियों एवं रूढ़ियों के प्रति व्यंग्य एवं आक्रोश था, उसी प्रकार के व्यंग्य और आक्रोश की अभिव्यक्ति उपर्युक्त काव्यांशों में दिखाई देती है।[53]

आनंद गायकवाड़ दलित आंदोलन के एक जुझारू कार्यकर्ता के साथ–साथ मराठी के ऐसे कवि के रूप में अपनी पहचान बना चुके हैं, जो जमीनी यथार्थ से जुड़कर दलित कविता को एक नए रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। उनकी 'एकल' शब्द शैली की कविता है जो सामाजिक और राजनीतिक, धार्मिक जीवन के दोहरे मापदंडों को बेधड़कता के साथ अभिव्यक्त करने में समक्ष है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य और मनुष्यत्व की श्रेष्ठता स्थापित करना ही उनका ध्येय है–

त्याने	उसके
सर्व	सभी
शस्त्रधारी	शस्त्रधारी
देवी	देवी
देवतांची	देवताओं की
पूजा	पूजा
केली	की
ओफिसात	ऑफिस में
आल्यावर	आने पर
शिवाजी	शिवाजी
राणा	राणा
प्रताप	प्रताप
झांसी	झांसी
राणी	रानी
यांच्या	की
प्रतिमे	प्रतिमा
कड़े	की ओर
एकवार	एक बार
पाहिले	देखा
आणि	ओर

नक्षलवाद्चाणी	नक्सलवादी के
हाती	हाथों में
घेंतलेले	बंदूक
बंदुकीच्या	उठा लेने
विरोधात	के विरोध में
अग्रलेख	अग्रलेख
लिहायली	लिखने की
सुरूवात	शुरुआत
केली[54]	की

दलित कविता धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाती है। और उनके बरक्स वैज्ञानिकता को खड़ा करती है, जो जीवन की विसंगतियां स्वयं ही विषम स्थितियां उत्पन्न करने लगती हैं। आनंद गायकवाड़ की कविता ऐसे ही प्रसंग के विरोधभास को अभिव्यक्त करती है। दलित कविता का यह एक नया रूप है, जो उसे समाज और मनुष्यता के निकट ले जाता है।

करवाचौथ	करवाचौथ के
दिवशी	दिन
तिने	उसने
गोलजालीतून	छलनी से
चंद्र	चंद्रमा
बाघितला	देखा
चक्क	स्वच्छ
नील	नील
आर्मस्ट्रांगचा	आर्मस्ट्रांग का
पाय	पांव
तिला	उसे

दिसला	दिखा
मग	तो
नवर्याचे	पति के
तोंड	चेहरे
आणि	और
नील	नील
आर्मस्ट्रांगचा	आर्मस्ट्रांग के
पायाची	पावं की
ती	वह
तुलना	तुलना
करू	करने
लागली[55]	लगी

'साहित्यिक कृति में शैली केवल भाषा का एक पक्ष ही नहीं, उसमें रचनाकार की यथार्थ दृष्टि और रचना दृष्टि की भी अभिव्यक्ति होती है। यही नहीं शैली का संबंध रचनाकार के युग और समाज से भी होता है। साहित्यिक आंदोलनों के परिवर्तन और विकास के प्रभाव शैली में लक्षित होते हैं। अगर शैली के परिवर्तन और विकास का रचनाकारों के यथार्थ बोध, सामाजिक परिवर्तन और साहित्य के विकास से जोड़कर देखा जाए तो एक विशेष रूप में साहित्य का इतिहास लिखा जा सकता है।'[56]

यथार्थवाद

'...अध्ययन और विश्लेषण के क्रम में 'यथार्थवाद' के महान साहित्य चिंतक जार्ज लुकाच ने 'यथार्थवाद' और यथार्थवाद कला के संबंध में कुछ मूलभत निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। जार्ज लुकाच के ये निष्कर्ष यथार्थवादी कला के स्वरूप तथा वैशिष्ट्य को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। यों तो यथार्थवादी साहित्यिक चिंतकों में से अन्य लोगों

ने भी समय–समय पर यथार्थवाद के सम्बन्ध में मौलिक स्थापनाएं दी हैं, किंतु लुकाच के अध्ययन का प्रधान विषय ही 'यथार्थवाद' ही रहा है, और इसी कारण उनके यहां हमें विस्तार से उसके स्वरूप और वैशिष्ट्य के संबंध में विवेचन उपलब्ध होता है।'[57]

लुकाच का कहना है, 'यथार्थवाद' मिथ्या वस्तुपरकता तथा मिथ्या–व्यक्तिपरकता के बीच का कोई मध्यम मार्ग नहीं है, वरन इसके विपरीत वह हमारे समय की भूल–भुलैय्या में बिना किसी नक्शे के भटकने वाले लोगों के द्वारा गलत रूप में प्रस्तुत किए गये प्रश्नों के फलस्वरूप उत्पन्न झूठे असमंजस्यों के विरुद्ध एक सत्य तथा सही समाधानों तक पहुंचने वाला तीसरा रास्ता है।'[58]

यथार्थवाद का आधार यथार्थ जीवन के प्रति वस्तुपरक दृष्टि है। व्यक्ति की निजता उसके सामाजिक संदर्भ में भी परखी जा सकती है, व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र अध्ययन उसके सामाजिक संदर्भ से काटकर नहीं किया जा सकता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तविक यथार्थ और रचनात्मक यथार्थ में अंतर होता है। वे यह भी कहते हैं कि रचनाएं उस यथार्थ से यथार्थ को पुनर्रचित करती हैं, उसको पुनः बनाती है, जरूरी तोड़–फोड़ करती हैं। कुछ यथार्थ को मिथक भी कहते हैं। जैसे ईश्वर एक मिथक है– वैसे ही यथार्थ एक मिथक है। सत्य एक मिथक है। हो सकता है कि आज का यथार्थ, जो आपको यथार्थ लग रहा है, वह किसी दूसरे व्यक्ति के लिए यथार्थ न हो या उसका कोई एक अन्य पक्ष उसके लिए यथार्थ हो।[59]

दलित कविता में भारतीय समाज व्यवस्था में हजारों साल से रची–बसी अस्पृश्यता, जाति–भेद, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विषमताओं को यथार्थवादी ढंग से अभिव्यक्त किया है। इसीलिए दलित कविता में जहां एक ओर जीवन का यथार्थ गहरे आक्रोश के साथ प्रस्तुत हुआ है, वहीं कवि के भीतर का विद्रोह, संताप, नकार के साथ गहरी वेदना मानवीय सरोकारों के साथ अपनी पूरी आंतरिक चेतना को भी व्यक्त करता है।

दलित कवि सामाजिक अत्याचारों और सामाजिक विद्वेष को व्यक्त करने में तमाम सीमाओं को लांघ कर आगे बढ़ता है। वह समाज परिवर्तन के लिए कटिबद्ध है। इसीलिए जीवन की वेदनाओं को चित्रित करने में वह संकोच नहीं करता है। उसकी कविता में जलती बस्तियों का धुआं उसके भीतर सोए ज्वालामुखी को जागृत कर रहा है जिसमें उसके हजारों साल की भूख, गरीबी, अधंकार भस्म हो जाएंगे। जीवन के इस यथार्थ को दलित कवि पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त करता है। यही है दलित कविता का सकारात्मक पक्ष जो पारंपरिक हिन्दी और मराठी कविता में दूर–दूर तक दिखाई नहीं देता है। वामन निंबालकर की कविता में यह कविता में यह गहरे भाव बोध के साथ व्यक्त हुआ है।

ह्या गावकुसा बाहरे चे वाललेले, चिरडलेले जीवन
विषय झालाच नाहीं तुमच्या कवितेचा।[60]

हिन्दी दलित कवि असंगघोष ने अपनी कविता में इसी दर्द को उकेरते हुए, बेजुबान दलित को डर छोड़कर मुंह खोलने की प्रेरणा दी है–

समय
मांगता है
मुझसे हिसाब
पढ़े क्यों नहीं।

नहीं है इसका जवाब
मेरे पास
तुमने अपनी वर्जनाओं से
काट ली थी मेरी जिह्वा

मेरे होंठ ही सिल दिये थे
मेरे कानों में
पिघला हुआ शीशा
उड़ेल दिया था
मेरे आंखों में
गर्म सलाखें भी
तुम्हारे ही कहने पर
घुसेड़ी गई

तुम्हारी इस करनी पर
मेरी धमनियों में
खौल रहा है, बहता लहू
समय के साथ
इसका
मैं दूंगा माकूल जवाब
मेरी जगह
पढ़ेंगे मेरे बच्चे
जरूर![61]

दलित कविता पर टिप्पणी करते हुए बजरंग बिहारी तिवारी कहते हैं – 'दलित कवियों के लिए अतीत उनका वर्तमान भी है। वह यातना बनकर चिपका हुआ है। समूचा स्मृति लोक कचोटों, घावों, विश्वासघातों, से भरा है। दलितों की कल्पना के पंख काटकर फेंके जा चुके हैं। दलित कवि सुनहरे सपने नहीं दे सकते। पंख विहीन कल्पना मुक्ताकाश में उड़ने के लिए तरसती–तड़पती रहती है। ये कवि अपने पूर्वजों के हरेक घाव को दुबारा जीते हैं। जब सारा संसार खाने और सोने में मगन रहता है, वे जागते हैं, चीत्कारों के बीच चिंगारियां इकट्ठी करते हैं। ओम प्रकाश वाल्मीकि के लिए कोड़े की मार से

ज्यादा यंत्रणापूर्ण थोपी गई स्थिति में जीना है–

शारीरिक यातनाओं से
बड़ी यंत्रणा होती है–
इच्छाओं के विरुद्ध जीना
या देखते–देखते छिन जाना
उन क्षणों का
जिनमें हंसा जा सकता था
गुनगुनाया जा सकता था
हवाओं की तरह।[62]

'यह सही है कि यथार्थवादी लेखक सत्य को ब्यौरेवार प्रस्तुत करता है, परन्तु उसे मात्र 'फोटोग्राफिक 'नहीं बना देता है। यथार्थवादी रचनाकार इस अनंत रूपात्मक जगत तथा उसके समूचे विस्तार को पैनी नजरों से देखता है। व्यापक सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार की स्थितियों तथा चरित्रों से साक्षात्कार करता है, अनुभवों की एक मूल्यवान समष्टि का स्वामी बनता है, किन्तु सारी बातों को 'फोटोग्राफिक' शैली में ज्यों का त्यों प्रस्तुत नहीं कर देता है।'[63]

छंद

हिन्दी मराठी दलित कविताओं में 'छंदमुक्त' रचनाएं ही अधिकतर दिखाई देती हैं। कहीं–कहीं छंदयुक्त कविताओं में लयबद्धता दिखाई देती है। लेकिन अधिकांश कविताओं में तुकांत शैली और गद्यात्मकता की ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। वैसे भी दलित कविता पूर्व स्थापित परम्पराओं के विरोध और नकार के साथ जन्मी है, इसीलिए पारंपरिक शिल्प विधाओं का निषेध भी यहां दिखाई देता है।

दलित कविता के उभार से पूर्व और स्वतंत्रता से पूर्व अनेक जन्मना कवि छंदबद्ध कविताएं लिख रहे थे। लेकिन हिन्दी और मराठी

दलित कवियों ने बाद में छंद मुक्त कविता को ही अपनाया है। दलित अभिव्यक्ति के लिए यही ज्यादा उपयुक्त जान पड़ती है। जीवन के कटु यथार्थ को जितने तीव्र एहसास के साथ छंद मुक्त शैली में प्रस्तुत किया जा सकता है, उतनी सजीवता छंदबद्ध कविता में नहीं हो सकती है।

मराठी दलित कविता में छंद की शास्त्रीयता का निर्वाह नहीं है, पर लय का निर्वाह अवश्य हुआ है। नारायण सुर्वे की एक कविता की ये पंक्तियां देखिए–

> हे जाती जातीत बाटलेले वाडे, वस्त्या दारावरचे तांवाड़े नंबरी
> दिव सांयकाली मध्य भागी अस्लेल्या चिड़या घराभोवती घोटालाणारे
> गोंगाटाचे थावे।[64]

विमल थोरात का मानना है कि 'छद मुक्त शैली में भी अनेक कवियों ने रचनाएं की हैं, इनमें लय का निर्वाह कहीं मिलता है, कहीं नहीं। प्रायः ऐसी कविताएं लयहीन हैं अतुकांत हैं, और गद्यात्मक हैं, नामदेव ढसाल जैसे कुशल कवि छंद मुक्त कविता में भी लय का निर्वाह करते हैं। उनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है[65]–

> कामरेड
> ही लोकशाही नाहीहे
> ही विटंबना सतरा पीढ़ियांची मूग गिलून पोसलेली
> हा प्रकाश नाही है
> हा पिंजर पिलबणुकीचा
> आतड़ी सुज्लीयांत ना सुजू देत सडू देतझाड़ो देत।[66]

यशवंत मनोहर ने भी छंद मुक्त कविता में लय का निर्वाह किया है–

जन्मव्याकूल
एकेक संवेदन, एकेक याद ज्वालामुखी होऊन उरी
उकलणारी
इथुन वीजा ओकतील ओठ
अटल आता इथुन स्पोट।[67]

इस तरह सातवें दशक के कवियों में छंद का आग्रह न होने पर भी लय के प्रति मोह दिखाई देता है। किंतु समकालीन दलित कविता में छंद की उपयोगिता लगभग समाप्त हो गई है।

संदर्भ

1. मैनजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981, पृष्ठ 96
2. देवेन्द्र चौबे, *आधुनिक साहित्य में दलित–विमर्श,* ओरियंट ब्लैक स्वॉन, 2009, पृष्ठ 191
3. कमलेश्वर, *दलित साहित्य संसद स्मारिका,* तीसरा दलित साहित्य सम्मेलन, 28 जनवरी, 1979
4. अर्जुन डांगले, *युगाच्या इतिहास साठी, छावणी हालत आहे,* भाष्य प्रकाशन, मुंबई, 1977, पृष्ठ 60
5. डॉ. दीपक प्रकाश त्यागी, *दस्तावेज*–136, जुलाई–सितम्बर, 2012, संपादक–विश्वानाथ प्रसाद तिवारी, गोरखपुर, पृष्ठ 61–62, ओम प्रकाश वाल्मीकि के कविता–संग्रह 'शब्द झूठ नहीं बोलते', अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 61
6. डॉ. सुखबीर सिंह, *बयान बाहर, दर्द के दस्तावेज,* आनंद साहित्य सदन, अलीगढ़, 1992, पृष्ठ 28–29
7. राम कमुार कृषक, संपादकीय, *अलाव,* अंक–10, मार्च, 2006
8. वही
9. शरण कुमार लिंबाले, *राष्ट्र गीत* (कविता)
10. प्रदीप तिवारी, बौद्धिक संकल्प और तीव्र आवेग, *जनपथ,* अंक–10, 2005, संपादक अनंद कुमार सिंह, आरा, बिहार, पृष्ठ 62

11. दया पवार, दलितों के आंदोलन जब तीव्र होने लगते हैं तब जन्म लेता है दलित साहित्य, अस्मितादर्श लेखक–पाठक, सम्मेलन, सोलापुर, 1983 संकलित–*दलित साहित्यः वेदना और विद्रोह*, संपादक–शरण कुमार लिम्बाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ 194
12. लोकनाथ यशवंत, वास्तव, *पुन्हा लाल करू या...*! कविता–संग्रह, पृष्ठ 58, यंग इण्डिया पब्लिकेशंस, दादर, मुंबई, 2009
13. वाहरू सोनवणे, 'मां पहली लड़ाई हमें ही...', *जनपक्ष*, 10/2005, पृष्ठ 32
14. असंगघोष, कंदील, *खामोश नहीं हूं मैं*, तीसरा प्रकाशन, जबलपुर, 2001, पृष्ठ 55
15. डब्ल्यू कपूर, *समकालीन मराठी साहित्यः गति–प्रगति,* संपादक, चन्द्रकान्त पाटिल, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2006, पृष्ठ 303
16. कौशल पवार, *यह बतलाओ, यथास्थिति से टकराते हुए* (कविता–संग्रह), लोकमित्र, दिल्ली, 2013 पृष्ठ 106
17. लोकनाथ यशवंत, 'आत्मचरित्र' *पुन्हा चाल करू* या...! पृष्ठ 37
18. जयप्रकाश कर्दम, *गूंगा नहीं था मैं*, आतिश प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृष्ठ 36
19. दया पवार, दलितों के आंदोलन जब तीव्र हाने लगते हैं तब जन्म लेता है दलित साहित्य, अस्मितादर्श लेखक–पाठक सम्मेलन, सोलापुर, 1983, संकलित–*दलित साहित्यः वेदना और विद्रोह*, पृष्ठ 194
20. प्रहलाद चेंदवण्कार, ''रास्ता हमारे बाप का होता है,'' *जनपक्ष,* 10/2005, पृष्ठ 33
21. उदय प्रकाश, साक्षात्कार, *संवेद*, जुलाई–सितम्बर, अक्तूबर–दिसम्बर, संयुक्त अंक, 2008, पृष्ठ 94
22. हरिनारायन ठाकुर, *दलित साहित्य का समाजशास्त्र,* ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 115
23. वही पृष्ठ 74
24. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 58–59
25. बजरंग बिहारी तिवारी, ''सुचिंतित आक्रोश की कविताएं,'' *वसुधा*, अंक–48, जनवरी–जून, 2000, संपादक–कमला प्रसाद, पृष्ठ 337–338, 'शब्द साथ नहीं देते' (शीर्षक कविता), बस्स! बहुत हो चुका (कविता–संग्रह) ओम प्रकाश वाल्मीकि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
26. वही
27. विमल थोरात, *मराठी दलित और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और*

राजनीतिक चेतना, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1996, पृष्ठ 143
28. विजय तेंदुलकर, '*गोलपिठा*' की भूमिका से पृष्ठ 9–10
29. (अ) जयप्रकाश कर्दम, *गूंगा नहीं था मैं*
29. (ब) केशव मेश्राम, *उत्खनन*, पोप्युलर प्रकाशन, मुम्बई, 1997 पृष्ठ 63
30. डॉ. दीपक प्रकाश त्यागी, *दस्तावेज*–136, जुलाई–दिसम्बर, 2012, पृष्ठ 114
31. *द पोयाटिक इमेज*, आठवां संस्करण, सी. डे. लीविस, पृष्ठ 19
32. *इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका*
33. *संस्कृत–इंगलिश डिक्शनरी*, मोनियर विलियम्स
34 *द. पोयाटिक इमेज*, पृष्ठ 19
35. व्हैल, *इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका*
36. टी. ई. हयूम, *इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका*
37. वामन निंबालकर, *''गांव कुसा बाहेरीत'' कविता*, प्रबोध प्रकाशन, नागपुर, दूसरा संस्करण 1979
38. डॉ. बच्चन सिंह, *आस्था के चरण*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरिया गंज, नई दिल्ली, 1968, 1975, पृष्ठ 177
39. नामदेव ढसाल, *गोलपीठा*, नीलकंठ प्रकाशन, पूणे, 1975, पृष्ठ 30
40. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना*, पृष्ठ 158
41. असंगघोष, ''काला पहाड़'', *मैं दूंगा माकूल जवाब*, शिल्पायन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 38–309
42. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना*, पृष्ठ 158
43. केदार सिंह, *कल्पना और बिम्ब*
44. ओम प्रकाश वाल्मीकि '*इतिहास' तीसरा पक्ष*, प्रवेशांक, अक्तूबर–दिसम्बर 2000, संपादक, देवेश चौधरी 'देव', पृष्ठ 26–27
45. देवेन्द्र चौबे, *दलित कविता का समाजशास्त्र, आधुनिक साहित्य में दलित–विमर्श*, ओरियंट ब्लैक स्वॉन, 2009, पृष्ठ 191
46. विमल थोरात, मराठी *दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना*, पृष्ठ 167–168
47. त्र्यंबक सपकाले, *सुरंग*, द्वितीय संस्करण, 2007, पृष्ठ 37
48. वही
49. विमल थोरात, *मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना*, पृष्ठ 169

50. रा. ग. जाधव–*निली पहाट*, पृष्ठ 42
51. नामदेव ढसाल, *गोलपीठा*, नीलकंठ प्रकाशन, पूणे, द्वितीय संस्करण 1975, पृष्ठ 23
52. यशवंत मनोहर, *उत्थान गुंफा*, कंटिनेंटल प्रकाशन, पूणे, 1977, पृष्ठ 52
53. विमल थोरात, मराठी *दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना*, पृष्ठ 176
54. आनंद गायकवाड, *हिंदाण*, अम्बेडकरी साहित्य व कला अकादमी, यवतमाल, महाराष्ट्र, 2012, पृष्ठ 19
55. वही, पृष्ठ 19
56. मैनेजर *पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि*, पृष्ठ 67
57. डॉ. शिव कुमार मिश्र, *यथार्थवाद*, दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 10
58. (Realism, however is not some sort of subjectivity, but on the contrary, the true solution bringing third way, opposed to all the pseudo-dilemmas engendered by the wrong posed questions of these who wander without a chart in the labyrinth of our time. जार्ज लुकाच) *Study in European Realism*, Page 6
59. उदय प्रकाश, साक्षात्कार, *संवेद* वाराणसी, अंक–जुलाई–सितम्बर, अक्टूबर–दिसम्बर, 2008, पृष्ठ 95
60. वामन निंबालकर, ''गावकुसाबाहेरील'' कविता, प्रबोधन प्रकाशन, नागपुर, 1979, पृष्ठ 2
61. असंगघोष, *मैं दूंगा माकूल जवाब*, पृष्ठ 36–37
62. ओम प्रकाश वाल्मीकि, 'यातना' शीर्षक कविता का अंश, बजरंग बिहारी तिवारी, *वसुधा*, 48 जनवरी–जून, 2000, संपादक, कमला प्रसाद, पृष्ठ 337
63. डॉ. शिव कुमार मिश्र, *यथार्थवाद*, पृष्ठ 71
64. नारायण सुर्वे, माझे विद्यापीठ, पृष्ठ 13
65. विमल थोरात, *मराठी कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनतिक चेतना*, पृष्ठ 66
66. नामदेव ढ़साल, *गोलपिठा*, पृष्ठ 66
67. यशवंत मनोहर, *उत्थान गुफा*, पृष्ठ 13

अध्याय छः

हिन्दी और मराठी दलित कविता के सौंदर्यतत्व

'दलित लेखकों की पूर्ववर्ती पीढ़ी में आक्रोश और आक्रमकता भरपूर है, यह उस अवसर विशेष की मांग थी। इसके अभाव में न तो उनकी बात सुनी जाती और न ही दलित लेखन को कोई पहचान मिलती। लेकिन, नयी पीढ़ी के दलित लेखकों ने उनमें जो कमी रेखांकित की वह थी लोक राग की। दलित समुदाय के दमन और दुर्दशा का चित्रण जरूरी है, लेकिन उसकी जीवन–शक्ति पर चुप्पी क्यों? उसके दुःखों और चीत्कारों को शब्द दिये गये, परंतु उल्लास और आनंद के क्षणों की उपेक्षा क्यों की गई? ...दलितों का अपना सांस्कृतिक जीवन–नृत्य, गीत, किस्से, चित्रकला, मूर्तिकला, वाद्यकला, पर्याप्त समृद्ध और सवर्ण लोक (गैर दलित लोक) से कुछ लिए बिना ही बहुत–कुछ स्वायत्त है। इस सांस्कृतिक जीवन से गहरी रागात्मकता ही दलित सौंदर्य बोध के निर्माण का आधार होगी।[1]

मराठी के वरिष्ठ लेखक और अस्मिता दर्श के यशस्वी संपादक गंगाधर पानतावणे का कहना है– 'जब हमने साहित्य–रचना शुरू की तब हमारा जोर निषेध पर था। जब एक समाज पुराने बंधनों को तोड़कर नये दौर में पदार्पण करता है, तो शुरू में उसकी आवाज बहुत तेज हुआ करती है। दबा हुआ पानी बहुत जोर से निकलता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दू समाज के प्रति जोरदार विद्रोह हो। उसे नकारा जाए। हमारा प्रोटेस्ट 'इनह्यूमैनिटी' के खिलाफ था, अछूतपन के खिलाफ था। हमने पुराने मूल्यों को नकारा। दूसरे दौर में हम इस प्रश्न की ओर मुड़े कि ऐसा हुआ कैसे? हम

गुलामी में रहे क्यों? आज (तीसरे दौर में) यह साहित्य प्रशांत जल की तरह चिंतन की मुद्रा में है,।[2]

अक्सर दलित साहित्य पर आलोचक घुमा फिरा कर कहते हैं कि दलित साहित्य में मोनोटोनी है, इस प्रश्न पर बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं कि 'इस मोनोटोनी को दो तरह से तोड़ा जा सकता है। नये प्रश्नों, सरोकारों को इसमें शामिल करके तथा दलित समुदाय का सम्यक अवगाहन व चित्रण करके। दलित रचनाकारों ने दोनों स्तरों पर काम किया है। नये सवालों, नयी चिंताओं को साहित्य में प्रवेश मिला है। और दूसरी ओर, दलित समाज का सम्पूर्ण चित्र भी उभरने लगा है। तुलसी राम का लेखन इसी का उदाहरण है। लेकिन 'सम्पूर्ण चित्र' पर बल देने में एक साजिश भी देखी जा सकती है। जिस लोक राग या गहन सम्पृक्ति की बात की गयी है, उसी से यह चित्र सम्पूर्ण बनता है। वैचारिक तल्खी को अपने भीतर समाती, उसे मुखर होने से रोकती लोकरंग में डूबी भाषा अपनी सर्जनात्मकता में पाठकों की संख्या में विस्तार करती है, उन्हें आविश्ट करती है, बांधती है, लेकिन टीसती–चिलकती निर्भ्रांत लक्ष्योन्मुखता में बाधा भी पैदा करती है।[3]

उपरोक्त तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे एक दलित कविता का उदाहरण देते हुए अपनी बात की पुष्टि करते हैं–

मरते–मरते मेरा बाप
थमा गया
मेरे हाथ में कलम
झाड़ू की जगह
कालग्रस्त अंधेरों की सिसकियां
और मुक्ति का घोषणा–पत्र
लिखने के लिए,

यह दलित कवि का दायित्व–बोध है, जो उसे कालग्रस्त अंधेरों की सिसकियों के अतिरिक्त कुछ दूसरा सुनने–सुनाने से 'बरजता है'। इन सिसकियों पर लिखना उनके लिए बेहद असुविधाजनक है, जो दलित–समाज से नहीं आये हैं। ये अनजाने (जान–बूझकर) उन चीजों को उछालने या प्रशंसा करने में लग जाते हैं, जो उन्हें सहूलियत भरी लगती है।[4]

'सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न एक बड़ा प्रश्न है। कोई भी सौंदर्यशास्त्र एक दिन में तैयार नहीं होता है। जैसे–जैसे चित्तवृत्तियों में बदलाव होता है, सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना में हलचल पैदा होती है, नए ढंग का साहित्य रचा जाने लगता है, वैसे–वैसे नए सौंदर्यशास्त्र की जरूरत बढ़ती जाती है और साथ ही इसी प्रक्रिया में उसके औजार भी तैयार होते हैं। यह अकारण या एकाएक नहीं है कि हिन्दी दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का एक प्रारूप बन चुका है। इसके सृजन में दलित रचनाकारों–चिंतकों के अतिरिक्त उन लोगों का भी योगदान है जो लगातार दलित साहित्य पर लिखते रहे हैं और उसके बृहत्तर सरोकारों के हिमायती रहे हैं।'[5]

शरण कुमार लिम्बाले कहते हैं– 'दलित साहित्य की कलावादी मीमांसा करने वाले दलित साहित्य में व्यक्त विचारों को जान बूझकर अनदेखा करते है। दलितों की अभिव्यक्ति पारम्परिक अभिव्यक्ति से कई रूपों में भिन्न होती है। इस भिन्नता के कारणों में ही इस साहित्य के मूल्यांकन की भिन्न कसौटियों की आवश्यकता व्यंजित होती है। दलित लेखकों ने यद्यपि प्रचलित साहित्य विधाओं में ही लिखा है, तथापि अभिव्यक्ति में विलक्षण भिन्नता होती है, क्योंकि–

1. दलित लेखकों की जन्मना जाति
2. जन्मना जाति के कारण दलित लेखकों के भिन्न अनुभव
3. अम्बेडकर के विचारों से प्रेरणा
4. दलित लेखक की प्रतिबद्धता

5. दलित लेखक की जातिजन्य विद्रोही भूमिका
6. जातिगत जीवन और बोली
7. उपर्युक्त कारणों का दलित लेखक की अभिव्यक्ति पर असर
8. दलित साहित्य का सामाजिक योगदान [6]

'जो लोग इस पतनशील व्यवस्था के सहयोगी बनकर सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के उत्कर्ष की बात करते हैं, वे मूर्खों के संसार में रहते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य का कोई सामाजिक उद्देश्य नहीं होता। वे साहित्य को स्वांतः सुखाय मानते हैं और इस प्रकार साहित्य का संबंध समाज से काटने की प्रयास करते हैं। यथार्थवाद को विकृत रूप में प्रस्तुत करने में उनकी दिलचस्पी है। उनकी राय में यथार्थवाद मनुष्य और समाज की विकृतियों के चित्रण और अध्ययन का नाम है। वे मानते हैं कि कल्पना की ऊंची उड़ान से ही साहित्य में सार्वभौमिकता और श्रेष्ठता उत्पन्न होती है, लेकिन जब उनसे इस प्रश्न पर बात करने का प्रयास किया जाता है और पूछा जाता है कि कौन से नियम हैं, जो साहित्य को श्रेष्ठ और सार्वभौम बनाते हैं, तो वे तर्कसंगत उत्तर देने के स्थान पर आकर्षक वाक्जाल का सहारा लेते हैं। वे साहित्य और समाज के अंतःसंबंधों को भी उलटबांसियों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। वे साहित्य में सौंदर्य का कारण समाज को नहीं मानते। उनकी राय है कि साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को समझने के लिए सामाजिक यथार्थ से जितना दूर रहा जाए, उतना ही अच्छा है, क्योंकि सामाजिक यथार्थ साहित्य को संकीर्ण दायरे में ले आया है, जो उसकी सार्वभौमिकता को नष्ट कर देता है और उसे प्रकृति से भी दूर कर देता है। वे समाज, मनुष्य और परिस्थितियों का अध्ययन भाववादी दृष्टि से करते हैं और समुद्र के स्थान पर बूंद को अध्ययन का केन्द्र बनाने का आग्रह करते हैं। वे इतने भारी भरकम शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिन्होंने अपने व्यापक अर्थ खो दिए हैं। विश्वमानव, अनुभूत्यों की गहराई, सार्वभौमिकता, व्यापक आदि केवल भ्रम जाल

फैला रहे हैं। वे जीवन को अपने दृष्टिकोण के कारण उसकी संपूर्णता में देखने में असमर्थ हैं और इसलिए व्यापक सामाजिक जीवन की उपेक्षा करते हैं। समस्याओं के किसी एक पक्ष का चित्रण करके उसे गहराई का नाम देते हैं। उनके इस चित्रण में धीरे–धीरे जीवन दूर होता जाता है और उसकी व्यापक समस्याओं से उसका नाता टूटता जाता है।'[7]

मराठी दलित कविता विसंगतियों और विद्रुपताओं का पर्दाफाश तो करती हैं, कवियों के भीतर भरी उस बेचैनी को भी सामने लाती है, जो केवल बौद्धिक कहलाने की सुखद अवस्था वाली बेचैनी नहीं है। इसमें सकारात्मक जिद्द हैं, जो निजता व सामाजिकता की यथास्थिति को बदल देना चाहती है। इस जिद्द में हम जो आवेग पाते हैं, इस आवेग से विषयगत व कथ्यगत स्थितियां, शिल्पगत आवेग पाते हैं। नामदेव ढ़साल की कविता 'मेरी जमानत मत करो' में यह आवेग कुछ इसी तरह से सामने आता है।

सौतेली मां जैसे इस शहर ने मुझे दी
सौतेली मां जैसी तकलीफ
ठंडी हवाओं ने मुझे खड़ा रखा। [8]

यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि दलित कविता का सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यांकन करते समय सामंतवादी या पाश्चात्य साहित्यिक मापदंडों के आधार पर दलित कविता या दलित साहित्य की जांच परख संभव नहीं है। 'समाज और जीवन का निकट का संबंध है। साहित्य जीवन का अंग है। अंततः साहित्य समाज से अलग नहीं रह सकता। अच्छी साहित्यिक रचनाएं आशय और अभिव्यक्ति इन दोनों से अलग नहीं हो सकती। साहित्यिक रचनाओं का परीक्षण करते समय सुविधा के लिए ऐसे भेद किये जाते हैं। यह जीवन अवलोकन जितना प्रमाणिक, उत्कट एवं सामर्थ्यवान होगा, उतना ही वह अपने

आप में कलारूप को धारण करेगा। समाज–मन को संस्कारित करने का बहुत बड़ा सामर्थ्य साहित्य में होता है।'[9]

'शरण कुमार लिम्बाले का 'उत्पात' कविता–संग्रह अनेक विशेषताओं से युक्त है। यह कविता की आपसी मानसिकता की चीरफाड़ करने वाली कविता है। उपहासात्मक रूप में हम खुद ही अपना मजाक उड़ाएं, इस प्रकार का साहसी स्वर इसमें है। हमारे नायक या नायिकाओं को केवल उद्दात्त या विद्रोही, इस एक ही रंग से चित्रित किया जाता है। परंतु मनुष्य में जो आक्रामकता आती है, उसका कारण परिस्थितियां होती हैं। एक ओर वह वीर होता है और दूसरी ओर डरपोक भी। इसी प्रकार के निर्भीक चित्र शरण कुमार लिम्बाले उपस्थित करते हैं। संघर्ष करते हुए लड़ने वाला कार्यकर्ता और परिस्थितियों के दबाव के कारण निष्क्रिय हुआ मन, दोनों ही यथार्थ हैं। अपने नायक या नायिकाओं की पराजित मनोवृत्ति का चित्रण करना अर्थात विद्रोह की भावना को कम कर देना है। ऐसा नहीं लगता।'[10]

हिन्दी दलित कविता ने मराठी दलित कविता की तरह ग्रामीण जीवन की विसंगियों और प्रताड़नाओं को मानवीय विकास में बाधक माना है। ग्रामीण जीवन में जो आतंक रचा बसा है, वह व्यवस्था की देन है जो हजारों साल से समाज को संचालित करती रही है। गांव को डॉ. अम्बेडकर ने जातिवाद के कारखाने कहा था, दलित के लिए जहां सांस लेना भी दूभर होता। मलखान सिंह इन स्थितियों को अपनी कविता 'एक पूरी उम्र' में तलखी के साथ अभिव्यक्ति करते हैं–

यकीन मानिये
इस आदमखोर गांव में
मुझे डर लगता है
बहुत डर लगता है।

लगता है कि अभी बस अभी
ठकुरासी मेड़ चीखेगी
मैं अधशौच ही
खेत से उठ जाऊंगा।

कि अभी बस अभी
हवेली घुड़केगी,
मैं बेगार में पकड़ा जाऊंगा।[11]

यहां यह कहना भी तर्कसंगत लगता है कि 'वर्ण–व्यवस्था' से उपजी विषमताओं और विसंगतियों को दृष्टि में रखकर ही दलित साहित्य, दलित कविता का विश्लेषण या मूल्यांकन किया जा सकता है। सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक मूल्यांकन के अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। साहित्यिक सृजन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे पहचानने का भी एक साधन है। साहित्य और कला के प्रति यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में साहित्य के महत्व का उचित मूल्यांकन भी है। प्रकृति की तरह साहित्य, समाज और चिंतन भी परिवर्तनशील है। ऐसा कोई शाश्वत सिद्धांत नहीं है, जिसके आधार पर सौंदर्य–मूल्य निर्धारित किए जा सकें।'[12]

'समीक्षा क्या है? यह कलाकृतियों का मूल्यांकन है। कौन सी स्थिति में यह मूल्यांकन संभव है? या और ठीक से कहें तो यह मूल्यांकन कौन से नियमों पर आधारित है? यशस्वी विद्वान कहेंगे, सौंदर्यशास्त्र के नियमों पर। लेकिन ऐसी कौन सी पुस्तक है, जिसमें ये सारे नियम दिए हुए हैं? किसने उसे जारी किया? किसने उसका अनुमोदन किया? और किसने उसे ग्रहण किया? कृपया मुझे कला की आधार संहिता की पुस्तक दिखाइये, जिसमें सौंदर्यशास्त्र और साहित्य संबंधी सारे कायदे–कानून दिए हों, जिनमें दिए गए सिद्धांत, मानव

आत्मा के अंदर सृजनशीलता के सिद्धांतों की तरह शाश्वत और अटल सिद्धांत हों तथा जिसके प्रावधान सभी परिस्थितियों के अनुकूल हों, नियमों की एक साफ–सुथरी और सम्यक व्यवस्था निर्मित करे, और सृजनात्मक कार्यों के असीम तथा बहुमुखी संसार को अपने अंदर समेट ले ...कुछ समीक्षक जो विद्वान हैं, लेकिन जिनमें सौंदर्यबोध का अभाव है, उस वास्तविक प्रतिभा को कम करके देखते हैं, जो उनके पंडिताऊ मानदंड की परिधि से बाहर पड़ती है और उनकी भूरी–भूरी प्रशंसा करते है। जो भड़कीले शब्दों के सौदागर हैं। यही वजह है कि उनके प्रयास अक्सर विफल होते हैं।'[13]

पाश्चात्य और हिन्दी–संस्कृत काव्य–शास्त्र में कविता का प्रयोजन आनंद है। लेकिन दलित कविता का प्रयोजन आनंद नहीं मनुष्य की मनुष्यता को विकसित करना है। यही विकास उसे समता, बंधुता और स्वतंत्रता के भाव को जाग्रत करने में मदद करेगा।

हिन्दी और मराठी दलित कविता सामाजिक संरचना जिसे चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था ने निर्मित किया है, की आंतरिक संरचना की पड़ताल बहुत गहरे जाकर करती है और उन विसंगतियों को सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में एक अवरोधक भी मानती है। क्योंकि एक समतावादी समाज की परिकल्पना में मनुष्य की गरिमा सबसे महत्त्वपूर्ण है, जिसे दलित कविता स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध है।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि 'मनुष्य की संचेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से ही निर्धारित होती है। यदि समीक्षक दलित समाज के जीवन से परिचित नहीं हैं और उसके अनुभवों की दाहकता से अपरिचित है, तो वह दलित साहित्य की समीक्षा प्रामाणिक रूप से अथवा निष्पक्ष होकर नहीं कर सकता, इसके लिए उसे दलितों के अनुभवों से गुजरने की जरूरत नहीं है, बल्कि भारतीय समाज–व्यवस्था, जाति–व्यवस्था, वर्ण–व्यवस्था, ग्रामीण–व्यवस्था, अर्थ–व्यवस्था, सामाजिक दशा, भारतीय संस्कृति आदि का गहन अध्ययन जरूरी है।'[14]

यहां यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा, जैसा कि पूर्व में भी कहा गया है कि दलित साहित्य की प्रेरणा डॉ. अम्बेडकर के विचार हैं और उसी विचार के द्वारा दलित चेतना का विकास संभव हुआ है। समाज–व्यवस्था दासता से मुक्ति की चेतना है, जो स्वतंत्रता, बंधुता और समता को केन्द्र बिंदु मानती है इसीलिए दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र में यह चेतना ही सारे तत्वों से महत्त्वपूर्ण मानी गई है। इसीलिए दलित साहित्य में सामाजिक बदलाव की प्रतिबद्धता, साहित्यिक रचनाओं में जीवन मूल्य जो पाठक के मन में समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव जागृत करने की समता रखता है। यही है दलित साहित्य के सौंदर्य तत्वों का आधारभूत भाव।

दलित साहित्य परिवर्तनशीलता के नियमों में विश्वास करता है। प्रकृति हो या मनुष्य जीवन, उसमें कुछ भी स्थिर नहीं है। न अजर, न अमर,। 'आशय' जीवन से संबंध रखता है। जीवन यानी संघर्ष और उससे जुड़े अनुभव। जैसे–जैसे जीवन बदलता है, अनुभव बदलते हैं, यथार्थ बदलता है। दलित साहित्य में अनुभवों से उत्पन्न आशय निष्ठा ही अधिक है। पारंपरिक साहित्य ने जिसे त्याज्य और निषिद्ध माना, दलित साहित्य ने उसे अपने अनुभवों के आधार पर प्रमुखता दी है। उन अनुभवों की अभिव्यक्ति के मूल्यांकन के लिए पारंपरिक समीक्षा के मानदंड गलत निष्कर्ष देंगे, क्योंकि पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र में उन अनुभवों के मूल्यांकन और आशयों के विश्लेषण की क्षमता ही नहीं है, फिर मूल्यांकन कैसे होगा? किस आधार पर होगा?[15]

पंकज गौतम कहते हैं– 'दलित कविता की मुख्य विशेषता क्या है? यह वे कौन से तत्व हैं जो उन्हें कविता की संज्ञा के अंदर समेटते हुए उनके सौंदर्यशास्त्र को प्रतिपादित करते हैं। कहां वह कविता है और कहां वह वक्तव्य है। कहां उसमें राग है और कहां आग है... रागात्मक संबंध सामाजिक–आर्थिक नहीं हैं, ऐतिहासिक परिवेश के अनुसार भी बदलते रहते हैं। किसी कवि का रचनात्मक या वैचारिक विकास समय–समाज के बदलते संबंधों से टकराकर या संबद्ध होकर

ही होता है।' आगे वे केदारनाथ सिंह के हवाले से कहते हैं –' दलित रचनाकारों का एक बहुत बड़ा अवदान यह है कि उन्होंने भावबोध को ही नहीं बल्कि उस बोध के पूरे आधार को ही बदल दिया है।'[16]

हिन्दी का दलित साहित्य महानता के स्याह अंधेरे की तीक्ष्ण पहचान करता है। यही कारण है कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अपने मूल स्वरूप और आचरण में समाज के स्याह अंधेरे के विरुद्ध उजाले का संदेशवाहक है। यहां 'वर्ग' से अधिक 'वर्ण' पर बल है क्योंकि यह भारतीय सामाजिक संरचना की एक क्रूर सच्चाई है। पूरा का पूरा दलित साहित्य 'वर्ण विद्रोह' का साहित्य है। यही वजह है कि शोषितों–वंचितों के पक्ष में खड़ा मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र भी 'दलित साहित्य' को समझने में पूर्णतः सक्षम नहीं हो पाया।'[17]

'सौंदर्यशास्त्र के बहुत से विद्वानों ने सौंदर्य की धारणा तथा अंतर्वस्तु के बारे में काफी छानबीन की है। उन्होंने बहुत सी परिभाषाएं दी हैं तथा कई नियमों को खोजा है। कभी वे चीजों के बाहरी ढांचे की ओर देखते हैं और सुन्दरता को विविधता की एकता समझते हैं; कभी वे मानवीय भावनाओं पर केन्द्रित होते हैं और सुन्दरता को वे सारी चीजें समझते हैं, जो लोगों को 'आनंद' विशेष भावनाएं या एक प्रकार की 'विनम्रता' प्रदान करती है; और कभी वे चीजों तथा लोगों के बीच संबंधों को देखते हैं; और सुन्दरता को वे सारी चीजें समझते हैं, जो मानुषी को यथार्थ जीवन से मानसिक तौर पर जोड़ने की हेतु बनती हैं। लेकिन उनमें से किसी ने भी कला के पूर्ण सौंदर्य की कोई कसौटी नहीं तैयार की है कि जिसके अनुसार लोग कलात्मक सौंदर्य सृजन कर सकें। ...व्यक्ति की सामाजिक स्थितियों में फर्क के अनुसार ही उनके अनुभवों और मानसिकताओं में फर्क होता है। इसीलिए सौंदर्य के प्रति लोगों की भावनाएं बहुत आत्मनिष्ठ होती है। समीक्षक सौंदर्यशास्त्र के बारे में अपने निजी विचारों से शासित होते हैं। प्रत्येक समीक्षक अपने निजी सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर कलाकृतियों से अपेक्षा रखता है।'[18]

'कुछ वर्षों से जिस एक समस्या को हमारे हिन्दी के आलोचक–विचारक और चिंतक जान बूझकर टालते आ रहे हैं, वह नए साहित्य के मूल्यांकन और उसको परखने के लिए उचित प्रतिमानों की धारणा है। आज भी बहुत से ऐसे लोग हैं जो यह चाहते हैं कि मध्ययुगीन आदर्शों, नियमों और शास्त्रों के आधार पर नए साहित्य की व्याख्या की जाए। इस दिशा में सबसे पराक्रमी, महारथी अपनी समस्त प्रतिभा का दुरुपयोग करने के साथ–साथ नए साहित्य के मूल्यांकन के प्रति भी अन्याय ही कर रहे हैं। वे शायद यह भूल जाते हैं कि किसी भी भाषा का व्याकरण भाषा के विकास के साथ–साथ बदलता रहता है। किसी भी जीवित साहित्य का साहित्यशास्त्र भी साहित्य के विकास के साथ–साथ बदलता रहता है। यह बदलने की प्रक्रिया स्वस्थ, गतिशील, जीवंत एवं जागरूक चेतना की परिचायक है। जिस भाषा का व्याकरण जड़ हो जाता है, वह भाषा मर जाती है। जिस साहित्य का साहित्यशास्त्र जड़ हो जाता है, वह साहित्य मर जाता है। यहां मर जाने का अर्थ यह है कि उस विशिष्ट बंधे हुए रूप को मानव–चेतना छोड़ देती है और उस भाषा का साहित्य नए रूपों को ग्रहण करके अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति को नए ढंग से प्रस्तुत करने के अन्य माध्यमों को चुन लेती है। मानव–चेतना की यह विकासशीलता विगत को भोग चुकने के बाद उसमें सड़ना नहीं पसंद करती, इसीलिए वह विगत के प्रति विद्रोह करके आग बढ़ जाती है।'[19]

'दलित आलोचना, आलोचना की (भारतीय परंपरा की) उन संरचनाओं को तोड़ती है और उनकी प्रभुत्ववादी निर्मितियों को खारिज करते हुए भारतीय समाज के प्रसंग में वर्णवाद खासकर सामंती वर्णवाद के खिलाफ रचित साहित्य के लिए एक नई आलोचनात्मक निर्मिति की मांग करती है। कह सकते हैं, हिन्दी की यह नई आलोचना दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक नए सौंदर्यशास्त्र गढ़ने की मांग करती है और आलोचना के प्रचलित सौंदर्यशास्त्रीय निकशों (मानदंडों) में ''सौंदर्य'', ''कल्पना'', ''बिम्ब'', ''प्रतीकों'', ''रूपों''

आदि का निषेध करते हुए उनके समानान्तर नए निकषों (मानदंडों) को रचने की आवाज उठती है। कारण, हिन्दी की इस नई आलोचना का मानना है कि 'सौंदर्यशास्त्र की विवेचना में 'सौंदर्य', 'कल्पना', 'बिम्ब', और 'प्रतीक' को प्रमुख माना है, विद्वानों ने, जबकि सौंदर्यशास्त्र के लिए सामाजिक यथार्थ एक विशिष्ट घटक है। क्योंकि कल्पना और आदर्श की नींव पर खड़ा साहित्य किसी भी समाज के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकता। साहित्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्तमान की दारुण विसंगतियां ही उसे प्रासंगिक बनाती हैं।'[20]

अनेक गैर दलित आलोचकों को दलित कविता की अंतःचेतना को समझने में दिक्कतें आती हैं। क्योंकि दलित जीवन संघर्षों और वेदनाओं से वे अपरिचित ही रहते हैं। दलित अभिव्यक्ति की संवेदना और अनुभूति उन्हें अतिशयोक्तिपूर्ण और अकल्पनीय लगती है। इसीलिए उसे ठीक से समझना और उसकी अंतर्वेदना से साक्षात करना उनके लिए कठिन था। इसी संदर्भ में अर्जुन डांगले का यह कथन देखें– 'अगर किसी कलाकृति की मूल प्रवृत्ति को ही कोई न समझ सके, तो उस कलाकृति की लय, उसके अनुभवों की प्रकृति, संरचना, अनुभवों की गहनता आदि को समझना संभव नहीं है।'[21]

यही स्थिति हिन्दी आलोचना की भी रही है। यद्यपि आलोचक दलित जीवन के कटु अनुभवों से अपरिचित है, दलित जीवन के यथार्थ से यदि उसका संबंध नहीं है, तो उसकी प्रतिक्रियाएं, उसका विश्लेषण, मूल्यांकन, दूर खड़े दर्शक की भांति ही रहेगा। वह दलित जीवन के संघर्ष के अनुभवों की गहराई से अपनी सोच व दृष्टि का तालमेल नहीं बैठा पाएगा। उसका विश्लेषण तर्कसंगत नहीं होगा। यहां यह आशय कतई नहीं है कि आलोचक को दलित जीवन के अनुभवों से गुजरना चाहिए, आशय सिर्फ इतना है कि भारतीय जीवन में रची–बसी वर्ण–व्यवस्था से उपजी विघटनकारी स्थितियों, और उसके द्वारा जनित विसंगतियों, विषमताओं को सामाजिक जीवन के भेदभावों, मानसिकता आदि का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना होगा, तभी

दलित जीवने के यथार्थ से अपना तारतम्य स्थापित कर सकता है।

दलित कविता की समाजशास्त्रीय भूमिका

पारंपरिक हिन्दी या मराठी कविता या अन्य विधाओं के समाजशास्त्रीय मूल्यांकन का अभाव दिखाई देता है। ऐलन स्विंगवुड, ल्यूसिस गोल्डमान, लावेंथल, टेरी इलंगटन, रेमण्ड विलियम्स आदि पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य की समाजशास्त्रीय भूमिका पर विस्तार से चर्चा की है। जैसे ल्यूसिए गोल्डमान ने प्रश्न उठाया कि साहित्य और समाज के संबंधों में संरचना परक अवधारणाओं की भूमिका क्या है। गोल्डमान ने 'सभ्यता का सिद्धांत' प्रतिपादित कर साहित्य के समाजशास्त्र को नई दिशा दी और विचार किया कि समाज से साहित्य के संबंध का स्वरूप क्या है। रेमण्ड विलियम्स ने समाज, साहित्य के साथ संस्कृति को भी लिया और उसके अंतर्संबंधों का विवेचन किया।

साहित्य की समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में पारस्परिक वैचारिक विभेद तो है ही, इसका सम्पूर्ण निषेध भी है। जैसा हिन्दी और मराठी आलोचना में दिखाई देता है। कुछ आलोचक रचना की स्वायत्तता का प्रश्न भी उठाते हैं। उनका मानना है कि रचनाकार की अपनी आलोचना दृष्टि है, जिससे वह परिष्कार करता चलता है। लेकिन यहां यह कहना भी अति आवश्यक हो जाता है कि समीक्षा के लिए रचना का समाजशास्त्रीय अध्ययन जरूरी है तथा जिसके आधार पर वह अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर पाती है।

हिन्दी आलोचना में साहित्य के समाजशास्त्र का अभाव है। विद्वान आलोचक भाषा के शास्त्रीय रूप, छंद, रस आदि की विवेचना में ही उलझ कर रह गए। इसीलिए दलित साहित्य आलोचकों ने साहित्य की समाजशास्त्रीय भूमिका को अहम माना। कह सकते हैं कि हिन्दी आलोचना में यहां एक नया प्रत्यय है। जबकि पाश्चात्य साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन की शुरूआत काफी पहले हो चुकी थी।

साहित्य समाज के जीवनानुभवों के चित्र प्रस्तुत करता है। समाज की संवेदनात्मक अनुभूतियां साहित्यिक अभिव्यक्ति में प्रस्तुत होना ही साहित्य का उद्देश्य माना जाना चाहिए। फ्रेंच लेखिका दस्ताल (17वीं – 18वी शती) ने इस विषय में गहन अध्ययन किया था। उनका मानना था, 'मेरा उद्देश्य साहित्य पर धर्म, रीति–रिवाज, कानून के प्रभाव का परीक्षण है, क्योंकि साहित्य की प्रकृति के निर्माण में योगदान करने वाले सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों का विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। इसी विचार को फ्रांसीसी इतिहासकार तेन ने आगे बढ़ाया था। उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन में राजनीति, अर्थतंत्र, मनोविज्ञान और कानून का महत्त्व बताया।

इसी प्रकार मार्क्सवादी साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन का यूरोप–अमेरिकन लेखकों ने विरोध किया था। उसे संकीर्ण और एकांगी तक कहा था। लेकिन स्टेमलर और क्रोचे ने इन लेखकों का विरोध किया था। मैक्सवेवर ने सबसे ज्यादा विरोध किया था। उसने कहा था कि 'समाज में अर्थ–व्यवस्था ही समस्त सामाजिक–सांस्कृतिक गतिविधियों को नियंत्रित करती है। बल्कि उन्हें प्रभावित करने वाले अन्य कारक भी होते हैं, जैसे परंपरा, धार्मिक मान्यताएं, पर्यावरणीय प्रभाव आदि।'

माल्कम बेडवारी के अनुसार, 'वस्तुतः साहित्य और समाजशास्त्र दुनिया को देखने के अलग–अलग ढंग हैं। एक ओर जहां समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण रूप से सफल कलाकृतियों में अनुभव की संश्लिष्टता जानने और पहचानने में हमारी मदद करता है, तो दूसरी ओर वह लंबे दौर में वैयक्तिक रचनाशीलता के हमारे बोध को नष्ट करने की ओर उन्मुख हो सकता है। साहित्य समाजशास्त्र में साहित्य के सर्जनात्मक साक्ष्य नष्ट हो जाते हैं।'[22]

इसी तरह के विचार हिन्दी आलोचक डॉ. बच्चन सिंह भी लिखते हैं, –'साहित्य का समाजशास्त्र घटिया दर्जे की रचनाओं के लिए ज्यादा उपयोगी है। श्रेष्ठ रचनाओं में कई स्तर पर 'मेडिएशन' होता

है, जो इस प्रकार के समाजशास्त्रीय अध्ययन की पकड़ में नहीं आ सकता। साहित्य अपने देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अन्यान्य कालों के लिए प्रासंगिक और प्रिय होता है। समाजशास्त्रीय अध्ययन इसे नहीं छूता।'[23]

उपरोक्त दोनों कथन साहित्य के समाजशास्त्र के विरोध में खड़े हैं। जब हम साहित्य और समाज के संबंधों का विश्लेषण करते हैं, तब इन विद्वानों के विचार कलावाद की ओर सिमट कर रह जाते हैं। मानवीय क्रियाकलापों, उसके सरोकारों, जीवन अनुभवों, उनकी संवेदनाओं से यह सोच निरपेक्ष हो जाती है। यानी साहित्य में मनुष्य की महत्ता से ज्यादा 'कला' ही विशिष्ट बन जाती है। दलित साहित्य की मान्यता है कि उसके केन्द्र में 'मनुष्य' है। उसके सरोकार और उसकी संवेदनाएं है। तब साहित्य के लिए जरूरी हो जाता है कि साहित्य और समाज के अंतर्द्वंदों का अध्ययन किया जाए। तभी साहित्य की भूमिका और उसके उत्तरदायित्व का मूल्यांकन भी हो पाएगा। तभी साहित्य की वस्तुनिष्ठता और उसकी द्वंदात्मकता को ठीक से विश्लेषित किया जा सकता है। साहित्य में यदि वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं है, तो वह मात्र 'कला' के लिए 'कला' बनकर रह जाता है और उसका सौंदर्यबोध भी संशयात्मकता ही पैदा करता है। इसीलिए साहित्य के लिए यह जरूरी बन जाता है कि वह विचारधारा का रूपांतरण करे और वास्तविकता को यथार्थ की भूमि पर खड़ा कर के उससे साक्षात्कार करे, तभी साहित्य की महत्ता स्थापित होगी।

'ग्राम्सी क्रोचे के भाववादी और विचार तटस्थ सौंदर्यशास्त्र से सहमत नहीं था। वह एक 'जातीय लोकप्रिय सामान्यजन (national popular category) की बात करता है जो संघर्षरत संस्कृति की नई सांस्कृतिक प्रभुसत्ता में से आविर्भूत होती है। यह जातीय लोकप्रिय सामान्यजन की अपेक्षा, आशा, संघर्ष, आदर्श इत्यादि के अनुरूप होता है। इस दृष्टि से और इस हद तक वह साहित्य में विचारधारा का समर्थक है, जो जन आकांक्षा का प्रतिबिंब है।'[24]

हिन्दी साहित्य आलोचकों की यह पुख्ता राय है कि कविता का समाजशास्त्रीय विश्लेषण संभव नहीं है। देवेंद्र चौबे लिखते हैं,– 'सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था पर जितनी तल्खी के साथ दलित कवियों ने आक्रमण और आक्रोश व्यक्त किया है, वह अन्यत्र कम ही दिखाई देता है। साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका में जब मैनेजर पाण्डेय कविता के समाजशास्त्र के सवाल पर संशय तथा संदेह व्यक्त करते हुए समाजशास्त्र के इतिहास में यथार्थवाद के सहारे हुए कविता के कुछ असफल समाजशास्त्रीय विश्लेषणों की चर्चा करते हैं, तब वाकई यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में कविता का समाजशास्त्र संभव नहीं है? हिन्दी कविता के संबंध में यह सवाल और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका एक लंबा इतिहास रहा है तथा इस लंबे इतिहास में अनेक काव्य–महाकाव्य लिखे गए हैं, जो वास्तव में मनुष्य की जिंदगी और उनके सामाजिक संबंध के साथ ही पीड़ा एवं संघर्ष का महाकाव्यात्मक रूप उपस्थित करते हैं। ...जिस तरह से उपन्यास अथवा एक हद तक नाटक का (यथार्थवाद के सहारे) समाजशास्त्रीय विश्लेषण संभव है। ठीक उसी तरह कविता का नहीं। इसके अनेक कारण हैं। एक तो कविता के अनुभव को अधिक महत्त्व दिया जाता है, दूसरा उनमें यदि कहीं सामाजिक अनुभव प्रकट होता भी है, तो वैयक्तिक अनुभव बनकर।'[25]

देवेंद्र चौबे का यह भी कहना है कि सबसे बड़ा कारण कविता की आंतरिक बुनावट है, जिसमें संगीत, लय, छंद आदि सौंदर्यात्मक गुणों की भूमिका होती है। समाजशास्त्रीयों का यह मानना है कि कविता की आंतरिक बुनावट, रचना के समाजशास्त्रीय विवेचन में मदद नहीं कर पाती है। इनका न तो सामाजिक यथार्थ से कोई गहरा संबंध होता है और न ही राजनीतिक शब्दावली में प्रचलित यथार्थवाद के प्रतिमानों से।[26]

उपरोक्त विवेचन के संदर्भ में दलित कविता वैयक्तिक नहीं बल्कि एक सामाजिक उदबोधन है और सीधे–सीधे समाज से संवाद

बनकर सामने खड़ी होती है। दलित कविता समाज के स्थापित मूल्यों से सीधे टकराती है। साथ ही सामाजिक संरचना की अंदरूनी बनावट पर प्रहार करती है। इसीलिए वह समाजशास्त्रीय विवेचना के लिए उपयुक्त है। यानी दलित कविता का समाजशास्त्रीय विवेचन संभव है, चाहे वह हिन्दी कविता हो या मराठी।

दलित साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन की उपयोगिता इसीलिए बढ़ जाती है क्योंकि सामाजिक उत्पीड़न, समाज–व्यवस्था की विषमताओं और भारत में रची–बसी जाति–व्यवस्था के विरोध में दलित साहित्य का उद्‌भव हुआ है जिसमें सामाजिक संरचना एक विशिष्ट कारक है। इसीलिए दलित साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन से मनुष्य की आंतरिक चेतना, अनुभव, सुख–दुख और उसके सरोकारों को ठीक से समझा जा सकता है। इसीलिए दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र में समाजशास्त्रीय अध्ययन और मूल्यांकन की महत्ता बढ़ जाती है। बल्कि एक जरूरी कारक के रूप में साहित्य की भूमिका भी तय करती है।

जैसा कि ऊपर कहा भी है कि दलित कविता का उद्‌गम समाज–व्यवस्था द्वारा जनित उत्पीड़न और विषमताएं हैं। क्योंकि दलित कवि इसी व्यवस्था को बदलने की जद्दोजहद कर रहा है–

साफ सुथरा रंग तुम्हारा
झुलसकर सांवला पड़ जाएगा
खो जाएगा आंखों का सलोनापन

तब तुम कागज पर
नहीं लिख पाओगे
सत्यम! शिवम्!! सुंदरम!!!

देवी देवताओं के वंशज तुम

हो जाओगे लूले–लंगड़े और अपाहिज
जो जीना पड़ जाये युगों–युगों तक
मेरी तरह
तब तुम क्या करोगे?[27]

देवेंद्र चौबे लिखते हैं कि कविता की ये पंक्तियां जिस गहरी पीड़ा के साथ एक दलित की मनोदशा, उसके साथ जातीय संगठनों एवं शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा किए गए व्यवहार और प्रभुत्वशाली वर्ग तथा जाति के साथ उसके संबंधों का बयान करती है उससे यह पता चलता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलितों के साथ सदियों से अन्याय किया जाता रहा है। यद्यपि भावबोध के स्तर पर यह कविता सवर्ण समाज को शक्तिशाली और अद्‌भुत शक्तियों के स्वामी देवी–देवताओं के वंशज के रूप में देखती है, तथा इससे इस कविता के उद्‌गम का पता चलता है। परंतु जिस प्रकार के आक्रोश की भाषा में यह कविता दलित समाज के संताप को प्रकट करती है, उसकी निर्मिति अचानक नहीं होती है। कविता की यह भाषा भी इसी दलित समाज के शोषण और दमन की प्रक्रिया से उपजी हुई है, जिसका एक मात्र उद्देश्य है, अपने समाज के यथार्थ को वृहत्तर दुनिया के सामने प्रकट करना। ज्ञान की परंपरा से वंचित इस समाज की उग्र पीड़ा का अंदाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि यह पारंपरिक और उस ऐतिहासिक सवर्ण समाज को चुनौती देने का साहस करता है, जो 'सत्यम' को 'शिवम' और 'शिवम' को 'सुंदर' मानता रहा है।[28]

'दलित साहित्यकार साहित्य को अपनी क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानता है। साहित्य की स्वायत्ता विशुद्धतावाद या सौंदर्यवाद, साहित्यकार की समाज निरपेक्ष स्वतंत्रता इत्यादि को वह उच्च वर्ग की विलासमय एवं आत्मकेंद्रित मनोवृत्ति की उपज मानता है। उसका पूरा विश्वास है कि साहित्य और जीवन दो अभिन्न वस्तुएं हैं, दोनों का आपसी गहन संबंध ही, दोनों के लिए लाभदायी है। दलित साहित्यकार

अपना एक स्वतंत्र सौंदर्यशास्त्र बनाने का भी दावा करते हैं। वे वैयक्तिक सुख–दुख के जाल में अटकी मानवीय संवेदना की अपेक्षा सामाजिक सुख–दुख की अभिव्यक्ति क्रांतिधर्मी संवेदना को ही साहित्य या कला का सही द्रव्य या आशय मानते हैं। रूप या अभिव्यक्ति के समस्त घटक इसी सामाजिक आशय से अनिवार्यतः संबद्ध होते है।'[29]

हिन्दी आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय का मानना है –'साहित्य का समाजशास्त्र व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के भीतर क्रियाशील सम्पूर्ण साहित्य प्रक्रिया की विभिन्न गतियों और परिणितियों की व्याख्या करते हुए, साहित्य के वास्तविक सामाजिक स्वरूप की पहचान करता है। और उसमें साधारण पाठकों की दिलचस्पी जगाता है। इस तरह वह रचना और आलोचना दोनों की सामाजिक सार्थकता बढ़ाता है।'[30]

'दलित साहित्य ने दलितों में जो अस्मिता उत्पन्न की उस अस्मिता ने उन्हें अपने जीवन का भयावह विद्रुप एवं जुगुप्सामय जीवनावस्था का दुख सीधे व्यक्त करने का सामर्थ्य दिया। शब्दों का तथाकथित सौंदर्य, छंदों, का संयम, लय की तरलता, लक्षणा एवं व्यंजना की समृद्धि, रूपविषयक भान का अभिजात्य इत्यादि की परवाह न करते हुए, अपने मन का आशय आक्रामक एवं त्वेषपूर्व भाषा में व्यक्त करने वाली कविता के रूप में प्रबल आवेश में व्यक्त हुआ है।'[31]

कविता में इस दृष्टि से एक चुनौती है कि उसमें समय–समाज की सीमाएं हैं, और उसकी प्रक्रिया भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। रेमण्ड विलियम्स जब 'भाव संरचना' और लोवेन्थ 'अर्थ के मर्म की पहचान' की बात करते हैं, तो वे मानते हैं कि साहित्य का समाजशास्त्र विवरण–वृतांत को पार करता है, जिसे अतिक्रमण की प्रक्रिया कहा जाता है। प्रश्न मूल्य चिंता का है, जिसे 'स्पेंडर', संसार के भीतर संसार अथवा कार्ल मार्क्स प्रतिसंस्कृति (counter culture) कहते हैं।

इस दृष्टि से दलित कविता ने एक नई 'भावभूमि की संरचना' की है। समीक्षा के समाजशास्त्र में वस्तु, शिल्प, भाषा–संरचना कलात्मक अन्विति के साथ एक प्रश्न और है कि इस जटिल समय में रचना और पाठक का संबंध क्या हो? कला को जब 'सामाजिक उपादान' कहा गया है, तो उसकी वैयक्तिक सीमाएं टूटी हैं।

यहां एक प्रश्न भी ध्यान आकर्षित करता है कि आखिर रचना किसे संबोधित है। समाज से साहित्य के संबंधों पर विचार साहित्य के समाजशास्त्र की मूल भूमि है, जिससे पाठक, दर्शक अथवा श्रोता की अनदेखी नहीं की जा सकती है। विशुद्ध साहित्य या स्वांतः सुखाय साहित्य की परिकल्पना को दलित साहित्य भ्रामक मानता है क्योंकि इसमें समाज और जीवन दोनों ही पार्श्व में चले जाते हैं जबकि रचना समाज और समय दोनों से असंपृक्त नहीं हो सकती है। इस दृष्टि से पूर्व प्राचीन ग्रंथों, कृतियों के पुनर्मूल्यांकन का सवाल भी जरूरी हो जाता है। दलित साहित्य ने इस प्रश्न को गंभीरता के साथ उठाया है, विशेष रूप से दलित कविता ने।

'संस्कृति और प्राकृत साहित्य पर ध्यान दें, तो हम कह सकते हैं कि जो सत्ताधारी नहीं थे और जिन्हें वरिष्ठ वर्गों में मान्य नहीं किया गया था, उनमें से कोई भी नायक–उपनायक नहीं बन सका। मनुष्य के रूप में उनका जीवन कथा की विषय–सामग्री रहते हुए भी यह हिन्दू लेखकों को आकृष्ट नहीं कर सका। अर्थात लेखक–कवि की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रही। उनका लेखन धर्मदण्ड–सत्ता से प्रतिबद्ध था। उनका श्रेष्ठत्व साबित करना ही उसका उद्देश्य था। इसीलिए इन दोनों सत्ताधारी वर्गों को देवत्व परमेश्वरत्व देता हुआ भारतीय ललित या धार्मिक साहित्य संख्यात्मक दृष्टि से बढ़ता गया। इन दोनों वर्गों के सिवा अन्य कोई वर्ण, अलग विचार–प्रणाली ललित और धार्मिक साहित्य में व्यक्त नहीं हुई, वर्ण–व्यवस्था ध्वस्त होने के कारण और संपत्ति, सत्ता तथा स्वामित्व इन दोनों वर्गों के पास सदैव बना रहने के फलस्वरूप सारा धार्मिक, ललित लेखन बंधा रहा।'[32]

'साहित्य की सामाजिक अर्थपूर्णता और सार्थकता तब तक अधूरी है, जब तक इसे किसी सामाजिक व सांस्कृतिक प्रथा के रूप में मानव जीवन में समाविष्ट न किया जाए। इसे किसी स्वतंत्र, आत्मनियंत्रित तथा निरपेक्ष विषय विशेष के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। जिसका संबंध एक सीमित समुदाय से हो और जिसका दायरा केवल नैसर्गिक हो तथा जिसका संबंध सिर्फ चरम मूल्यों जैसे सुंदरता, सत्यता आदि से हो और जो हर प्रकार के सामाजिक एवं ऐतिहासिक बंधनों से परे और मानव जीवन के अधिक्षेत्र से बाहर हो। समकालीन साहित्यिक आलोचना एवं सिद्धांत को सामान्यतः न केवल आम पाठकों अपितु विद्वत मण्डली के भी विरोध व अवरोध का निरंतर सामना करना पड़ता है।'[33]

'दलित साहित्य समाज से प्रतिबद्ध है। वर्णों एवं अन्य संकुचित भेदों पर आधारित समाज–व्यवस्था का विरोध, दलित साहित्य अपनी मूलभूत निष्ठाओं में सामाजिक संवेदना का साहित्य है। दरअसल दलित संवेदना का साहित्यकार व्यक्तिगत मान, अपमान एवं क्रोध से विचलित होकर भी अपनी बात नहीं करता। दलित साहित्य की सामूहिक अभिव्यक्ति मानते हुए बालकृष्ण कवठेकर लिखते हैं– 'अधिकांश दलित कविताएं बहुत बार समूह के स्वर में बोलती हैं। ऐसे समय कवि एक व्यक्ति न रहकर, एक प्रचंड समाज का प्रतिनिधि बनता है और समाज के मन की भावनाएं बोलने लगता है। सम्पूर्ण समाज का बहुत बड़ा शोषित भाग इस कविता को आत्मीय स्तर पर ग्रहण करता है।'[34]

देवेन्द्र चौबे मैनेजर पाण्डेय के संदर्भ से कहते हैं – 'कविता की आत्मपरकता और मार्मिक संवेदनशीलता में निहित सामाजिकता की पहचान करने वाले जिस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के विकास पर बल दिया है, यह वही दृष्टि है जो कविता को भी समाज का एक अनिवार्य हिस्सा मानती है। इसीलिए दलित कविता में कवियों ने भी समाज को एक अनिवार्य हिस्सा मानते हुए, उसे रचना का मुख्य आधार बनाया

है। वह मानती है कि सभ्यता पर संकट अथवा मुश्किल समय में कविता ही है, जो समाज और मनुष्य की रक्षा के लिए सामने आकर खड़ी हो जाती है। आज की दलित कविता, इस समाज (दलित) की सामाजिकता की रक्षा में खड़ी है। उसमें दलित समाज के जीवन और जगत के जिस यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति हो रही है, उसके और कविता की भाषा के बीच एक द्वंदात्मक संबंध है। इसीलिए दलित कविता के माध्यम से, कविता का समाजशास्त्र विकसित हो सकता है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है।[35]

दलित कविता का विरोध कलावादियों ने ही नहीं जनवादियों ओर प्रगतिशील रुझान के आलोचकों ने भी किया। उस पर सरलीकरण और सपाटबयानी के आरोप लगाए, कविता की दुरूहता का पक्ष लिया। उपेक्षित जनमानस पूरे देशकाल की गति में सार्थक हस्तक्षेप तो करता है, परंतु वह अनसुना, अनदेखा रह जाता है। क्योंकि साहित्य में मूल्यांकन का प्रश्न भी जातीय प्रश्न है। इसीलिए दलित कवियों को अपनी पहचान निर्मित करने में कई प्रकार के अवरोधों से टकराना पड़ता है।

निश्चित रूप से दलित कविता आज जिस रूप में उभर कर आई है, वह एक नए युग का आह्वान बनकर उभरी है, जिसका मूल्यांकन स्थापित सामंती, ब्राह्मणवादी काव्यशास्त्र के मानदण्डों पर नहीं हो सकता है। उसका मूल्यांकन समाजशास्त्रीय मूल्यों और मुहावरों से ही संभव है। दलित कविता अपनी संपूर्ण ऊर्जा के साथ गतिशील हुई है। इसीलिए भारतीय समाज–व्यवस्था और यथास्थितिवाद के विरुद्ध एक आंदोलन है।

अध्यात्मवाद और हिन्दू दर्शन का विरोध

दलित आंदोलन ने दलित समाज में जिस जागरूकता का संचार किया है वही दलित कविता के सौंदर्यशास्त्र में भी सैद्धांतिकी के तौर पर स्थापित हुई है। हिन्दी आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं–

दलित साहित्य के प्रसंग में अनुभव और दृष्टि का सवाल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मैं कबीर और हीरा डोम की कविता के संदर्भ में प्रश्न पूछने की जिस प्रवृत्ति की बात कर रहा था, वह आज की दलित कविता की एक मुख्य विशेषता है। हिन्दी के दलित कवि ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविता की कुछ पंक्तियां देखिए–

तुम्हारे रचे शब्द तुम्हें ही
डसेंगे साँप बनकर

गंगा किनारे कोई वट वृक्ष
ढूंढ लो, कर लो भागवत का पाठ
आत्मसंतुष्टि के लिए

कहीं मृत्यु के बाद भयभीत आत्मा
भटकते–भटकते
किसी कुत्ते या सुअर की मृत देह में
प्रवेश न कर जाए
या फिर
पुनर्जन्म की लालसा में
किसी डोम या चूहड़े के
घर पैदा न हो जाए

चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है?

मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों।

मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, कि इस कविता की आखिरी तीन पंक्तियों में उस दर्शन को ध्वस्त किया गया है, जो पिछले कई हजार वर्षों से प्रचारित किया जा रहा है। ऐसा ही सवाल एक बार बनारस में शंकराचार्य से एक चाण्डाल ने किया था। शंकराचार्य दिग्विजय करते हुए बनारस पहुंचे थे। वे गंगा स्नान करके शिव मंदिर में जल चढ़ाने जा रहे थे कि अचानक उनसे एक चाण्डाल टकरा गया। शंकराचार्य ने उसे डांटा और कहा कि तुमने मुझे छू कर अपवित्र कर दिया। चाण्डाल ने शकराचार्य से पूछा कि भगवन किसको छू लिया– मेरे शरीर ने आपके शरीर को? वह तो आप ही के अनुसार नश्वर है। क्या मेरी आत्मा ने आपकी आत्मा को छू लिया? क्या आपके अनुसार आत्मा ईश्वर का अंश नहीं है? फिर किससे कौन अपवित्र हुआ? शंकराचार्य की सारी शक्ति जवाब दे गई। वे हार कर दुबारा गंगा स्नान करने चले गए। इसीलिए मैं कह रहा हूं कि प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति का दलित साहित्य के लिए बहुत महत्त्व है।'[36]

दलित कविता धर्म के पाखंडों के विरुद्ध, उस पर तीखा हमला करती है। पुरोहितवाद, धार्मिक कर्मकाण्ड, मठ–महंत, व्रत आदि जो पाप–पुण्य की कल्पनाओं के सहारे मनुष्य के भोलेपन का लाभ उठाकर उसे आस्थावान बना देती है, और तर्क–वितर्क, विश्लेषण से अलग आँख बंद करके अंधश्रद्धा में डूब जाता है। यहां वह रास्ता है जो शोषण और यथास्थिति की ओर मनुष्य को ले जाता है। लेकिन दलित कवि इस भयावह स्थिति के प्रति मनुष्य को जागरूक करने की मुहिम में शामिल है। तभी तो मराठी के प्रसिद्ध दलित कवि केशव मेश्राम दलित कविता पर अपनी टिप्पणी में कहते हैं –'संकीर्ण सड़े धर्म पर, वर्गीय प्रवृत्ति पर, ढोंगी–व्यवस्था पर, पुरानी परंपराओं पर, गुलगुलेपन पर, स्वैराचार के आविष्कार पर दलित कविता हमला करती है। इसीलिए कोमल भाषा में, लयबद्ध मनोरंजन बोली में बोलने का उसे कोई प्रयोजन नहीं है। स्वयं सिद्ध श्रेष्ठत्व का दंभ भरने वाले सब दंभों से उसकी दुश्मनी है, संकुचित धर्म के लक्षणों से उसकी शत्रुता है।'[37]

'दलितों के हिन्दू धर्म को नकारने और घृणित कामों को न करने के पीछे जो मानसिकता है, वही रूढ़ निकषों को नकारने के पीछे भी है। दलित जब नकारात्मक भूमिका अपनाते हैं, तब गैर दलितों के अहम को ठेस पहुँचती है। तब वे इसके समर्थन में बोलने लगते हैं। इतिहास की दुहाई देने लगते हैं। मूल्यों को शाश्वत, सर्वमान्य, परम्परा सिद्ध बताते हैं। लेकिन यह तर्क टिकने वाला नहीं है। गलत रिवाज हजारों वर्षों से चल रहे हैं, इसीलिए क्या उनका पालन करना चाहिए? निकष हजारों वर्षों तक रूढ़ थे, क्योंकि दलितों ने उनके खिलाफ कुछ नहीं कहा था। दलितों के हस्तक्षेप का इतिहास फुले–अम्बेडकर से शुरू होता है। हजार वर्ष का कोई मतलब नहीं है। सर्वमान्य का अर्थ सवर्ण मान्य ही होता है। यह कहां का तर्क है कि जो व्यवस्था अछूतों के स्पर्श, परछाई और वाणी को अपवित्र मानती हो, उसे दलितों को नकारना नहीं चाहिए।'[38]

समाज में रचा–बसा विद्वेष रूप बदल–बदलकर झांसा देता है। दलित कवि के सामने ऐसी भयावह स्थितियां निर्मित करने के अनेक प्रमाण हर रोज सामने आते हैं, जिनके बीच अपना रास्ता ढूंढ़ना नहीं होता। सभ्यता, संस्कृति के घिनौने षडयंत्र लुभावने शब्दों से भरमाने का काम करते हैं, जहां नैतिकता, अनैतिकता और जीवन मूल्यों के बीच फर्क करना मुश्किल होता है।

नए प्रतिमान

एक समय हिन्दी कविता में आलोचक उसी कविता को श्रेष्ठ मान लेता था, जिसमें अलंकार, अनुप्रास, यमक, छंद, शास्त्रीय भाषा आदि सटीक ढंग से प्रयोग किए गए हो। उसकी विषय वस्तु, आशय और अनुभूति कोई ज्यादा महत्त्व नहीं रखती थी। ऐसे आलोचकों का जीवन मूल्यों, दृष्टि, सोच और उसकी सामाजिक प्रासंगिकता आदि को अनदेखा करना, उनकी विवशता थी। कबीर की भाषा को लेकर इसी तरह का आग्रह रामचन्द्र शुक्ल को बाध्य करता है। आम जन मानस की भाषा

को वे सधुक्कड़ी कह कर उसका तिरस्कार करते हैं। जबकि कबीर की कविता का तेवर जितना उस भाषा में प्रभावोत्पादकता पैदा करता है, उतना किसी संस्कृतनिष्ठ भाषा से संभव ही नहीं था। यही स्थिति दलित साहित्य के साथ भी है। उसने अपने लिए सिर्फ भाषा ही नहीं बल्कि कविता के प्रारूप को बदलकर जीवन के साथ जोड़ा है, जिससे कविता की सामाजिकता बढ़ी है। साथ ही दलित कविता ने इन सबसे अलग अपने लिए नए प्रतिमान भी रचे हैं, जो उसे मानवीय संवेदनाओं के साथ जोड़ते हैं।

यहां यह प्रश्न भी उठता है कि वह कौन से मानदण्ड हैं जो कविता को कविता बनाते हैं। आलोचकों के पांरपरिक मानदण्डों को दलित कविता ने स्वीकार नहीं किया है। भले ही स्थापित पारंपरिक कविता के आलोचक उसे कविता माने या न माने। क्योंकि दलित कवि के सामने एक बड़ा उद्देश्य है जिसमें हजारों साल की अवेहलना, प्रताड़ना, उत्पीड़न की अभिव्यक्ति के लिए पांरपरिक शास्त्रीय भाषा सक्षम नहीं थी। न ही वे पारंपरिक प्रतिमान दलित अभिव्यक्ति के लिए उपयोगी थे।

सामंती, ब्राह्मणवादी मानसिकता से उपजे प्रतिमान दलित कविता के लिए नहीं बने थे। हिन्दी के आलोचक लक्ष्मीकांत वर्मा ने कहा था,– 'कौन सी वह वस्तु है, जो कभी–कभी आलोचकों के समक्ष ऐसी समस्याएं प्रस्तुत कर देती हैं कि उनके नियंत्रित प्रतिमान झूठे पड़ जाते है। उनका अर्जित ज्ञान खोखला सा मालूम पड़ने लगता है। और तब एक नए प्रतिमान को निर्धारित करने की आवश्यकता महसूस होने लगती है? निश्चय ही वह वस्तु विषय नहीं है और न ही वह किसी रचना का आकार–प्रकार ही होता है। वह कवि की अनुभूति होती है। वह अनुभूति जो उसके व्यक्तिगत सत्य से उपजती है, उसके व्यक्तिगत साक्षात्कार का परिचय देती है। जो उसका नितांत व्यक्तिगत सत्य होते हुए भी अनुभूति और अभिव्यक्ति के नए आयामों का उद्घाटन करता है। जिस साहित्य अथवा जिस प्रतिमान में कवि

के भोगे हुए सत्य को झांकने की क्षमता नहीं होती या जिसमें वह उदारता नहीं होती कि वह उस कवि–सत्य के वास्तविक मूल्य को ग्रहण कर सके, वह अधूरा होता है। उसमें साहित्य का विकास नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रतिमान दृष्टिहीन होने के साथ–साथ कला की गहराईयों तक नहीं पहुंच सकता।'[39]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र और हिन्दी–संस्कृत काव्यशास्त्र दोनों की आंतरिक अभिव्यंजना तक एक जैसी है। डॉ. नगेंद्र लिखते हैं– 'पश्चिम में काव्य के तीन तत्व माने गए हैं– वस्तु (मैटर), शैली (मैनर) और आनंद देने की शक्ति (कैपेसिटी टू प्लीज़)। बाद में आनंद की व्याख्या की गई है और एडीसन का संकेत ग्रहण करते हुए आनंद का अर्थ हुआ :कल्पना का आनंद। इस बात को दूसरे प्रकार से भी कुछ व्याख्याताओं ने लिखा है। उन्होंने वस्तु का भी विश्लेषण कर डाला। वस्तु–भाव और विचार : इस प्रकार काव्य के तत्व हुए भाव, विचार, कल्पना और शैली, अर्थात राग–तत्व, बुद्धि–तत्व कल्पना तत्व और शैली।'[40]

आगे वे इसे विस्तार देते हुए कहते हैं – 'भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य तत्वों के प्रसंग में आचार्यों ने एक रूपक बांधा है –जिसके अनुसार रस (या ध्वनि) काव्य–पुरुष की आत्मा है, शब्दार्थ शरीर है, माधुर्य आदि गुण अंतरंग गुण है, वैदर्भी आदि रीति अंग–संस्थान हैं, और उपमा आदि अलंकार आभूषण हैं।'[41]

उपरोक्त मान्यताएं दलित साहित्य की अवधारणाओं में उचित नहीं लगती हैं। क्योंकि ये तमाम सिद्धांत, परिभाषाएं, सामंतवादी, परंपरावादी साहित्य को जीवन से दूर ले जाने का उपक्रम है। कुछ विशिष्ट लोगों तक सीमित करके उस पर अपना वर्चस्व कायम रखने का एक षड़यंत्र भर था। जिसके कारण हिन्दी साहित्य आम आदमी से निरंतर दूरी बनाए रखने में सफल रहा है।

दलित कविता ने इन तमाम सामंतवादी उपमानों का निषेध करते हुए, कविता को जनजीवन की इच्छाओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं,

सुख–दुख से जोड़कर, उसके अनुरूप बनाया है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव, जिनसे रसोत्पत्ति होती है, उसका निषेद्ध करते हुए अपना रास्ता चुना है जहां दलित केन्द्रित जीवन अनुभवों से जुड़कर मानवीय संवेदना और सरोकारों को अपने भीतर संजोती है। शास्त्रीयता और काव्यात्मक शैलियां उसे अनुपयोगी लगती हैं। हिन्दी साहित्य या मराठी साहित्य की पारंपरिक, आध्यात्मिक मान्यताओं और रसात्मक वाक्याशों, रमणीयार्थ प्रतिपादकता से अलग दलित दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की अपनी मान्यताओं को सकारात्मकता प्रदान की है।

किसी भी साहित्यिक कृति, रचना या कलाकृति के मूल्यांकन या मानदण्ड की बात की जाती है तो उसका सीधा अर्थ है–रचना की अंतःचेतना और उसका आशय। ये दोनों ही तत्व किसी भी रचना के मूल्यांकन के आधार तत्व हैं। पारंपरिक साहित्य में, जिसे ब्राह्मणवादी सौंदर्यशास्त्र कहना ज्यादा उपयुक्त होगा, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ही उसके प्रयोजन हैं। डॉ. नगेन्द्र कहते हैं– 'भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य की आत्मा आनंद रूप, रस और मूल प्रयोजन आनंद माना गया है और व्यंजना से यही उसका मानदण्ड या आधारभूत मूल्य भी है।'[42]

लेकिन जैसा कि इससे पूर्व भी कहा गया है कि दलित कविता में जीवन अनुभवों का यथार्थ और उसकी अभिव्यक्ति का प्रयोजन सामाजिक परिवर्तन है, जहां मानवीय सरोकारों और जीवन मूल्यों का सहज और सरल प्रस्तुतिकरण हो। क्योंकि साहित्य का संबंध आध्यात्मिक और दार्शनिक विवेचनाओं से नहीं बल्कि सहज और सामान्य जीवन से है। जहां मनुष्य की पहचान एक मनुष्य के रूप में होती है। उसके जीवन सरोकारों की अभिव्यक्ति भी सहज रूप में सामने आती है। सामाजिक मूल्य और मानवीय संवेदनाएं एक साथ कविता को मनुष्य की गरिमा के साथ खड़ा करती हैं। समकालीन दलित कविता का मूल्यांकन रस–सिद्धांत की शब्दावली से संभव नहीं है। यह

सिद्धांत मानवीय गरिमा को खण्डित करता है और साहित्य को अभिजात्यता की ओर ले जाकर सामाजिक जीवन से विलग कर देता है। हजारों साल से इस सिद्धांत की विवेचन–पद्धति और शब्दावली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

साहित्य का अस्तित्व समाज से अलग नहीं होता है, इसलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से कटा हुआ नहीं हो सकता। साहित्य सामाजिक रचना है, साहित्यकार की रचनाशील चेतना, उसके सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है, साहित्यिक कर्म की पूरी प्रक्रिया सामाजिक व्यवहार का ही एक विशिष्ट रूप है, इसलिए साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से अनेक रूपों में जुड़ा होता है। साहित्य का इतिहास व्यापक सामाजिक इतिहास का अंग है।'[43]

हिन्दी और मराठी का पारंपरिक साहित्य इन्हीं आदर्शों और मूल्यों से बंधा हुआ दिखाई देता है। इनकी विवेचना की शब्दावली इतनी गूढ़ और रहस्यात्मक होती है कि साहित्य का सामान्य पाठक उसे समझ ही नहीं पाता है। इस विवेचना की भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है – 'आचार्य शुक्ल ने जहां भाव, विभाव, अनुभाव आदि शब्दों का नवीन आलोचनाशास्त्र और मणिविज्ञान के प्रकाश में अर्थ विस्तार किया है, वहां 'रागात्मक संबंधों' तथा 'मार्मिक प्रसंगों के अनुसंधान, सौंदर्य–शक्ति–शील के निरूपण, सूक्ष्म, अवदात्त और उदात्त भावनाओं के विश्लेषण' तथा 'व्यक्ति एवं लोक की भावभूमियों' के उद्‌घाटन द्वारा रस–सिद्धांत का युगानुकूल पोषण एवं विकास भी किया है। छायावाद के आलोचकों ने 'ऐंद्रिय' और 'अतींद्रिय', अनुभूतियों, 'प्रत्यक्ष' एवं आलंबन, मानव तथा प्राकृत की 'रम्याद्भुत सौंदर्य–विवृत्तियों' का विश्लेषण कर रस–सिद्धांत का और भी अधिक विस्तार किया है।'[44]

जितेन्द्र श्रीवास्तव का कथन है कि 'हीरा डोम' की भोजपुरी कविता का प्रकाशन हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिका सरस्वती के सितंबर, 1914 अंक में हुआ था। कविता में अंतर्निहित सच को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पहचाना और प्रकाशित किया, लेकिन उसके बाद

लगभग 70–75 वर्ष तक हीरा डोम की कविता आलोचना की मुख्यधारा की कौन कहे, हाशिये की भी रचना नहीं बन पायी। इस बीच के वर्षों में ही प्रगतिवादी–जनवादी, आलोचना विकसित हुई। उसने कई श्रेष्ठ काम किए लेकिन उसकी मूल चिंता से जुड़ी यह ऐतिहासिक महत्व और जन–पक्षधर चिंतन को सार्थकता देने वाली मार्मिक कविता 'अछूत की शिकायत' उसके आँगन का 'मौलश्री' नहीं बन पाई। वजह क्या है? क्या इसीलिए व्याख्या संभव नही हुई कि यह हिन्दी नहीं, भोजपुरी की कविता है? तब फिर ब्रजभाषा, अवधी एवं मैथिली आदि की कविताओं की हिन्दी में प्रशस्तियां कैसे संभव हुई?'[45]

आगे वे कहते हैं कि 'आखिर जो लोग उपुर्यक्त भाषाओं को हिन्दी की उपभाषाएं मानते हैं, वे भोजपुरी को भी उपभाषा मानते हैं। जाहिर है, यह कारण उनका बचाव नहीं हो सकता। तब दूसरा कारण, क्या इसलिए हीरा डोम की कविता की व्याख्या नहीं हो सकी क्योंकि हमारा प्रचलित सौंदर्यशास्त्र इस कविता की व्याख्या करने में अक्षम था? और यदि अक्षम नहीं था तब क्यों नहीं किया? यह निरुत्तर प्रश्न दलित साहित्य की व्याख्या के लिए एक सर्वथा नए सौंदर्यशास्त्र की जरूरत सिद्ध करता है।;[46]

हीरा डोम की इस कविता पर पिछले अध्यायों में विस्तार से चर्चा की गई है। यहां जितेन्द्र श्रीवास्तव के कथन को उद्धृत करने का यह आशय था कि हिन्दी साहित्य के आलोचकों में दलित संबंधित कविताओं, कहानियों व अन्य रचनाओं को अनदेखा करने की प्रवृत्ति रही है जो इस कविता के रूप में भी सामने आई, जिसका उल्लेख करना जरूरी था ताकि इस प्रवृत्ति को ठीक तरह से रेखांकित किया जा सके।

मैनेजर पाण्डेय के कथनानुसार, 'रचना में रूपायित रचनाकार के जीवनानुभव और उस अनुभव को व्यक्त करने वाले माध्यम का विश्लेषण करते हुए आलोचक रचना की व्याख्या करता है। रचना के विश्लेषण के दौरान ही आलोचक रचना की अंतर्वस्तु, अंतर्वस्तु की

निर्मिति करने वाली रचना दृष्टि और रचना से व्यक्त होने वाले संदेश की भी मीमांसा करता है। साहित्यिक और भाषिक परंपरा और परिवेश से रचना के संबंध के विश्लेषण के बिना किसी रचना की मौलिकता और नवीनता का मूल्यांकन नहीं हो सकता। आलोचना में रचना के केवल कलात्मक मूल्यों की चिंता करने वालों को भी कलात्मक मूल्यों की सार्थकता की परख के लिए रचना के सामाजिक, सांस्कृतिक संदर्भ की जरूरत होती है।'[47]

दलित साहित्य का यह मानना है कि कविता में अभिव्यक्त मूल्यों का संबंध सामाजिक जीवन मूल्यों से बहुत गहरे तक जुड़ा है। इन्हीं के आधार पर रचना–दृष्टि विकसित होती है यहां यह भी कहा जा सकता है कि रचना भी मूल्यों का श्रृजन करती है। पुरानी मान्यताओं और मूल्यों को विखण्डित कर नया सृजन करती है जिससे नए मूल्यों और दृष्टि का विकास होता है। दलित कविता ने अपनी अभिव्यक्ति में इन तथ्यों को स्थापित किया है।

संदर्भ

1. बजरंग बिहारी तिवारी, ''भारतीय दलित लेखन : मौजूदा परिदृश्य'', *नया पथ,* अंक –अप्रैल–जून, 2009, पृष्ठ 72
2. गंगाधर पानतावणे, *कथादेश,* अंक –जुलाई, 2008, पृष्ठ 63
3. बजरंग बिहारी तिवारी, भारतीय दलित लेखन : मौजूदा परिदृश्य, पृष्ठ 72
4. वही, पृष्ठ 72–73
5. जितेन्द्र श्रीवास्तव, *विचारधारा, नए विमर्श और समकालीन कविता,* किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 27
6. शरण कुमार लिम्बाले, परिवर्तित संदर्भ और साहित्य के निकष, *प्रगतिशील वसुधा,* अंक–71 अक्तूबर–दिसंबर, 2006, पृष्ठ 397–398
7. डॉ. कुंवर पाल सिंह, साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, *पीपुल्स लिटरेसी,* दिल्ली, 1985, पृष्ठ 8
8. नामदेव ढसाल, ''मेरी जमानत मत करो'' –*जनपक्ष* 10, 2005, पृष्ठ 33
9. म.ना.वानखेड़े, ''साहित्यिकों को विद्रोही बनना होगा'', *दलित साहित्य, वेदना*

और विद्रोह; संपादक शरण कुमार लिम्बाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 119
10. दया पवार, अस्मितादर्श, लेखक–पाठक सम्मेलन, सोलापुर, 1983, *दलित साहित्य :वेदना और विद्रोह,* पृष्ठ 198
11. मलखान सिंह, *सुनो ब्राह्मण,* परिवेश प्रकाशन, चंदौसी, 1996, पृष्ठ 3–4
12. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *दलित साहित्य का सौदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन,* नई दिल्ली, 2001 पृष्ठ 58–59
13. वेलिंस्की, *संकलित रचनाएं,* खण्ड–1, पृष्ठ 221
14. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *दलित साहित्य का सौदर्यशास्त्र,* नई दिल्ली, 2001 पृष्ठ 59
15. वही
16. पंकज गौतम, *सबके दावेदार,* अंक–58, फरवरी, 2009, पृष्ठ 7
17. जितेन्द्र श्रीवास्तव, *विचारधारा, नए विमर्श और समकालीन कविता,* पृष्ठ 27
18. डॉ. कुवर पाल सिंह, *साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद,* पृष्ठ 89–90
19. लक्ष्मीकांत वर्मा, *नए प्रतिमान :पुराने निकष,* लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996, पृष्ठ 3
20. देवेन्द्र चौबे, दलित साहित्य का समाजशास्त्र *आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श,* ओरियंट ब्लैक स्वॉन, 2009, पृष्ठ 197
21. अर्जुन डांगले, *दलित साहित्य : एक अभ्यास,* महाराष्ट्र राज्य साहित्य–संस्कृति मण्डल, मुंबई, 1978, पृष्ठ 21
22. डॉ. बच्चन सिंह, *साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद,* पृष्ठ 8
23. वही
24. डॉ. कन्हैया सिंह, ''साहित्य का समाजशास्त्रः विविध दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य'', *चक्रवाक,* अक्तूबर–2011 से मार्च, 2012, अंक 18–19, पृष्ठ 29
25. देवेन्द्र चौबे, *दलित साहित्य का समाजशास्त्र,* 2009, पृष्ठ 179
26. वही
27. ओम प्रकाश वाल्मीकि, ''तब तुम क्या करोगे?'' *सदियों का संताप* (कविता संग्रह), फिलहाल प्रकाशन , पृष्ठ 30
28. देवेन्द्र चौबे, *''दलित साहित्य का समाजशास्त्र,'' आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श,* पृष्ठ 182
29. चन्द्रकांत बांदीवडेकर , *दलित साहित्य एक दृष्टि–मराठी साहित्य : परिदृश्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ 196

30. डॉ. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका,* हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, 1989, पृष्ठ 219
31. चन्द्रकांत बांदीवडेकर , *दलित साहित्य एक दृष्टि–मराठी साहित्य : परिदृश्य,* पृष्ठ 196
32. बाबू राव बागुल, *'दलित साहित्य :उद्देश्य और वैचारिकता–भारतीय दलित साहित्य : परिप्रेक्ष्य,'* संपादक पुन्नीसिंह, कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ 29
33. संजय कुमार, *समकालीन आलोचना और सिद्धांत, आलोचना,* अक्तूबर–दिसंबर, 2010, पृष्ठ 57
34. चन्द्रकांत बांदीवडेकर , *दलित साहित्य एक दृष्टि–मराठी साहित्य :परिदृश्य,* पृष्ठ 191
35. देवेन्द्र चौबे, *दलित साहित्य का समाजशास्त्र, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श,* पृष्ठ 191
36. मैनेजर पाण्डेय, हिन्दी साहित्य में दलित लेखन– *भारतीय दलित साहित्यः परिप्रेक्ष्य,* पृष्ठ 322–323
37. केशव मेश्राम
38. शरण कुमार लिम्बाले, ''परिवर्तित संदर्भ और साहित्य के निकष, समकालीन मराठी साहित्य'', *गति–प्रगति,* संपादक– चंद्रकांत पाटिल, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2006, पृष्ठ 403
39. लक्ष्मीकांत वर्मा, *नए प्रतिमान :पुराने निकष,* 1996, पृष्ठ 82
40. डॉ. नगेन्द्र, *आस्था के चरण* , नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 1968, पृष्ठ 214
41. वही
42. वही, पृष्ठ 98
43. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–2000, पृष्ठ 7
44. डॉ. नगेन्द्र, *आस्था के चरण,* पृष्ठ 84
45. जितेन्द्र श्रीवास्तव, *विचारधारा, नए विमर्श और समकालीन कविता,* पृष्ठ 29
46. वही, पृष्ठ 30
47. डॉ. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 74

अध्याय सात

हिन्दी और मराठी कविता की उपलब्धियां और उसका विकास

मौखिक परंपरा से आज के आधुनिक इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों तक साहित्य ने एक लंबी यात्रा पूरी की है। युग बदले, समय बदला, मनुष्य की अभिव्यक्ति के तरीके भी बदले। साहित्य की विकास यात्रा भी मनुष्य की इस बदली अभिव्यक्ति की ही विकास यात्रा है। इसी के फलस्वरूप साहित्य, संस्कृति और परंपराओं का, मानवीय मूल्यों का, इंसान की जद्दोजहद का विकास हुआ है। यह जो बदलती अभिव्यक्तियां हैं, यही मनुष्य को, समाज को विकास की ओर ले जाती हैं। इसी कारण साहित्य में नयापन आता है, राजनीतिक स्थितियां बदल जाती हैं, एक नए भविष्य की ओर मनुष्य के कदम बढ़ने लगते हैं। यानी मनुष्य का अभिव्यक्त होना इतने सारे संदर्भों से जुड़ जाता है।

'स्वातंत्र्योत्तर कालखण्ड में मराठी साहित्य में फुले–अम्बेडकर के विचारों के प्रभाव से दलित अभिव्यक्ति का तूफान उठ खड़ा हुआ। हजारों वर्षों से दलित अभिव्यक्ति को दबा दिया गया था। दलितों को ज्ञानार्जन और अभिव्यक्ति का अधिकार ही नहीं था। खामोश दलित समाज चुपचाप जी रहा था। दलित शोषक के लिए वस्तु भर था। उसे अपने शोषित होने का एहसास न हो, इसलिए भाग्यवाद की दुहाई दी जाती थी। फुले–अम्बेडकर ने दलितों को गुलामी का एहसास कराया। इसलिए गुलामी के खिलाफ अभिव्यक्ति की प्रेरणा दलितों को मिल गई। दलितों का व्यक्त होना एक सामाजिक प्रक्रिया थी। विषम समाज व्यवस्था के खिलाफ आक्रोश और उसके विरोध में प्रतिकार की

भावना दलितों की अभिव्यक्ति में प्रकट हो रही थी। शोषक और शोषित के हित परस्पर विरोधी होते हैं। कला में हित संबंधों की अभिव्यक्ति होती है। इनमें उत्पन्न तनावों के कारण प्रतिक्रियाएं व्यक्त होने लगी कि दलित साहित्य से समाज में खाई पैदा होगी, समाज में मनमुटाव बढ़ेगा।'[1]

दलित साहित्य का उदय सिर्फ मराठी भाषा या महाराष्ट्र में ही हुआ, ऐसी बात नहीं थी। पूरे भारतवर्ष में दलित साहित्य की लहर फैली। मराठी दलित साहित्य के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में हुए। महाराष्ट्र और केन्द्र सरकार ने डॉ. अम्बेडकर के सम्पूर्ण साहित्य का प्रकाशन वितरण शुरू किया, जिससे पूरे भारत में उनके विचारों, कार्यों का प्रसार हुआ जिसके कारण भारत के अन्य राज्यों में भी दलित आंदोलन और दलित साहित्य में सक्रियता आई।

मराठी दलित साहित्य और दलित कविता ने भारतीय भाषाओं के दलित साहित्य को प्रेरणा और ऊर्जा दी। हिन्दी में ''सारिका'' (सम्पादक कमलेश्वर, 1975) के मराठी दलित साहित्य विशेषांक आये थे जिन्होंने हिन्दी प्रदेशों में दलित साहित्य की सुगबुगाहट के साथ–साथ उसे तीव्रता भी दी थी। ऐसा ही एक विशेषांक डॉ. महीप सिंह के संपादन में ''संचेतना'' (त्रैमासिक) का 1980 में प्रकाशित हुआ था। ''सारिका'' की तरह ''संचेतना'' ने भी मराठी को ही केन्द्रित करके यह अंक निकाला था जबकि हिन्दी में अनेक कवि और कहानीकार सक्रिय थे। लेकिन उस समय तक हिन्दी के अखबार और पत्र–पत्रिकाएं हिन्दी के दलित साहित्य को अनदेखा कर रही थी। हिन्दी की किसी बड़ी पत्रिका ने दलित साहित्यकारों की रचनाओं को कोई भी महत्ता नहीं दी थी, जबकि हिन्दी में अनेक लघु दलित पत्रिकाएं दलित साहित्य छाप रही थी। ऐसी ही एक पत्रिका थी ''निर्णायक भीम'' जो कानपुर से निकलती थी, जिसके संपादक थे– आर कमल। 1992 जुलाई में ''हंस'' जैसी हिन्दी की बड़ी पत्रिका ने पहली बार ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविताएं प्रकाशित की थी। साथ

ही ''हंस'' की वार्षिक गोष्ठी में दलित साहित्य को केन्द्र में रख कर चर्चा भी कराई थी। उसी गोष्ठी में ओम प्रकाश वाल्मीकि ने हिन्दी दलित साहित्य पर व्याख्यान दिया था जिसकी अनुगूँज पूरे देश में सुनाई पड़ी थी। इसके बाद अन्य पत्रिकाओं ने भी हिन्दी दलित साहित्य छापना शुरू किया था। अनेक पत्रिकाओं ने इसके बाद दलित साहित्य पर विशेषांक भी निकाले थे।

दलित कविता दलित साहित्य की एक प्रमुख विधा रही है जिसके कारण दलित साहित्य की ओर प्रकाशकों, समालोचकों, पाठकों का ध्यान गया और आज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दलित साहित्य ने अपनी पहचान बनाई है। सभी महत्त्वपूर्ण पत्र–पत्रिकाओं ने दलित साहित्य पर सामग्री प्रकाशित की है। अनेक दलित पुस्तकों को ख्याति और सम्मान मिला है। वर्ष, जनवरी 2010 के जयपुर फेस्टीवल में भी पहली बार दलित साहित्य और दलित कविता पर विशिष्ट सत्रों का आयोजन किया गया था। ये सत्र इस फेस्टीवल के लिए हमेशा याद किये जायेंगे। उस फेस्टीवल में दलित साहित्य की पुस्तकों की मांग देखने योग्य थी। यह सब देख कर लगता है कि दलित कविता और दलित साहित्य ने अपनी सामाजिक भूमिका का निर्वाह सही दिशा और उत्तरदायित्व के साथ निभाया है।

पारंपरिक साहित्य से अलग होकर अपने वर्ग की अस्मिता को लेकर इस वर्ग के लेखकों ने सोचना शुरू कर दिया और अपने वर्ग की यातनाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगे। कथ्य भाषा और शिल्प के स्वर, परंपरा से एक दम अलग हो जाने के कारण आरंभ में इस साहित्य की हंसी उड़ाई गई, उपेक्षा हुई, परंतु संवेदना की प्रखरता और अभिव्यक्ति की विशिष्टता के कारण इसे स्वीकार किया गया।[2]

लोकनाथ यशवंत अपने कविता संग्रह– 'आणि शेवटी काय झाले' (और अंत में क्या हुआ) की भूमिका लिखते हैं– 'देव नकारने वालों ने बुद्ध को देव बना देने वाली व्यवस्था ने हमारे साथ छल किया

है। व्यवस्था की यह सामर्थ्य दासता का वास्तविक कारण है। यदि यह बात समझ में आ जाए तो व्यवस्था का असली रूप दर्शाना ही मेरी कविता का मुख्य प्रयोजन है।[3]

वे यह भी कहते हैं कि 'संक्षेप में कहा जाए तो शत्रु जब मित्र का रूप धारण कर आता है, तब असली मित्र शत्रु हो जाता है और अपने ही हाथों मित्र का वध हो जाता है। आगे जब इस गलती का एहसास होता है तो भूल की भरपाई करने के लिए हुतात्माओं के मंदिर बनाने लगते हैं और अपनी भूल को ठीक करने के लिए फिर से वहां पुजारी बन कर खड़े हो जाते हैं। यही है...इतिहास की शोकांतिका और मेरी व जन सामान्य व्यथा भी।'[4]

इन पंक्तियों का आशय स्पष्ट करते हुए जिस ओर लोकनाथ यशवंत संकेत कर रहे हैं, वह बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की दिशा सूचक उंगली है जो आह्वान करती दिखाई देती है। जिसे दलित साहित्यकार अपनी चेतना का हिस्सा बनाकर ही सृजनरत हैं। तभी दलित पीड़ा से सीधे–सीधे जुड़कर अपनी प्रतिबद्धता और उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हैं।

यहां इस संदर्भ को रेखांकित करते हुए यह भी कहना जरूरी लगता है कि दलित रचनाकार अपने अंतर्द्वदों को भी विश्लेषित करने में किसी भी प्रकार की गुरेज नहीं करता है। और यह दलित कवियों की साहित्यिक यात्रा की उपलब्धि तो है ही, साहित्य कर्म का विकास भी है।

दलित कविता ने अपनी विकास–यात्रा में नये विषयों को शामिल करके दलित चेतना का विकास किया है। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है स्त्री का सवाल। दलित आंदोलन में स्त्रियों की भूमिका प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में जुड़ी रही हैं। लेकिन लेखन में यह स्वर थोड़ा विलम्ब से उभरा। दलित कवियित्री को दो तरह के मोर्चों पर एक साथ लड़ना पड़ा। पहला –स्त्री होने का, दूसरा दलित होने का।

हिन्दी कवयित्री रजनी तिलक की कविता में इस पीड़ा को

रेखांकित किया गया है–

सखी, चुप रहने की कहानी है
हमारे परिवार
चुप रहो, झुकते रहो
त्याग करो और घुट–घुट कर मरती रहो

उत्पीड़न के बल पर टिका है घर–बार
चुप्पी टूटी तो बिखरा हमारा संसार।[5]

कवयित्री पूनम तुसामड एक स्त्री के दलित होने की पीड़ा को अपनी अभिव्यक्ति के केंद्र में रखकर कहती हैं–

मेरे सोने से पहले
और जागने पर यकायक
क्यूं कस जाता है शिकंजा चारों ओर
शायद
कोई चक्रव्यूह–सा
जिसे चाहकर भी मैं
तोड़ नहीं पाती हूं
न जाने कौन सा डर
समा जाता है मन में
वह डर भी मेरा नहीं है
वह भी मिला है विरासत में।[6]

'बिना किसी अंतर्विरोध के, संशय के यह कहा जा सकता है कि भारत में कमजोर वर्गों के समाज विज्ञान अध्ययन ने एक विशिष्ट शाखा के रूप में मान्यता प्राप्त कर ली है। इस क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति से एकत्र

की गई सामग्री बहुतायत में उपलब्ध है जो भविष्य के अध्ययन कार्यों के लिए शोध–पद्धति के रूप में उपयोगी सिद्ध होगी। मराठी और अन्य भारतीय भाषाओं में विस्तृत सृजनात्मक लेखन– कविताएं, उपन्यास, आत्मकथाएं, ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण सामग्री, नाटक और इसी तरह की अन्य विधाएं समृद्ध हुई हैं जिनमें दलितों के जीवन संबंधी, रहन–सहन की स्थितियां, उनकी समस्याएं, उनकी आवाजें, विरोध और उनकी प्रेरणाएं, जिनके कारण दलित साहित्य की परंपरा समृद्ध हुई है। यहां विशेष रूप से दलित साहित्य आंदोलन का आभार मानना होगा कि सबसे पहले मराठी दलित साहित्यकारों ने इस परंपरा को समृद्ध किया। दलित साहित्य ने वैज्ञानिकता के साथ लोकप्रियता की एक नयी क्रांतिकारी चेतना का सृजन किया, जिसने सिर्फ दलितों में ही नहीं बल्कि अन्य जातियों के विचारशील लोगों में भी इस चेतना का प्रसार किया।'[7]

मराठी के चर्चित साहित्यकार दया पवार ने एक बेहद महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उनका कहना था, –लेखक यदि दार्शनिक नहीं होगा तो मनुष्य का सभी प्रकार से किया जाने वाला शोषण उसे दिखाई ही नहीं देगा। परंतु दर्शन अनुभूति के पीछे उस प्रकाश ज्योति की तरह होना चाहिए, जिसके कारण अनुभूति तथा अनुभूति के सारे आयाम उसे साफ दिखने चाहिए।'[8]

वे यह भी कहते हैं, 'मराठी लेखकों का व्यक्तित्व हिन्दू धर्म की मानसिकता से बना होने के कारण घटनाएं किस प्रकार घटित होती हैं, इसका दूर–दूर तक पता नहीं चलता। मनुष्य सृष्टि के, नियति के हाथ कठपुतली है, अपने जीवन में आने वाले संकटों या सुखों का कारण वह प्रारब्ध (भाग्य) को मानता है; यही दृष्टिकोण इसमें दिखाई देता है।'[9]

दलित कविता ने अपनी अंतःचेतना में बुद्ध के दार्शनिक विचारों और उनकी करुणा को कविता के माध्यम से समाज में पहुंचाने का काम किया है। आज समूची दुनियां आतंकवाद और युद्धोन्माद से

ग्रसित है। पूरी दुनिया में हथियारों की होड़ लगी है। पूरा विश्व धधकते अंगारों पर बैठा है। ऐसी विपरीत और मनुष्य विरोधी परिस्थितियों में हिन्दी दलित कविता बुद्ध के युद्ध विरोधी संदेश को लेकर आती है और करुणा और शांति का संदेश देती है।

क्यों खड़ी की तुमने
बारूद के ढेर पर हमारी दुनिया
मैं सावन को आंखों में भर कर
बहारों में झूलना चाहती हूं
शांति, ज्ञान, करुणा मेरा गहना
युद्ध, क्रूरता, घृणा तुम्हारा हथियार
हिरोशीमा की तड़प
मैं भूलना चाहती हूं।[10]

हिन्दी के सुपरिचत आलोचक मैनेजर पाण्डेय कहते हैं– 'दलित साहित्य के प्रसंग में अनुभव और दृष्टि का सवाल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है... वह आज की दलित कविता की एक मुख्य विशेषता है। मैनेजर पाण्डेय ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविता ''तुम्हारे रचे शब्द (जो पिछले अध्याय में उ़द्धृत की जा चुकी है) का विशेष उल्लेख करते हैं।[11] इस कविता में जो प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति है, वह दलित कविता को तार्किकता से जोड़ने में सफल रही है।

'वर्तमान जीवन एवं कला के समाज का सही विचार करना हो और अपने सरोकारों को अधिक अर्थपूर्ण बनाना हो तो मध्यवर्ग के बाहर के जीवन की विद्रुपता और विषमता को टालना आत्मघात होगा, इसका सशक्त भान दलित साहित्य ने करा दिया है। अपनी ही वृत्ति–प्रवृत्तियों को संजोते हुए बैठने की आत्मतुष्ट कोमल भाववृत्ति पर दलित साहित्य ने तीक्ष्ण खरोंचे पैदा कर, इस बात का तीव्र भान कराया कि इस भाव वृत्ति में सतत मग्न होना सामाजिक एवं

सांस्कृतिक अपराध है। बौद्धिक युक्तिवाद से या उदारमनवाद की चर्चा से पचास वर्षों में जो साध्य न होता, वह दलित साहित्य ने सिद्ध किया। साहित्य ने सही अर्थों में यथार्थोन्मुख जीवन विषयी समस्याओं का सामना करने के लिए कटिबद्ध किया। दलितों एवं उपेक्षितों की ओर केवल सहानुभूति से नहीं सक्रिय आंतरिक लगाव से देखना आवश्यक है : इसका तीव्र भान पैदा किया।[12]

दया पवार की एक बेहद महत्त्वपूर्ण कविता है 'लास एंजेल्स से तुमने लिखा' शीर्षक से जिसमें वे कहते हैं–

यहां स्टोर में
होटल और गलियों में
भारतीय और cuts एक ही छड़ी से
नापे जाते हैं
नीग्रो, ब्लैक
यह गाली है
जो मुझे देते हैं
'मेरे हृदय की गहराई में
अनेक बिच्छू रेंगने लगते हैं

यह पढ़कर, मुझे बेहद खुशी हुई
कम से कम अब तो आपको उसका
एहसास हुआ
जो हमने इस देश में
भोगा है पीढ़ी–दर–पीढ़ी।[13]

दलित कविता ने हजारों साल पुरानी मानसिक सोच को बदला है– जो नए समाज की विकास यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण कदम माना जाएगा। मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पू.ल. देशपांडे कहते हैं–

'मुझे जब दलित कविता, आत्मकथा या कथाओं से इस अनुभूति का दर्शन हुआ तब मैं 'समाज' शब्द को आज तक हम कितने संकुचित रूप में प्रयुक्त करते रहे हैं, इस एहसास से शर्मिंदा हुआ। अपने ही देश के एक व्यापक मनुष्य समाज का भयावह जीवन हमें तीव्रता से स्पर्श नहीं कर पाया, यह खेद मेरे मन में दलित साहित्य से ही उत्पन्न हुआ है। मैंने इसके पहले कई बार कहा है कि दलित साहित्य को लेकर मेरी निजी प्रतिक्रिया कृतज्ञता की है। ...राजनेता कई बार आम आदमी शब्द का उच्चार करते हैं। लेकिन यह आम आदमी क्या है, इसका मन को घायल करने वाला दर्शन दलित कविता साहित्य से होता है। विद्रोही कविता को सुलगती चिंगारी जैसे शब्द कौन सी वेदना से मिले है, इसका स्पष्ट चित्र आंखों के सामने मूर्त हुआ।'[14]

पू. ल. देशपांडे की यह आत्मस्वीकृति दलित साहित्य द्वारा शुरू किए गए आंदोलन के कारण ही संभव हो पायी है। यही दलित कविता की उपलब्धि है और यही उसका विकास पथ भी। बाबुराव बागुल ने दलित साहित्य की अंतःचेतना के बारे में कहा था– 'दलित साहित्य मनुष्य की स्वतंत्रता का गीत मुक्तकण्ठ से गाता है। यह साहित्य मनुष्य को महान मानता है और भगवान को मनुष्य से छोटा मानता है। मनुष्य अर्थात महाकाव्य। मनुष्य की भावना अर्थात महान ऋतु। मनुष्य ने ही यह विश्व सुंदर बनाया है। मनुष्य के हाथ ही प्रगति के रथ बनते हैं। मनुष्य के मेहनती हाथों से ही क्रांति जन्म लेती है। ऐसा हमारा विश्वास है। इस कारण यह युग हमें अपना लगता है क्योंकि इस युग ने मनुष्य को मुक्ति दिलाई है।'[15]

'मराठी दलित साहित्य ने भारतीय भाषाओं के दलित साहित्य को ऊर्जा दी है। दलित आंदोलनों को वैचारिक अधिष्ठान दिया। भारतीय साहित्य में अपने लिए एक अलग स्थान निर्माण किया। भारत और भारत के बाहर के लेखकों, प्रकाशकों और अध्ययनकर्ताओं का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। मराठी दलित साहित्य उनके लिए मॉडल बन गया। भारत के प्रगतिशील विचारधारा के लेखकों को

समविचारी मैत्री का नया अधिष्ठान दलित साहित्य के रूप में प्राप्त हो गया। भारतीय जीवन के शोषितों की वाणी को नया आयाम मिल गया। भारतीय दलितों में एकता और संघर्ष की चेतना स्थापित हो गई। दलित साहित्य के उदय से समाज के विविध स्तरों में भी साहित्यिक गतिविधियां तेज हो गईं। दलित साहित्य का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है।'[16]

भारतीय समाज व्यवस्था ने समाज के एक बड़े हिस्से को प्रताड़ित करके उसे नारकीय जीवन की ओर धकेलने का काम किया। हजारों साल की इस त्रासदी की अभिव्यक्ति जब फूट कर बाहर आई, तो वह आक्रोशमयी थी जिसे साहित्य के वर्चस्ववादी समूह ने नकारने की कोशिश की। लेकिन इस साहित्य ने सामाजिक जीवन में जिस चेतना का विकास किया उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। डॉ. प्रभाकर माँड़े कहते हैं– 'दलित साहित्य की निर्मिति सामाजिक परिवर्तन की दिशा का ही परिणाम है और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में उपयुक्त संवेदनात्मक मन की अभिव्यक्ति है।'[17]

हिन्दी दलित साहित्य का सौंदयशास्त्र मनुष्य की व्यापक मुक्ति का सौंदर्यशास्त्र है। दलित रचनाकारों की कविताएं, कहानियां, उपन्यास और आत्मा को कंपा देने वाली आत्मकथाएं 'मुक्ति की व्यापकता' का पक्ष लेती हैं। दलित साहित्य पढ़ते हुए ही पता चलता है कि शोषण के कितने स्तर होते हैं। दलित समुदाय सदियों से वर्ण–व्यवस्था के अंधेरे में जी रहा था। दलित विमर्श ने उन्हें स्वाभिमान का उजाला दिया है।[18]

संदर्भ

1. शरण कुमार लिम्बाले, *परिवर्तित संदर्भ और साहित्य के निकष,* समकालीन मराठी साहित्य गति–प्रगति, चंद्रकांत पाटील, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद अंक–71, 2006, पृष्ठ 397
2. डॉ सूर्यनारायण रणसूभे, *भूमिका, दलित कहानियां,* संपादक डॉ. सूर्यनारायण रणसूभे एवं क.ह. गंगावणे

3. लोकनाथ यशवंत, *आणि शेवटी काय झाले,* कविता–संग्रह, भूमिका, पृष्ठ 10
4. वही
5. रजनी तिलक, *अन्यथा,* जून, 2008 पृष्ठ 176
6. पूनम तुसामड, *बयान,* अंक–जनवरी, 2009, पृष्ठ 27
7. यु.बी. भोयते, भूमिका, *दलित वूमन इन इण्डिया, इश्यू एण्ड पर्सपैक्टिव,* संपादक, पी.जी. जोगदंद, ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 7
8. दया पवार, 'अस्मितादर्श', लेखक–पाठक सम्मेलन, सोलापुर, 1983, *दलित साहित्यः वेदना और विद्रोह,* संपादक, शरण कुमार लिम्बाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 122
9. वही
10. रजनी तिलक, 'बुद्ध चाहिए, युद्ध नहीं' *पदचाप,* (संग्रह),, सेंटर फार आल्टरनेटिव दलित मीडिया (कदम) दिल्ली, 2000 पृष्ठ 40
11. मैनेजर पांडेय, 'हिन्दी में दलित लेखन' *वसुधा,* भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य, संपादक, पुन्नी सिंह, कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ 322–323
12. चन्द्रकांत बांदीवडेकर , *दलित साहित्य एक दृष्टि–मराठी साहित्य :परिदृश्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ 196
13. दया पवार, *कोडंवाड़ा* (कविता–संग्रह)
14. पू.ल. देशपांडे, *शब्द जब हथियार बनते हैं* , दलित साहित्य सम्मेलन, चंद्रपुर, 1989, में दिए गए भाषण का एक अंश, *दलित साहित्य, वेदना और विद्रोह,* पृष्ठ 101
15. बाबू राव बागुल, *' यहां जिन्हें विद्रोह करना चाहिए था नहीं किया, दलित साहित्य :वेदना और विद्रोह,* पृष्ठ 147
16. शरण कुमार लिम्बाले, *परिवर्तित संदर्भ और साहित्य के निकष,* समकालीन मराठी साहित्य गति–प्रगति, पृष्ठ 493
17. प्रभाकर माँड़े, *दलित साहित्याचे निरालेपण,* धारा प्रकाशन, औरंगाबाद,1979, पृष्ठ 64
18. जितेन्द्र श्रीवास्तव, *नए विमर्श और समकालीन कविता,* किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 28

अध्याय आठ

दलित कविता का दलित आंदोलन पर प्रभाव

दलित कविता का जन्म भारतीय समाज व्यवस्था द्वारा एक बड़े समूह पर थोपी गई सामाजिक प्रवंचनाओं, अस्पृश्यता, मौलिक अधिकारों पर लगाए गए प्रतिबंध , मानवीय चेतना का हनन आदि से विरोध स्वरूप हुआ है। एक लंबे कालखण्ड ने इन अवास्तविकताओं, प्रवंचनाओं को ऐसा रूप दे दिया था कि वे प्रतिबंध स्वाभाविक रूप ले चुके थे। लेकिन डॉ. अम्बेडकर के प्रार्दुभाव और राजनीतिक प्ररिदृश्य में प्रभावी भूमिका के तहत, दलितों के भीतर यह एहसास जागा कि वे अब और ज्यादा समय तक धार्मिक और सामाजिक दासता वहन नहीं करेंगे। इससे मुक्ति की तड़प उनके मन में जागी और इसी वेदना से दलित कविता के रूप में उनकी अभिव्यक्ति साहित्यिक रूप ले कर सामने आई। डॉ. अम्बेडकर का मुक्ति–संघर्ष उनके लिए प्रेरणा स्त्रोत बना। दलितों की पहली पीढ़ी जिसने पहली बार शिक्षा संस्थानों में लंबी जद्दोजहद के बाद प्रवेश किया था और डॉ. अम्बेडकर के जीवन–संघर्ष उनकी विचारधारा को आत्मसात करके सामने आई थी, इसने प्रखरता के साथ दलित कविता के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति को जनमानस तक पहुंचाया था। दलित साहित्य जिसका प्रारंभ कविता से हुआ था और दलित आंदोलन एक दूसरे के पूरक बन कर उभरे। महाराष्ट्र में 'दलित पैंथर' ने मोर्चा संभाला, जिसमें नामदेव ढसाल, राजा ढाले जैसे गंभीर चिंतकों ने दलित अस्मिता का सवाल उठाया और कविता को प्रभावशाली ढंग से सामने रख कर आम जनता को आंदोलित किया। दलित पैंथर में जो सक्रिय नेतृत्व था, कार्यकर्ता थे, वे ज्यादातर

साहित्य से जुड़े प्रबुद्ध लोग थे और कविता उनके लिए जनता से जुड़ने का एक माध्यम बनी थी।

मराठी में 'अस्मिता' पत्रिका अहम मानी जाती है। यह पत्रिका दलित कवियों के लिए एक प्रभावशाली मंच बन गयी थी जिसने दलित समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक उपलब्धियों को प्रस्तुत कर ऐतिहासिक काम किया था। दलित की तहस–नहस कर दी गई, सामाजिक प्रतिष्ठा, उनका स्वाभिमान, अस्मिता और उनके अधिकारों को गंभीरता से लड़ा था जिसमें दलित कवि, लेखक, रंगकर्मी, विचारक गंभीरता से शामिल हुए थे। यह साहित्य के इतिहास में अपने ढंग का एक विशिष्ट और गंभीर परिणाम देने वाला आयाम था।

दलित साहित्य के आलोचकों ने भले ही दलित कविता का विरोध किया, लेकिन दलित कविता ने अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को और अधिक सुदृढ़ किया, और प्रखरता के साथ अपनी भूमिका की संवेदनशीलता बनाए रखी।

इसी तरह हिन्दी दलित कवि मोहनदास नैमिशराय भी 'शब्द' शीर्षक कविता में शब्द की ताकत को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं–

शब्द चोट करते हैं
जैसे दलित से हरिजन
और हरिजन से दलित

शब्दों के प्रतीक पुरुष होते हैं
जैसे अम्बेडकर से गांधी
और गांधी से अम्बेडकर

दलितों के सीने जब
छलनी होते हैं

शब्द उभरते हैं
शब्द बनते हैं धारदार
जहर बुझे चाकू की तरह

शब्द ही तो थे
जे मनुस्मृति में लिखे गए।[5]

मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के नामांतर आंदोलन ने दलितों की एक पूरी पीढ़ी की ऊर्जा और प्रतिभा को समाप्त कर दिया। जो शक्ति और प्रतिभा दलित सांस्कृतिक विकास और शैक्षणिक विकास में लगनी थी, वह नामांतर आंदोलन में खप गयी। लोकनाथ यशवंत की 'वास्तव' शीर्षक कविता इस वेदना को बहुत ही गंभीरता से उठाती है–

मराठवाडा विद्यापीठाला डा. आम्बेडकरांच्या
नावाची मागणी उठताच
शिळया कढ़ी ला ऊत
सगळे जात्यंध कामाला

'मोर्चे अडवा, मोर्चे जिरवा' पोलिसांचा कर्तव्यदक्ष कार्यक्रम
दलितांची एक सम्पूर्ण पिढीच नेस्तानाबूच

नागपूर विद्यापीठाला तुकडोजीचे नाव
मागणी नसताना नांदेडला
रामानंद तीर्थ विद्यापीठ
सगळे कसे शांत शांत कसे आनंदी आनंद गडे
कुठे 'हूं' नाहीं, की 'चूं' नाहीं

आपले तर कधी कुणाला उणाला विरोधच नव्हता

पण, असे असते गडया
तू बारीक–सारीक गोष्टी समजत जा।[6]

(मराठवाडा विद्यापीठ का डॉ. अम्बेडकर
नाम देने की मांग उठते ही
बासी कढ़ी में उबाल आ गया
सारे जातिवादी काम पर लग गए।

'मोर्चा रोको, मोर्चा भगाओ' पुलिस के कर्तव्य दक्ष कार्यक्रम शुरू
दलितों की एक सम्पूर्ण पीढ़ी नेस्तानाबूद।

नागपुर विद्यापीठ को तुकडोजी का नाम
मांग न होने पर भी नांदेड को
रामानंद तीर्थ विद्यापीठ
कैसे सब शांति–शांति से,
हुआ सब कैसे खुशी–खुशी
कहीं 'हूं' नहीं, कहीं 'चूं' नहीं

अपना कभी किसी से नहीं था विरोध
लेकिन, ऐसा होता है यार

तू बारीक–सारीक बातें समझता जा।)

दलित आंदोलन की जो सक्रियता दलित के उद्‌भव के साथ शुरू हुई उसने इस आंदोलन को अग्रिम पंक्ति का आंदोलन बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इमानुल वैलेन्स्टीन का मानना है– 'दलित और गैर–ब्राह्मण जाति विरोधी आंदोलनों को व्यवस्था–विरोधी आंदोलनों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। यदि प्रकार्यात्मक समाजशास्त्रीय

सिद्धांत की भाषा में कहें, तो बजाए इसके कि इन्हें मानक संबंधी आंदोलन कहें, इन्हें मूल्य संबंधी आंदोलन कहना उचित होगा।'[7]

'इसका अर्थ यह भी है कि इन आंदोलनों का प्रयास भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मूल संरचना को रूपांतरित करना है। इन आंदोलनों का प्रयास था कि जाति और उसके साथ जुड़े हुए सामाजिक दमन, आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक प्रभुत्व को समाप्त कर उसके स्थान पर एक समतावादी समाज स्थापित किया जाए। भारतीय समाज में अन्य सामाजिक आंदोलनों की तरह सुधारवादी प्रवृत्तियां भी इनमें मौजूद थी। दलित आंदोलनों में ये प्रवृत्तियां कांग्रेस के जगजीवन राम, हिन्दू महासभा के दलित जैसे एम. सीम्राजा और जी.ए. गवई द्वारा प्रस्तावित की गई थी। गैर–ब्राह्मण आंदोलनों में जस्टिस पार्टी और बम्बई प्रेसीडेंसी की गैर–ब्राह्मण पार्टी उन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करा रही थी। ये प्रवृत्तियां रूढ़िवादी थी तथा इनकी तुलना में सत्यशोधक समाज और आत्मसम्मान आंदोलन अधिक आमूल परिवर्तनवादी थे। सुधारवादी प्रवृत्तियां भी गांधी के हरिजन आंदोलन में देखी जा सकती थीं, जो ऊंची जातियों के समाज सुधार परंपराओं की थी। ये प्रवृत्तियां हिन्दू धर्म की अशुद्धता को साफ करना चाहती थी। और यदि महादेव गोविंद रानाडे के शब्दों को देखें तो यह किसी पेड़ की बीमार शाखाओं को काटने का प्रयास था, जिससे वह पेड़ अच्छी तरह से पनप सके।'[8]

'समाज और जीवन का निकट संबंध है। साहित्य जीवन का अंग है। अंततः साहित्य समाज से अलग नहीं रह सकता। अच्छी साहित्यिक रचनाएं आशय और अभिव्यक्ति इन दोनों से अलग हो नहीं सकती। साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण करते समय सुविधा के लिए ऐसे भेद किए जाते हैं। यह जीवनावलोकन जितना अधिक प्रामाणिक, उत्कट एवं सामर्थ्यवान होगा, उतना ही वह अपने आप में कलारूप को धारण करेगा। समाज–मन को संस्कारित करने का बहुत बड़ा सामर्थ्य साहित्य में होता है।[9]

क्रांति के लिए साहित्य प्रेरणा बन सकता है। इसमें संबंधित विश्व इतिहास में दो घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है–

1. 10 मई 1774 से 5 अक्तूबर 1791 के बीच घटित फ्रांस की राज्य क्रांति में रूसो, वाल्टेयर के साहित्य का बहुत बड़ा योगदान रहा है। उनके द्वारा की गई नव–समाज क्रांति निर्माण में से उत्पन्न स्वतंत्रता, समता और बंधुता, इन तत्वों को आगे चलकर समग्र मानव समुदाय ने स्वीकार किया। हमारा प्रजातंत्र इन्हीं तत्वों पर आधारित है।
2. अक्तूबर, 1917 को रूस में घटित क्रांति को विश्व विख्यात साहित्यकारों टाल्सटाय, मैक्सिम गोर्की, दोस्तोयवस्की के क्रांतिकारी विचारों ने ही जन्म दिया था। क्रांति के बाद भी मायकोवस्की तथा लाक आदि के साहित्य ने स्थिर बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।[10]

इन उद्धरणों से यह संकेत मिलते हैं कि साहित्य किसी भी आंदोलन को प्रभावित कर उसे ऊर्जावान बनाता है। साथ ही दिशा भी देता है। दलित आंदोलन में दलित साहित्य की भूमिका भी इसीलिए महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं।

दलित पैंथर का गठन 1970 में हुआ था, जिससे जुड़े तमाम लोग साहित्य के बड़े कवि लेखक थे – नामदेव ढसाल, अर्जुन डांगले, राजा ढाले, वामन निम्बालकर आदि जिनकी कविताओं और रचनाओं ने दलित आंदोलन को एक जुझारूपन देकर उसे सामाजिक परिवर्तन के रूप में आगे बढ़ाया था।

जब कोई आंदोलन आगे बढ़ रहा होता है तो उसे अपने मित्रों और दुश्मनों की पहचान कर लेनी चाहिए। बाबूराव बागुल ने महाड में अपने भाषण में कहा था– 'मार्क्सवादियों और समाजवादियों को अपना शत्रु दिखाई देता है। अनेक राजनीतिक दलों को अपना शत्रु दिखाई देता है। लेकिन हमारा शत्रु अदृश्य है। वह ग्रंथों में है, भाषा

में है, शब्दों में है, विचारों में है। वह मन में है। ऐसे प्रचंड और सर्वव्यापी होते हुए भी अदृश्य शत्रु के साथ हमारा युद्ध शुरू हो चुका है।'[11]

हिन्दी दलित कवि असंगघोष की कविता दलित आंदोलन के आक्रोश की तीखी अभिव्यक्ति बनकर आती है।

हम तोड़ देंगे पाल
बहा देंगे
सारा का सारा पानी
तुम्हारे खेतों में
खलिहानों में
मकानों और
तुम्हारे दकियानुसी विचारों में
तुम्हें नेस्तनाबूद करने के लिए।[12]

'व्यापक साहित्यिक आंदोलन सामाजिक परिवर्तनों से प्रेरित होते हैं, और साहित्य के विकास की दिशा को प्रभावित करते हैं'।[13]

शिव कुमार मिश्र मानते हैं कि 'आंदोलन के तात्कालिक कारण जो भी हों, एक बार असंतोष का दावानल क्रांति और विद्रोह के रूप में भभक उठा, जो न केवल उसके जनाधार को व्यापक और विशद करते हैं, उसके चरित्र को भी गुणात्मक रूप में बदल देते है'।[14]

दलित साहित्य आंदोलन का जो रूप आज हम देख रहे हैं, उसे वह रूप डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति–संघर्ष से मिला है। लेकिन उसके पार्श्व में ज्योतिबा फुले, पेरियार, मंगूराम, अछूतानंद आदि की भूमिकाएं पृष्ठभूमि के तौर पर साथ में जुड़े और उसे व्यापकता मिली।

यहां यह उल्लेख करना भी जरूरी लगता है कि विचारधारा के बिना आंदोलन की कल्पना कठिन है। विचारधारा अटूट प्रतिबद्धता की मांग करती है। प्रायः प्रत्येक साहित्यिक आंदोलन में विचारधाराओं का

टकराव होता है। अनेक विरोधी प्रवृत्तियों से संघर्ष करता हुआ ही एक आंदोलन धीरे–धीरे स्थापित होता है। दलित साहित्य एक राष्ट्रीय आंदोलन है, जो भाषाओं की सीमा तोड़कर भारतीय स्वरूप ग्रहण कर चुका है और साथ ही अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने में सफल रहा है।

दलित साहित्य मुक्ति–संघर्ष का एक सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक आयाम सिद्ध हुआ है और इसका प्रभाव सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर व्यापक रूप से पड़ा है। इसी प्रभाव के अंतर्गत दलित समाज के जीवन यथार्थ पर केन्द्रित बहुत–सा साहित्य हिन्दी और मराठी नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी लक्षित किया जा सकता है जिसके कारण समाज बदलाव की प्रक्रिया की संभावनाएं प्रबल होंगी।

विवेक कुमार अपने लेख 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र' में जोतिबा फुले के संदर्भ से कहते हैं– 'क्या किसी ब्राह्मण ने खेतों में जाकर खुद खाद डालकर कभी अन्न पैदा किया है? हमें लगता है, अन्न ही नहीं, पूछना चाहिए कि तथाकथित उच्चवर्ण के सदस्यों ने इस समाज के लिए अपने हाथों से किसी वस्तु का निर्माण किया है? हमें विश्वास है कि उत्तर नकारात्मक होगा। अतः जब तथाकथित सवर्णों ने इस समाज में अपने श्रम एवं अपने हाथ से कुछ पैदा नहीं किया। (दिमागी श्रम, श्रम नहीं माना चाहिए) तब उनके लेखन में कल्पनाशीलता ही होगी। यथार्थ का बोध कम। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतिक ज्ञान, अंधकार, कलात्मकता, तकनीक आदि तो दलितों की पूंजी हुई। इसी आधार पर दलित लेखक आसानी से योगी माने जाते। दलितों की उपर्युक्त स्थापित भूमिका एवं स्थिति को अपने दृष्टिकोण तथा वर्तमान कालखण्ड के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित एवं परिभाषित करना ही दलित लेखन का मुख्य कार्य है। इस विशाल प्रकार्य को करने हेतु दलितों को अपने ज्ञान, विज्ञान, श्रम और परिश्रम, कलात्मकता, कल्पनाशीलता, आविष्कार,

शोध आदि को पुनः स्थापित करना है। इस प्रक्रिया में जहां दलित साहित्य को दलित समाज के सदस्यों की सकारात्मक छवि को चिन्हित कर प्रचारित करना है, वहीं उसे तथाकथित सवर्ण समाज के सदस्यों की नकारात्मक छवि को, उनका वास्तविक चेहरा भी दिखाना है। दलित समाज की सकारात्मक छवि को स्थापित करने हेतु एक दलित कविता देखिए–

एक दिन पीड़ा से कहारती उनकी माँ को जब
किया था स्पर्श
और काटी थी उनकी नाल
डालकर उनके मुहं में अपनी उंगली जब साफ की थी उनकी राल
तब पैदा हुआ था वह सवर्ण, किसी ब्राह्मण
क्षत्रिय या वैश्य के घर

धन्य है दलित की बेटी तेरी यह कला
पर अफसोस अभी तक उन्होंने इस पर
कोई उपन्यास नहीं लिखा।[15]

'आज के दलित की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि गैर दलितों को दलित पीड़ा का एहसास कराने में सफल हुआ है। दलित पीड़ा को उसने इतना यथार्थवादी बना दिया है कि उसमें अलग–अलग जातियों की पीड़ा भी अलग–अलग दिखाई देने लगी है। ब्राह्मणवाद का जो कुसंस्कार दलितों में जड़ जमा चुका है या जमा रहा है, उसको भी अनावृत करने में आज के दलित साहित्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।'[16]

इसी संदर्भ में चन्द्रकान्त बांदिवडेकर की यह मान्यता भी ध्यान आकर्षित करती है। वे कहते हैं – 'मराठी दलित साहित्य के कारण

समूचे मराठी साहित्य को एक प्रचण्ड धक्का मिल गया है। मराठी अभिजात्य साहित्य के लिए यह धक्का अधिक गहरा आघात दिलाने वाला सिद्ध हुआ है। परिणामतः अनेक विचारकों और आलोचकों ने अपनी सम्मतियों में संशोधन की आवश्यकता महसूस की है। मेरी नजरों में दलित साहित्य की श्रेष्ठता और महत्ता वैयक्तिक दलित कृतियों की अपेक्षा अपने सामूहिक रूप में दलित साहित्य ने मराठी साहित्य में जो वैचारिक और प्रेरणात्मक हलचल मचाई और जो तरंग साहित्य सागर को प्रभावित कर गई, उसमें है। दलित साहित्य यदि संगठित प्रयत्न न करता, अपनी अस्मिता के दर्शन न करता और अपनी क्षमताओं को न पहचानता तो मराठी साहित्य की अभिजात्य संस्कृति की परंपराओं ने इक्के–दुक्के दलित लेखक को और दलित रचना को अपने महोदर में कब का पचा लिया होता। दलित साहित्य ने निश्चयात्मक रूप से मराठी साहित्य परंपराओं से विच्छेद की एकांतिक भूमिका से अपना काम शुरू किया था। ...सिंहावलोकन के उपरांत अंकित जीवनानुभवों की दाहकता असाधारण है और सुशिक्षा की सजगता ने उसे अधिक दाहक बनाया है। भारतीय जाति–व्यवस्था में उन अनुभवों के अंगारे अभी शीतलता की तलाश में, अपने धारदार कोणों की कोमलता दिलाने वालों की उन्हें प्रतीक्षा है।[17]

संदर्भ

1. प्रो. मोईन शाकिर, *परिवर्तन,* अंक –2, 1974, मराठवाड़ा विद्यापीठ, औरंगाबाद
2. सदा कन्हाडे, ''मार्क्सवाद और दलित साहित्य'',*भारतीय दलित साहित्यः परिप्रेक्ष्य,* संपादक, पुन्नी सिंह, कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ 51–5
3. प्रदीप तिवारी, बौद्धिक संकल्प व तीव्र आवेग,*जनपथ,* अंक–10, 2005, आरा, बिहार, संपादक, अनंत कुमार सिंह, पृष्ठ 30
4. चन्द्रकांत बांदीवडेकर , *स्वातंत्र्योत्तर मराठी साहित्यिक आंदोलन के मूल स्त्रोत, मराठी साहित्यः परिदृश्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृष्ठ 192

5. मोहनदास नैमिशराय, *शब्द, आग और आंदोलन,* भारतीय बौद्ध महासभा, नई दिल्ली, 2000
6. लोकनाथ यशवंत, *वास्तव, पुन्हा चाल करू या ...,* कविता संग्रह, पृष्ठ 58, यंग इंडिया पब्लिकेशन, दादर, मुम्बई, 2009
7. इमानुल वैलेन्सटीन, ''द राइज एण्ड फ्यूचर, डिमाइज आफ वर्ल्ड कैपिटलिस्ट सिस्टम : कंसेप्टस फॉर कम्परेटिव एनेलिसिस''। *कम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसायटी एण्ड हिस्ट्री,* सितंबर, 1974
8. गेल ओमवेट, दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति, *उपनिवेशीय भारत में डॉ. अम्बेडकर एवं दलित आंदोलन,* सेज, पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 2 में उद्धत
9. म.ना. वानखेडे, ''साहित्यकारों को विद्रोही बनना होगा'', बौद्ध साहित्य सम्मेलन, भुसावल, 1967, भाषण संकलन, *दलित साहित्यः वेदना और विद्रोह,* संपादक, शरण कुमार लिम्बाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2010, पृष्ठ 119
10. *दलित साहित्य; एक अभ्यास,* संपादक, अर्जुन डांगले, महाराष्ट्र राज्य साहित्य–संस्कृति मंडल मुंबई, 1978, पृष्ठ 89
11. वही, पृष्ठ 120
12. असंगघोष, कंदील, *खामोश नहीं हूं मैं, तीसरा प्रकाशन, जबलपुर, 2001,* पृष्ठ 88
13. मैनेजर पांडेय, *साहित्य इतिहास दृष्टि,* पृष्ठ 208
14. शिव कुमार मिश्र, *नयापथ,* मई, 2007, पृष्ठ 171
15. *विवेक कुमार,* ''दलित साहित्य का समाजशास्त्र'',*साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र,* संपादक, देवेन्द्र चौबे, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 162
16. कंवल भारती, *दलित साहित्य की अवधारणा,* बोधिसत्व, प्रकाशन, रामपुर, 2006, पृष्ठ 137
17. चन्द्रकांत बांदिवडेकर, *स्वातंत्र्योत्तर मराठी साहित्यिक आंदोलन के मूल स्त्रोत, मराठी साहित्य : परिदृश्य, पृष्ठ 197*

निष्कर्ष

कंवल भारती के अनुसार दलित कविता का सर्जनात्मक मूल स्वतंत्रता, समता और बंधुता की अवधारणा को प्रवाहित करना है। उसकी विरोध की नहीं, मैत्री की चेतना है। मानवतावाद और लोकतांत्रिक मूल्य उसके सर्वोच्च प्रतिमान हैं। उसकी प्रतिबद्धता डॉ. अम्बेडकर के चिंतन के प्रति होने के कारण उनका समग्र चिंतन क्षेत्र दलित कविता का चिंतन क्षेत्र है। उसमें पीड़ा चीखती ही नहीं है, बल्कि अन्याय और अत्याचार के खिलाफ मानस विद्रोही बनाती है। वह यथार्थ में दलित मानस का महाकाव्य है।[1]

यदि कमलेश्वर के शब्दों में कहें, तो वे कहते हैं कि साहित्य का चेहरा विकृत हो गया है। हम कहते हैं कि मनुष्य का चेहरा विकृत हो रहा है। वे साहित्य को सुंदर बनाने के इच्छुक और हम मनुष्य को सुंदर बनाने के इच्छुक हैं; वे शाश्वत सत्य को लेकर आते हैं, हम नश्वर मनुष्यों के सपनों को लेकर आते हैं। वे अपने स्वार्थ के लिए शाश्वत को नश्वर बनाते हैं और हम नश्वर अनुभवों को शाश्वत बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं, सूर्य शाश्वत है, हम कहते हैं, सूर्य शाश्वत होगा, परंतु रात्रि में जब सूर्य नहीं होता, तब प्रकाश के लिए दीप जलाते हैं। सूर्य के अस्त होने के कारण अंधकार होगा, और यह मानकर हम अंधकार में बैठे रहें, पर हम इस तरह के अंधकार में बैठने से इन्कार करते हैं, क्योंकि मनुष्य अंधकार में बैठा नहीं रह सकता। हम सूर्य की अनुपस्थिति में प्रकाश पैदा कर सकते हैं। फिर जब सूर्य उगेगा तब केवल इनका या उनका ही नहीं होगा। साहित्य का वह सूर्य सबका होगा।[2]

सामंती व्यवस्था में संस्कारित साहित्यकार साहित्य को समाज

से ऊपर अलग दर्जा देकर स्वंय को समाज में अलग और ऊपर होने का अहम भाव पाल कर कल्पना में जीता है। कोई विशिष्ट व्यक्ति वह नहीं होता है। वह अपने अस्तित्व के लिए पग–पग पर समाज के ऊपर निर्भर करता है। समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता, दलित साहित्य की मूल भावना यही है। इसलिए यह सामाजिक प्रतिबद्धता का साहित्य है।

मनुष्य की स्वतंत्रता की भावना और उसकी अभिव्यक्ति हिन्दी और मराठी दलित कविता की प्राथमिकता में है। इसीलिए मानव मुक्ति के सभी रूपों और अंतरंगों के दर्शन हिन्दी और मराठी दलित कविता में तीव्रता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। समकालीन दलित कविता ने अपना एक विशिष्ट मुकाम हासिल किया है। जिसे देख कर कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्यिक परिदृश्य में दलित कविता ने अपनी उपस्थिति दर्ज करके सामाजिक संवेदना में बदलाव की प्रक्रिया तेज की है। दलित कविता के इस स्वरूप ने निश्चित ही भारतीय मानस की सोच को बदला है।

दलित कविता आनंद या रसास्वादन की चीज नहीं है। बल्कि कविता के माध्यम से मानवीय पक्षों को उजागर करते हुए मनुष्यता के सरोकारों और मनुष्यता के पक्ष में खड़ा होना है। मनुष्य और प्रकृति, भाषा और संवेदना का गहरा रिश्ता है, जिसे दलित कविता ने अपने सरोकारों के साथ जोड़ा है।

दलित कविता ने अपनी एक विकास–यात्रा तय की है जिसमें वैचारिकता, जीवन–संघर्ष, विद्रोह, आक्रोश, नकार, प्रेम, सांस्कृतिक छद्म, राजनीतिक प्रपंच, वर्ण–द्वेष, जाति के सवाल, साहित्यिक छल आदि, विषय बार–बार दस्तक देते हैं जो दलित कविता की विकास यात्रा के विभिन्न पड़ाव से होकर गुजरते हैं और दलित आंदोलन को प्रभावित करते हुए एक अच्छी प्रतिबद्धता सिद्ध करती है।

दलित कविता के मूल में मनुष्य होता है, तो वह उत्पीड़न और असमानता के प्रति अपना विरोध करेगा ही। जिसमें आक्रोश आना

स्वाभाविक परिणिति है जो दलित कवि की अभिव्यक्ति को यथार्थ के निकट ले जाती है। उसके अपने अंतर्विरोध भी हैं जो कविता में छिपते नहीं है, बल्कि स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होते हैं। दलित कविता का जो प्रभाव और उसकी उत्पत्ति है जो आज भी जीवन पर लगातार आक्रमण कर रही है। इसीलिए कहा जाता है कि दलित कविता मानवीय मूल्यों और मनुष्य की अस्मिता के साथ खड़ी है।

जिस विषमतामूलक समाज में एक दलित संघर्षरत है, वहां मनुष्य की मनुष्यता की बात करना अकल्पनीय लगता है। इसीलिए सामाजिकता में समता भाव को मानवीय पक्ष में परिवर्तित करना दलित कविता की आंतरिक अनुभूति है जिसे अभिव्यक्त करने में गहन वेदना से गुजरना पड़ता है। भारतीय जीवन का सांस्कृतिक पक्ष दलित को उसके भीतर हीनता बोध पैदा कराते रहने में ही अपना श्रेष्ठत्व पाता है। लेकिन एक दलित के लिए यह श्रेष्ठत्व दासता और गुलामी का प्रतीक है। जिसके लिए हर पल दलित को अपने 'स्व' की ही नहीं समूचे दलित समाज की पीड़ादायक स्थितियों से गुजरना पड़ता है।

साहित्य आलोचक कविता को जिस रूप में ग्रहण करें और साहित्यिक मापदण्डों से उसकी व्याख्या करें, लेकिन दलित जीवन की त्रासद स्थितियां उसे संस्पर्श किए बगैर ही निकल जाती है। इसीलिए वह आलोचक अपनी बौद्धिकता के छद्म में दलित कविता पर कुछ ऐसे आरोपण करता है कि दलित कविता में भटकाव की गुंजाईश बनाने की स्थितियां उत्पन्न होने की संभावनाएं दिखाई देने लगती है। इसीलिए दलित कविता को डॉ. अम्बेडकर के जीवन–दर्शन, अतीत की भयावहता, और बुद्ध के मानवीय दर्शन को हर पल सामने रखने की जरूरत पड़ती है। जिसके बगैर दलित कविता का सामाजिक पक्ष कमजोर पड़ने लगता है।

समाज में रचा–बसा 'विद्वेष' रूप बदल–बदल कर झांसा देता है। दलित कवि के सामने ऐसी भयावह स्थितियां निर्मित करने के अनेक प्रमाण हर रोज सामने आते हैं जिनके बीच अपना रास्ता ढूंढ़ना

आसान नहीं होता है। सभ्यता, संस्कृति के घिनौने षड़यंत्र लुभावने शब्दों में भरमाने का काम करते है जहां नैतिकता, अनैतिकता और जीवन मूल्यों के बीच फर्क करना मुश्किल हो जाता है। फिर भी नाउम्मीदी नहीं है। एक दलित कवि की यही कोशिश होती है कि इस भयावह त्रासदी से मनुष्य को स्वंतत्र होकर प्रेम और भाईचारे की ओर कदम बढ़ाए जिसका अभाव हजारों साल से साहित्य और समाज में दिखाई देता है।

दलित कविता निजता से ज्यादा सामाजिकता को महत्त्व देती है। इसीलिए दलित कविता का समूचा संघर्ष और उसकी चेतना की आंच पर तपकर पारंपरिक मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह और नकार के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही उसका केन्द्रीय भाव भी है जो आक्रोश के रूप में दिखाई देता है। क्योंकि दलित कविता की निजता जब सामाजिकता में परिवर्तित होती है, तो उसके आंतरिक और बाह्य द्वंद उसे संश्लिष्टता प्रदान करते हैं। यहां यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दी आलोचक अपने इर्द–गिर्द रचे–बसे सांस्कारिक मापदंडों, जिसे वह सौंदर्यबोध कहता है, से इतर देखने का अभ्यस्त नहीं है। इसीलिए उसे दलित कविता कभी अपरिपक्व लगती है, तो कभी सपाट बयानी, कभी बचकानी भी। दलित कविता की अंतःधारा और उसकी वस्तुनिष्ठता को पकड़ने की कोशिश नहीं करना चाहता है। यह कार्य उसे ऊबाऊ लगता है। इसीलिए वह दलित कविता से टकराने के बजाए बच कर निकल जाने में ही अपनी पूरी शक्ति लगा देता है।

दलित चेतना दलित कविता को एक अलग और विशिष्ट आयाम देती है। यह चेतना उसे डॉ. अम्बेडकर जीवन–दर्शन और जीवन–संघर्ष से मिली है। यह एक मानसिक प्रक्रिया है जो इर्द–गिर्द फैले सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक छद्मों से सावधान करती है। यह चेतना संघर्षरत दलित जीवन के उस अंधेरे से बाहर आने की चेतना है जो हजारों साल से दलित को मनुष्य होने से दूर

कराते रहने में ही अपनी श्रेष्ठता मानता रहा है। इसीलिए एक दलित कवि की चेतना और एक तथाकथित उच्चवर्णीय कवि की चेतना में गहरा अंतर दिखाई देता है। सामाजिक जीवन में घटित होने वाली प्रत्येक घटना से मनुष्य प्रभावित होता है। वहीं से उसके संस्कार जन्म लेते हैं। और उसकी वैचारिकता, दार्शनिकता, सामाजिकता, साहित्यिक समझ प्रभावित होती है। कोई भी व्यक्ति अपने परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। इसीलिए कवि की सामाजिक चेतना का प्रतिबिंब बन कर उभरती है जो उसकी कविताओं में मूर्त रूप से प्रकट होती है। इसीलिए दलित जीवन पर लिखी गई रचनाएं जब एक दलित लिखता है, एक गैर दलित लिखता है, तो दोनों की सामाजिक चेतना की भिन्नता साफ–साफ दिखाई देती है जिसे अनदेखा करना आलोचकों की विवशता है। यह जरूरी हो जाता है कि दलित कविता को पढ़ते समय दलित जीवन की उन विसंगतियों, प्रताड़नाओं, भेदभाव, असमानताओं को ध्यान में रखा जाए। तभी दलित कविता के साथ साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न होगी।

साहित्य के कुछ विद्वानों, आलोचकों को लगता है कि दलित का जीवन बदल चुका है। लेकिन दलित कवि और साहित्यकार अभी अतीत का रोना रो रहे हैं और उनकी अभिव्यक्ति आज भी वहीं फुले, अम्बेडकर, पेरियार के समय में अटकी हुई है। यह एक अजीब तरह का आरोप है। आज भी दलित उसी पुरातनपंथी जीवन को भोग रहा है जो अतीत ने उसे दिया था। हां चंद लोग जो गांव छोड़कर शहरों और महानगरों में आए हैं उन्हें देख कर ही विद्वानों ने अपनी राय बनाई है। लेकिन वास्तविकता इससे कोसों दूर है। महानगरों में रहने वालों की भी वास्तविक स्थिति वैसी नहीं है, जैसी दिखाई दे रही है। यदि स्थितियां बदली होती तो दलितों को अपनी आइडेंटिटी छिपा कर महानगरों की आवासीय कॉलोनियों में क्यों रहना पड़ता। वे भी दूसरों की तरह स्वाभिमान से जीते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। समाज उन्हें मान्यता देने के लिए आज भी तैयार नहीं है।

शहरों और महानगरों से बाहर ग्रामीण क्षेत्रों में दिन–रात खेतों, खलिहानों, कारखानों में पसीना बहाता दलित जब थका–मांदा घर लौटता है, तो उसके पास जो है, वह इतना कम है कि वह अपने पास क्या जोड़े और क्या घटाए की स्थिति में होता है। ऊपर से सामाजिक विद्वेष उसकी रही सही उम्मीदों पर पानी फेर देता है। इसीलिए अभावग्रस्त जीवन से उपजी विकलताएं, जिजीविषाएं दलित कवि की चेतना को संघर्ष के लिए उत्प्रेरित करती है, जो उसकी कविता का स्थाई भाव बनकर उभरता है। और दलित कविता में दलित जीवन और उसकी विशेषताएं बार–बार आती हैं। इसीलिए कवि का 'मैं' 'हम' बनकर अपनी व्यक्तिगत, निजी चेतना को सामाजिक चेतना में बदल देता है। साथ ही मानवीय मूल्यों को गहन अनुभूति के साथ शब्दों में ढालने की प्रवृत्ति भी उसकी पहचान बनती है।

हिन्दी और मराठी के तुलनात्मक अध्ययन से जो निष्कर्ष सामने आते हैं– उसमें सबसे विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है कि दलित कविता में आक्रोश, संघर्ष, नकार, विद्रोह, अतीत की स्थापित मान्यताओं से है। वर्तमान के छद्म से है। लेकिन मुख्य लक्ष्य जीवन में घृणा की जगह प्रेम, समता, बंधुता, मानवीय मूल्यों का संचार कर समाज में बदलाव की प्रक्रिया को तीव्र करना है ताकि एक बेहतर समाज की परिकल्पना साकार हो सके।

संदर्भ

1. कंवल भारती, *अंगुत्तर,* अक्तूबर–दिसंबर, 1994, पृष्ठ 27
2. कमलेश्वर, *दलित साहित्यः सम्यक क्रांति की आवाज,* औरंगाबाद (1978) में हुए तृतीय दलित साहित्य सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण